शिक्षा-मनोविज्ञान की रूपरेखा

[मूल लेखक—जेम्स एस० रौस]

Hindi Edition of

Groundwork of Educational Psychology

[James S. Ross]

अनुवादक

एम० एल० जैन

प्राध्यापक, किशोरीरमण ट्रेनिंग कॉलिज, मथुरा

द्वितीय संशोधित संस्करण

शिवलाल अग्रवाल एण्ड कम्पनी प्रा. लि.

पुस्तक - प्रकाशक एवम् विक्रेता, आगरा ।

प्रकाशक :
शिवलाल अग्रवाल एण्ड कम्पनी प्राइवेट लिमिटेड
हॉस्पिटल रोड, आगरा।

द्वितीय संशोधित हिन्दी संस्करण : १९५९

मूल्य : पाँच रुपया

मुद्रक :
महावीर प्रेस,
किनारी बाजार, आगरा।

दो शब्द

प्रस्तुत पुस्तक अँग्रेजी के एक प्रसिद्ध ग्रन्थ Groundwork of Educational Psychology by J. S. Ross का हिन्दी रूपान्तर है। हिन्दी में मनोविज्ञान पर पुस्तकों की बहुत कमी है। आशा है कि यह पुस्तक इस कमी को दूर करने में कुछ अंश तक सहायक होगी।

पर्यायवाची शब्दों के मिलने की हिन्दी में अत्यन्त कठिनाई है। अतएव बहुत-से नवीन शब्दों का निर्माण करना अनिवार्य हो गया है। अनेक शब्द सामान्यतः प्रचलित न होने के कारण नवीन प्रतीत हो सकते हैं। शब्दों के प्रचलित होने तथा उनसे अभ्यस्त होने के साथ-साथ यह कठिनाई समय बीतने पर ही दूर होगी। तब कदाचित इस बात की आवश्यकता नहीं रह जायगी कि हिन्दी पारिभाषिक शब्दों के साथ उनके साथ अँग्रेजी पर्याय भी दिये जायँ। परन्तु विद्यार्थियों की व्यावहारिक कठिनाइयों का ध्यान रखते हुए पुस्तक में प्रयुक्त सभी हिन्दी पारिभाषिक शब्दों के साथ कोष्ठकों में उनके अँग्रेजी पर्याय देना आवश्यक समझा गया है।

पुस्तक की भाषा यथासाध्य सरल, सरस और सुबोध रखने का प्रयत्न किया गया है। अनेक स्थलों पर विदेशी उदाहरणों के स्थान पर देशी उदाहरण दे दिये गये हैं। आशा है सहृदय पाठकों को यह रुचिकर होगा।

—अनुवादक

द्वितीय आवृत्ति के सम्बन्ध में निवेदन

पुस्तक को अधिक बोधगम्य बनाने की दृष्टि से भाषा तथा पारिभाषिक शब्दावली में यथेष्ठ परिवर्तन कर दिया गया है। कोष्ठकों में अँग्रेजी शब्द भी अधिक संख्या में दे दिये गये हैं। आशा है कि पुस्तक का यह नवीन रूप अधिक उपयोगी सिद्ध होगा।

—अनुवादक

विषय-सूची

मनोविज्ञान और शिक्षा

(Psychology and Education)

स्विटजरलैंड-निवासी अध्यापक पेस्टेलौजी (Pestalozzi) का स्वर्गवास हुए एक शताब्दी से अधिक काल हो गया। यह शिक्षा-क्षेत्र में मुख्य अग्रदूत थे, और इनके जीवन-कार्य का प्रधान ध्येय था शिक्षा और शिक्षण को मनोवैज्ञानिक रूप देना। कदाचित् वह आज पृथ्वी पर जन्म ले लें तो इस ओर जो प्रगति हुई है उससे वह सन्तुष्ट होंगे, क्योंकि उनके समय से शिक्षा-मनोविज्ञानवेत्ता उनके दिखाये हुए मार्ग पर तीव्र गति से बराबर बढ़ते चले जा रहे है। निस्सन्देह पेस्टेलौज़ी से पूर्व इने-गिने प्रबुद्ध विचारक थे, जिनके मस्तिष्क में शिक्षा को मनोवैज्ञानिक रूप देने का मन्द विचार था। उदाहरण के लिए, रोमन शिक्षा-शास्त्री क्विंटिलियन (Quintilian) वक्ताओ के शिक्षण में कुछ अंश तक अपने शिष्यों की प्राकृतिक दाय (endowment) की ओर ध्यान देता था। फिर, टामस फ़ुलर (Thomas Fuller) ने अपनी पुस्तक 'पवित्र राज्य और दूषित राज्य' में उत्तम अध्यापक का आवश्यक गुण यह बताया था कि "वह अपने छात्रों की प्रकृति को उतनी ही सावधानी से अध्ययन करता है जितनी वह अपनी पुस्तकों को।" परन्तु पेस्टेलौज़ी ने सर्व प्रथम इस बात पर बल दिया कि शिक्षक का प्रमुख कर्तव्य है कि वह शिष्य के मस्तिष्क का अध्ययन करे, तथा शिक्षा की कला मानसिक प्रक्रियायों (mental processes) के यथार्थ ज्ञान पर

आधारित होनी चाहिए। वर्त्तमान समय में यह सब बिलकुल स्पष्ट प्रतीत होता है; परन्तु थोड़ा ही काल हुआ जब किसी विषय का पांडित्यपूर्ण ज्ञान ही अध्यापन कार्य के लिए पर्याप्त साधन समझा जाता था। अतएव इस तथ्य पर बल देना अनुपयुक्त न होगा कि अध्यापक को अपने शिष्य और अपने विषय दोनों को ही जानना आवश्यक है। सर जॉन आदम्स (Sir John Adams) ने कहा है कि "शिक्षण की क्रियाओं में दो कर्म होते हैं, एक मनुष्य का और दूसरा वस्तु का।" (Verbs of teaching govern two accusatives, one of the person, another of the thing; as 'The master taught John Latin') हमारे समय के इस प्रसिद्ध शिक्षा-विशारद ने अपने लम्बे जीवन में निरन्तर इस बात पर आग्रह किया है कि जॉन को लैटिन भाषा पढ़ाने के लिए लैटिन और जॉन दोनों का ज्ञान आवश्यक है; (The teacher must know both Latin and John in order to teach them.) परन्तु जॉन का ज्ञान मनोविज्ञान है, अतएव अध्यापक के लिए मनोविज्ञान का अध्ययन अनिवार्य है।

परन्तु आगे बढ़ने से पहले हमको यह विचार करना है कि अध्यापक को किस प्रकार के मनोविज्ञान का अध्ययन करना चाहिए। अनेक उत्साही अध्यापक मानसिक प्रक्रियाओं के यथार्थ अध्ययन की आवश्यकता अनुभव करते हुए इस विषय की उच्च-कोटि की पुस्तकों का मनन करते हैं और अन्त में शिक्षा-कला के लिए उन्हें अनुपयोगी अनुभव करके निराश हो जाते हैं। ऐसे अध्यापक इस निष्कर्ष पर पहुँच सकते हैं कि शिक्षा का मनोवैज्ञानिक आधार भ्रम-मात्र है, और वे कभी-कभी नये अध्यापकों से यहाँ तक कह बैठते हैं कि प्रशिक्षण विद्यालयों (training colleges) में जो मनोविज्ञान उन्होंने सीखा है वे उसे एकदम

भूल जायें, जब कि ऐसे विद्यालयों के सम्भ्रान्त अधिकारी वर्ग उसे परम आवश्यक विषय समझते हैं। परन्तु विषय की परिभाषा तथा क्षेत्र के थोड़े से निरूपण से उनकी राय और पेस्टेलौज़ी के मत में भेद का कारण मालूम हो सकता है। अंग्रेजी शब्द psychology (= मनोविज्ञान) का शाब्दिक अर्थ 'आत्मा का विज्ञान' है, किन्तु यह परिभाषा नितान्त अस्पष्ट है, क्योंकि यह बताना कठिन है कि "आत्मा क्या है?" परन्तु यदि मनोविज्ञान (psychology) को मन-का-विज्ञान कहें, तो भी मन के स्वभाव तथा द्रव्य (matter) तथा मन (mind) के भेद के सम्बन्ध में अनेक प्रश्न उठते हैं जिनका उत्तर देना सरल नहीं है। विनोदी से जब पूछा गया कि "मन क्या है?" तो उसने उत्तर दिया "द्रव्य नहीं।" इस प्रश्न के उत्तर में कि "द्रव्य क्या है?" जवाब मिला "जो मन न हो।" ये उत्तर वास्तव में उन विकट समस्याओं की ओर हमारा ध्यान आकर्षित करते हैं और उनके विषय में हमारी अज्ञानता प्रकट करते हैं। फिर भी, जैसा हम आगे चलकर देखेंगे, मनोविज्ञान प्राप्त करने के लिए हमको मन के विषय में कुछ साहसिक पूर्वकल्पनाएँ (postulates) स्थापित करनी होंगी।

हम से पहले की पीढ़ी के मनोवैज्ञानिक ने विचार करके कि उसका विषय-निरूपण अस्पष्ट आध्यात्मिक वादविवाद के आधार पर न होना चाहिए और यह प्रश्न उठा कर कि मन के क्षेत्र में किस बात का उसे निश्चय ज्ञान है, वह इस निष्कर्ष पर पहुँचा कि यह अवश्य ही ध्रुव सत्य है कि मैं स्वयं विचार करता हूँ, (think) अनुभूति (feel) करता हूँ, इच्छा करता (desire) हूँ और संकल्प (will) करता हूँ। दूसरे शब्दों में यह कहना होगा कि स्वयं मुझ में चेतनता की कुछ दशाएँ अथवा भव की रीतियाँ हैं जिनका परीक्षण अपने मन के आन्तरिक अवलोकन

की प्रक्रिया से हो सकता है, अर्थात् अन्तर्दर्शन या अंतःप्रेक्षण (introspection) द्वारा। परन्तु अंतःप्रेक्षण के मनोवैज्ञानिकों ने स्वयं स्वीकार कर लिया कि उनका कार्य शिक्षा के क्षेत्र में मूल्य नहीं रखता। आचार्य जेम्स (James) शिक्षकों से कहा करते थे कि मनोविज्ञान के केवल प्रारम्भिक प्रत्यय या बोधन (conceptions) ही उनके लिए वास्तविक मूल्य रखते हैं।[1] परन्तु स्टाउट (Stout) ने सावधानी से किन्तु अधिक आशा के साथ कहा कि, "मुख्य सिद्धान्त, जो शिक्षा-सिद्धान्त के लिए मनोविज्ञान की देन है और जो उसका प्रस्थान-बिन्दु है, यह आवश्यकता है कि नवीन ज्ञान का समस्त वितरण पूर्व ज्ञान का विकास होना चाहिए।"[2]

फिर क्या पेस्टेलौज़ी के लिए शिक्षा के मनोविज्ञान की आशा आकाश-कुसुम के समान थी? वास्तव में जिस मनोविज्ञान की चर्चा यहाँ चल रही है वह शिक्षा के क्षेत्र में कोई मूल्य नहीं रखता, क्योंकि हमको बुद्धिमान् प्रौढ़ की नहीं, वरन् आवेगशील बालक के मनोविज्ञान की आवश्यकता है। क्या यह प्रौढ़ मनुष्य के अंतर्निरीक्षण-सम्बन्धी मनोविज्ञान द्वारा प्राप्त किया जा सकता है? कदाचित् हम सोच लें कि बालक और प्रौढ़ की मानसिक क्रियाओं में केवल छोटी और बड़ी का अन्तर है, और इस प्रकार बाल-मनोविज्ञान प्रौढ़-मनोविज्ञान के छोटे रूप में मिल सकता है। परन्तु यह धारणा निर्मूल है, क्योंकि इसका आधार यह है कि बालक वास्तव में लघु प्रौढ़ है। कई कारणों से यह धारणा योरुप में उत्तर माध्यमिक काल में प्रचलित थी। वहाँ के पुराने चित्रों से मालूम होता है कि बच्चों का पहनावा बड़ों की भाँति ही था; यह आशा की जाती थी कि बच्चों के आचार-व्यवहार उतने ही

---

1 Talks to Teachets on Psychology, P. 7.
2 Analytic Prychology, Vol. ii, PP. 137-138.

ऊँचे स्तर पर होने चाहिए जितने बड़ों के, और बच्चों से यह भी आशा की जाती थी कि उनकी पापी आत्माओं के लिए धार्मिक क्रियाएँ और नियम भी बड़ों की भाँति ही होने आवश्यक हैं। उन्नीसवीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध के साहित्य में भी यही मत मिलता है। यह कथन कि "बालक एक लघु मनुष्य है" लगभग उतना ही ठीक है जितना कि यह कहना कि भेक-शिशु (tadpole) मेंढ़क का छोटा नमूना है, अथवा डिम्भ (grub) छोटी तितली है। वास्तव में भेक-शिशु मेंढक का छोटा प्रतिरूप नहीं है वरन् भविष्य में बनने वाला मेंढ़क है। इसी प्रकार यह जानना बहुत आवश्यक है कि बालक भी भविष्य में मनुष्य बन जायगा, परन्तु वह मनुष्य का छोटा नमूना नहीं है।[1]

इस विवेचन से पता लगता है कि अनेक उच्च कोटि के व्यवहारशील अध्यापक मनोविज्ञान के प्रति इतने उदासीन क्यों रहे। कुछ काल पहले जो अध्यापक अपने अध्यापन कार्य के लिए मूल सिद्धान्त का एक आधार चाहते थे, उन्हें जो अधिकांश मनोविज्ञान प्राप्त था केवल अंतःप्रेक्षण-मूलक अध्ययन था जिसको विचारशील प्रौढ़ दार्शनिकों ने लिखा था। जब यह बच्चों पर लागू किया गया तो बड़े विचित्र फल मिले जो वास्तविकता से दूर थे। ऐसे अध्यापकों ने, यह मानते हुए कि उनकी सफलता जॉन और लैटिन दोनों के ज्ञान पर आधारित है, यह ठीक ही निश्चय किया कि उनका निजी अनुभव पुस्तकों के सिद्धान्तों की अपेक्षा अधिक उत्तम आधार है। परन्तु प्रत्येक अध्यापक जो अपने शिष्य को जानता है वास्तव में उस सीमा तक मनोवैज्ञानिक है जहाँ तक कि उसका ज्ञान यथार्थ है और दूसरे शिष्यों पर लागू है। वास्तव में वे सब मनुष्य जो अन्य मनुष्यों के प्रति सफलतापूर्वक व्यवहार करते हैं मनोवैज्ञानिक कहे जा सकते हैं। चतुर

1 See Adams, Primer on Teaching, P. 8.

नीलाम करने वाला जो सौदा करने वालों की संग्राहक मनोवृत्ति को निपुणता पूर्वक समझता है, कुशल विक्रेता जो ग्राहक को पटा लेता है और जिसका ग्राहक सन्तोष और रिक्त जेब से लौटता है, निपुण वक्ता जो काले को सफेद करके दिखाता है तथा अपने श्रोताओं का विश्वास प्राप्त कर लेता है, और उपदेशक जो श्रद्धालुओं को ऊँचे प्रयत्नों की ओर ले जाता है. सभी अभ्यास करने वाले वास्तविक मनोवैज्ञानिक हैं, यद्यपि इस शब्द के वैज्ञानिक अर्थ में नहीं। अध्यापक, जो मानता है कि उसकी प्रभावशीलता उसके बाल-प्रकृति के ज्ञान पर निर्भर है, तुरन्त यह भी जान लेगा कि दूसरों का अनुभव उसके लिए लाभदायक सिद्ध हो सकता है और शिक्षा के क्षेत्र में अन्य कार्यकर्त्ताओं के साथ विचार-विनिमय से वह बहुत कुछ सीख सकता है। जब अध्यापक अपने बाल-ज्ञान का आदान-प्रदान करते हैं और अपने अनुभवों को एकत्र करते हैं, तो हमको विश्वसनीय बाल-मनोविज्ञान का आधार मिलता है, क्योंकि हम प्राकृतिक इतिहास के प्रक्रम (stage) पर होते हैं जो किसी भी विज्ञान के विकास के लिए परम आवश्यक है। बाल-अध्ययन आन्दोलन ने कुछ-कुछ ऐसा ही प्रयास किया और उसने सामग्री अभिभावक, अध्यापक और बालकों के साथ काम करने वाले अन्य लोगों से ली। वह बहुत-सा उपयोगी ज्ञान प्राप्त करने में और अनेक सामान्य नियम बनाने में सफल हुआ। किन्तु इसका स्थायी मूल्य आशा से कम हुआ, क्योंकि निरीक्षकों में वैज्ञानिक शिक्षण की कमी थी।

अतएव, पेस्टेलौज़ी की महत्वाकांक्षा अंतःप्रेक्षित मनोविज्ञान का पुनः सम्पादन करने से पूर्ण नहीं हो सकती, और न व्यस्त व्यावहारिक अध्यापक स्वयं शिक्षा के वांछित वैज्ञानिक आधार को पूरा कर सकते हैं। फिर भी, बीसवीं शताब्दी के आरम्भ से मनोविज्ञान का ज्ञान इतना बढ़ता जा रहा है कि इससे पूर्ण आशा होती

है कि शिक्षा के मूल सिद्धान्त की एक सुन्दर पृष्ठभूमि मिल जायगी। आज का मनोवैज्ञानिक अपने विषय को व्यावहारिक दृष्टि से अधिक देखता है और दार्शनिक दृष्टि से कम, और एक निश्चित यद्यपि धीमी व क्रमिक उन्नति हो रही है। वह अपने से सीधा प्रश्न पूछता है, "मेरी ऊहापोह का वास्तविक उद्देश्य क्या है ?" और इस निष्कर्ष पर पहुँचता है कि उसका अन्तिम ध्येय मुख्यतः यह नहीं है कि वह स्वयं अपनी चेतन दशाओं को एक दार्शनिक रूप दे जिनका सम्बन्ध वास्तविक जीवन से बिलकुल न हो, वरन् उसका उद्देश्य जीवित प्राणियों के व्यवहार का निरूपण है। यदि हम एक क्षण के लिए विचार करें, तो हमको मालूम हो जायगा कि मनुष्य की चेतन दशाओं का अध्ययन अपने निजी अनुभव के परीक्षण तक सीमित रहना चाहिए, परन्तु उसके व्यवहार सम्बन्धी अध्ययन में कोई भी जीव सम्मिलित किया जा सकता है जो व्यवहार करता है। मैं आपकी चेतन दशाओं को सीधे अध्ययन नहीं कर सकता हूँ, और न आप मेरी; परन्तु हम दोनों में से प्रत्येक दूसरे के व्यवहार का अध्ययन कर सकते हैं। एक स्पष्ट उदाहरण लीजिए। यदि आप क्रोधित हैं तो मैं आपके क्रोध का अध्ययन नहीं कर सकता हूँ। मैं आपकी आँखों में चमक तमतमाता चेहरा और बँधी हुई मुट्ठियाँ देखता हूँ, और यह निश्चित करने के लिए कि आप क्रोधित हैं मुझे अधिक मनोविज्ञान की आवश्यकता नहीं है। परन्तु जिस वस्तु का मैं प्रत्यक्ष अध्ययन कर रहा हूँ वह वास्तव में आपका क्रोध नहीं है वरन् आपका क्रुद्ध व्यवहार है। मेरे इस निर्णय के आधार क्या हैं कि आप क्रुद्ध हैं जब मैं आपको इस प्रकार व्यवहार करते हुए देखता हूँ ? मेरा आधार केवल यह है कि मैं विश्वास करता हूँ कि आप मेरे ही समान एक व्यक्ति हैं। मैं जानता हूँ कि जब मैं क्रोधित होता हूँ तो मैं इसी प्रकार अथवा लगभग इसी प्रकार व्यवहार करने की चेष्टाकरता

हूँ; और जब मैं आपको उस प्रकार आचरण करते हुए देखता हूँ तो मैं भी इस निष्कर्ष पर पहुँचता हूँ कि आप क्रुद्ध हैं। अतएव यह स्पष्ट है कि मनुष्य को उपयोगी मनोविज्ञान प्राप्त करने के लिए अपने निजी अनुभव के परीक्षण से परे जाना चाहिए और व्यवहार का अध्ययन करना चाहिए, और फिर समानता द्वारा अपनी निजी मानसिक दशाओं के सम्बन्ध में उसको समझना चाहिए। इस प्रकार मनोविज्ञान मानसिक अथवा मनमूलक दृष्टि से व्यवहार का निरूपण और समाधान है; जैसा कि डा० जेम्स ड्रैवर (James Drever) ने कहा है, "मनोविज्ञान वह विज्ञान है जो जीवों के व्यवहार का अर्थ मनमूलक अथवा मानसिक दृष्टि से बताता है जहाँ तक कि वह मानसिक रूप से प्रसीमित है।"[1] यह ध्यान देने योग्य है कि यहाँ व्यवहार के पीछे और उस पर नियन्त्रण रखते हुए मन की एक प्रारम्भिक परिकल्पना या पूर्वकल्पना (hypothesis) है। मन के अस्तित्व का सबसे अधिक विश्वसनीय प्रमाण यह है कि हम अपने भीतर की ओर देखकर स्वयं अपनी चेतन दशाओं का निरीक्षण कर सकते हैं। फिर भी, व्यवहारवादियों (behaviourists) का एक नवीन सम्प्रदाय है जो व्यवहार का निरूपण बिना किसी मानसिक कल्पना के करते हैं और उनका विश्वास है कि रसायन-शास्त्र और भौतिक-शास्त्र के नियम इस ओर यथेष्ट होंगे। उनके इस मत को बहुत कम लोग मानते हैं, और विद्वान् निर्णायकों की दृष्टि में उनके परिश्रम का फल मनोविज्ञान नहीं है, कुछ और भले ही हो।

व्यवहार का यह नवीन मनोविज्ञान शिक्षक के लिए अत्यन्त उपयोगी है। शिक्षा के उद्देश्य के विषय में अनेक भिन्न-भिन्न मत भले ही हों, परन्तु सभी शिक्षक सहमत हैं कि एक विशेष उद्देश्य को लेकर वे व्यवहार का और उसको प्रभावित करने वाली

1 An Introduction to the Psychology of Education, P. xi.

वस्तुओं का रूपान्तर करते हैं। यदि मनोविज्ञान, जो व्यवहार का अध्ययन और विवेचन है, इस काम में सहायता नहीं दे सकता तो वह वास्तव में निरर्थक है। परन्तु वह निरर्थक नहीं है; पैस्टोलौज़ी ठीक कहता था, और उसका दूरवर्ती लक्ष्य हमारे समय में पूरा होता दिखाई देता है। अध्यापक का सम्बन्ध मुख्यतः व्यवहार के रूपान्तर अर्थात् परिष्करण (modification) से है, और उसको नवीन मनोविज्ञान से अमूल्य सहायता मिल रही है। शिक्षा-सिद्धान्त और मनोविज्ञान दोनों साथ-साथ उन्नति कर रहे हैं। व्यावहारिक कठिनाइयों के लिए अध्यापक मनोविज्ञान की सहायता लेता है, परन्तु साथ ही साथ वह मनोवैज्ञानिक के सामने नयी समस्याएँ रखता है, और इस प्रकार वह इस विज्ञान की उन्नति में सहायक है। सन् १९१२ में ब्रिटिश एसोसिएशन के शिक्षा-विज्ञान विभाग के सभापति के पद से सर जॉन आदम्स (Sir John Adams) ने कहा था कि शिक्षा ने मनोविज्ञान को बाँध लिया है। कदाचित् यह अतिशयोक्ति है जब तक कि हम शिक्षा का अर्थ अत्यन्त विस्तृत समझ कर जीवन ही न मान लें। परन्तु यह कहना सत्य है कि आधुनिक काल की बहुत सी मनोवैज्ञानिक खोजें शिक्षा के हेतु की जा रही हैं, और जीवन के प्रति मनोवैज्ञानिक सिद्धान्तों की उपयोगिता को जाँचने के लिए सबसे अच्छा स्थान पाठशाला है।

अतएव आधुनिक शिक्षा-सम्बन्धी सिद्धान्त में मनोविज्ञान का प्रमुख स्थान है, और इसकी देन का मूल्यांकन सहज में नहीं किया जा सकता। परन्तु इतना होते हुए भी वह सीमित है, क्योंकि शिक्षा में अनेक प्रश्न ऐसे हैं जिनका निर्णय वह नहीं कर सकता। ये प्रश्न शिक्षा के उद्देश्य से सम्बन्धित हैं। मनोविज्ञान का सम्बन्ध उद्देश्यों से नहीं है; यह अस्ति विज्ञान (positive science) है न कि आदर्शवादी (normative) विज्ञान अर्थात्

यह उन तथ्यों का विवेचन करता है जैसे कि वे हैं, न कि जैसा उनको होना चाहिए। एक मनोवैज्ञानिक का कार्य व्यवहार का केवल अध्ययन करना है न कि उसे प्रभावित करना अथवा उन्नत करना। उसका कार्य व्यवहार के नैतिक मूल्य का आँकना नहीं है, और उसके लिए उसके अत्यन्त दूषित रूप भी उतने ही रोचक और महत्वपूर्ण हैं जितने कि उसके सर्वोच्च रूप। वास्तव में, इस विषय पर अनेक आधुनिक पुस्तकों के अवलोकन से हम इस निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि इनमें से पहले अधिक रोचक और आवश्यक हैं। परन्तु शिक्षा का घनिष्ट सम्बन्ध लक्ष्य, आदर्श, माप दण्ड और मूल्यांकन से है, और ये सब स्वयं शुद्ध मनोविज्ञान की परिधि से परे हैं। शिक्षक को क्या करना चाहिए, यह दर्शन का विषय है न कि मनोविज्ञान का। इस प्रकार शिक्षा को हम व्यावहारिक (applied) मनोविज्ञान नहीं कह सकते, और न हम पाठशाला को केवल मनोवैज्ञानिक प्रयोगशाला के रूप में ही समझ सकते हैं।

यद्यपि मनोविज्ञान शिक्षा का उद्देश्य निर्धारित नहीं कर सकता है, परन्तु विश्वसनीय मनोविज्ञान हमको तुरन्त बता देगा कि कोई उद्देश्य केवल मन की उड़ान है अथवा वह प्राप्त किया जा सकता है। मूर्ख शिक्षक अपने शिष्य के स्व-स्थापन (self-assertion) की मूलप्रवृत्ति को नष्ट करने का ध्येय निर्धारित कर सकता है, लेकिन मनोविज्ञान उसे बतायेगा कि यह असम्भव है, क्योंकि मूलप्रवृत्तियाँ भले ही अवांछनीय हों परन्तु इस प्रकार उनको समाप्त नहीं किया जा सकता। सर टी० पर्सी नन (Sir T. Percy Nunn) ने शिक्षा का उद्देश्य व्यक्तित्व का विकास बताया है, और इसको यह दरसाया है कि यह मनोविज्ञान की दृष्टि से सम्भव है, और उसने बड़े-बड़े मनोवैज्ञानिक तर्क दिये हैं कि ऐसी ही शिक्षा 'प्रकृति के अनुरूप' है। हाल में ही डा० जेम्स

ड्रैवर (Dr. James Drever) ने यह तर्क दिया है कि शिक्षा का उद्देश्य पूरा करने के लिए मनोविज्ञान इतना तय करके समाप्त नहीं हो जाता है कि यह सम्भव है अथवा असम्भव।[1] वह बतलाता है कि मनोविज्ञान की सहायता के बिना शिक्षक नहीं जान सकता कि उसे अपने उद्देश्य में सफलता मिली अथवा नहीं। यह कहना स्पष्ट तथ्य है।कि पहले इसके कि कोई शिक्षक अपने निष्कर्षों से सन्तुष्ट हो, उसको जानना चाहिए कि ये निष्कर्ष वास्तव में हैं क्या; परन्तु यहाँ एक वास्तविक कठिनाई है। प्रत्येक शिक्षक अपने निरीक्षण द्वारा अवश्य ही जान सकता है कि वह व्यवहार का रूपान्तर अपनी इच्छानुसार कर पाया या नहीं, परन्तु कोई शिक्षक केवल व्यवहार के बदलने से ही सन्तुष्ट नहीं हो सकता। वास्तविक शिक्षक आचरण के भीतरी स्रोतों को परिवर्तित करता है जो उस व्यवहार को नियंत्रित करते हैं, क्योंकि व्यवहार तो नियमबद्ध किया ही जा सकता है भले ही उसके प्रेरक असन्तोषजनक हों। ये प्रेरक सुगमता से नहीं ज्ञात किये जा सकते; और अपने छात्र के व्यवहार का मूल्यांकन करने के लिए और यह ज्ञात करने के लिए कि उसके प्रेरक उचित हैं अथवा नहीं, शिक्षक को मनोविज्ञान की सहायता लेनी पड़ेगी। बिना उसकी सहायता के वह नहीं मालूम कर सकता कि चरित्र तथा आचरण (character and conduct) दोनों को प्रभावित करने में उसे सफलता मिली अथवा नहीं।

इस प्रकार हमने देखा कि यद्यपि मनोविज्ञान शिक्षा के उद्देश्य को निर्धारित नहीं कर सकता, परन्तु वह यह अवश्य बता सकता है कि वह लक्ष्य कहाँ तक व्यवहार्य है और हमको अपने परिणामों का मूल्यांकन करने में सहायक हो सकता है। परन्तु अपने उद्देश्य की प्राप्ति की प्रक्रिया (process) में शिक्षक के लिए मनोविज्ञान सब से अधिक महत्त्वपूर्ण है। यद्यपि शिक्षा का लक्ष्य

1 The Evolution of Educational Theory, Chapter I.

मनोविज्ञान के क्षेत्र से परे है, किन्तु साधन उसके अत्यन्त महत्त्वपूर्ण व्यवहरण (applications) है।। उस शिक्षक को मनोविज्ञान की शरण लेनी पड़ेगी जिसके सामने शिक्षा का एक निश्चित ध्येय है और जो सम्भव है, यह ज्ञात करने के लिए कि न्यूनतम प्रयत्न व प्रमाद प्रक्रिया (trial and error process) के साथ लक्ष्य की पूर्ति किस प्रकार हो सकती है। मनोविज्ञान हमको शिक्षा का एक दर्शन नही देता, वरन् वह शिक्षा के विज्ञान के लिए सामग्री देता है। आदम्स (Adams)[1] ने शिक्षा के साधन दो बतलाये है—(क) छात्र के व्यक्तित्व पर शिक्षक के व्यक्तित्व का सीधा व्यवहरण, (ख) ज्ञान का उपयोग उसके भिन्न-भिन्न रूपो मे। वास्तविक अध्यापक अथवा भावी अध्यापक प्रथम तो मनोविज्ञान मे आशा करेगा कि वह शिक्षा की इस द्विध्रुवीय (bipolar) प्रक्रिया मे शिक्षक और छात्र की प्रकृति पर प्रकाश डाले। उसकी आशा उचित होगी कि चूँकि उसका कार्य दूसरों को प्रभावित करना है, उसका मनोविज्ञान का अध्ययन उसे स्वयं अपने को समझने मे सहायक होगा। वह मनोविज्ञान से यह भी आशा करेगा कि वह उसे निम्न बातें बताये—बच्चे की सहज दाय (endowment), उसके विकास के नियम, उसके मस्तिष्क की सदा बढने वाली जटिलता, वातावरण का प्रभाव, और सर्वोपरि, चरित्र का निर्माण। उसको पूर्ण निराशा न होगी यदि इन बातो के लिए वह मेकडूगल, नन आदि अनेको ग्रन्थो का अवलोकन करे। और अनेक मनोविश्लेपणवादियो की पुस्तको का मनन करे। दूसरे, अध्यापक मनोविज्ञान से यह सीखने की आशा करेगा कि किस प्रकार एक व्यक्ति दूसरे को प्रभावित करता है, किस प्रकार समूह-जीवन व्यक्ति को परिवर्तित करता है, किस प्रकार पाठशाला का साघिक जीवन बालक के विकास मे सहायक होता है। इन

---

1 The Evolution of Educational Theory, Chapter 1.

बिंदुओं पर ज्ञान प्राप्त करने के लिए अभी हाल में समूह-मनोविज्ञान पर कई पुस्तकें लिखी गई है। तीसरे, शिक्षण के प्राचीन कौशल में अवश्य ही वह पथ-प्रदर्शन की आशा करेगा; वह यह जानना चाहेगा कि क्या मनोविज्ञान उसको यह बता सकता है कि ज्ञान-राशियाँ किस प्रकार बनती हैं, किस प्रकार नवीन ज्ञान मन में प्रविष्ट करता है, हम किस प्रकार विचार करते हैं, और हम किस प्रकार तर्क करते हैं। लगभग एक शताब्दी तक हरबार्ट (Herbart) का प्रसिद्ध मनोविज्ञान इस उद्देश्य की पूर्ति करता रहा और पीछे के लेखकों ने अनेक दिशाओं में इस महान् पथ-प्रदर्शक का अनुकरण किया और उसको आगे बढ़ाया।

शिक्षा का विद्यार्थी किस प्रकार मनोविज्ञान का ज्ञान प्राप्त कर सकता है? इस प्रश्न के पूछने पर हम मनोवैज्ञानिक अध्ययन की मुख्य पद्धतियों का संक्षेप में परीक्षण करेंगे। जैसा कि सभी विज्ञानों में होता है, सामग्री (data उपादान), निरीक्षण (observation) और प्रयोग (experiment) की विस्तृत रीतियों से प्राप्त होती है। दोनों में अन्तर यह है कि प्रयोग में हम स्थितियों पर नियन्त्रण रखते हैं, जब कि निरीक्षण में हम ऐसा नहीं कर सकते। मनोविज्ञान में निरीक्षण की परम्परागत विधि, जैसा हम देख चुके है, अंतःप्रेक्षण या अंत-र्निरीक्षण (introspection) है। इस विधि को ब्रिटिश मनोविज्ञान के संस्थापक लॉक (Locke) के नाम के साथ सदा सम्बन्धित किया जाता है। उसने इसकी परिभाषा इस प्रकार बतलाई थी—"आलोकन (notice) जो मन अपनी क्रियाओं के सम्बन्ध में करता है।" प्रथम विचार में ऐसा प्रतीत होता है कि अंतःप्रेक्षण की विधि से कई लाभ हैं—मनोवैज्ञानिक का मन स्वयं उसकी प्रयोगशाला है, और क्योंकि वह सदा उसके पास है वह स्वेच्छानुसार निरी-

क्षण कर सकता है; इसके लिए किसी मूल्यवान् उपकरण अथवा सामग्री की आवश्यकता नही है, क्योंकि यह स्वय उसका ही मन है। परन्तु इसमे कई हानियाँ भी हैं। प्रेक्षक और प्रेक्षित दोनो एक ही हैं, क्योकि मन परीक्षण का स्थान तथा साधन दोनो है। फिर, भौतिक विज्ञान मे यह प्राय. लाभप्रद होता है कि उपादान (data सामग्री) बहुत हो, परन्तु अंत प्रेक्षण में दुर्भाग्यवश यह सत्य है कि जितना अधिक उपादान निरीक्षण के लिए है उतनी ही कम शक्ति उसे देखने की है। उदाहरण के लिए, मै अत्यन्त क्रुद्ध हो सकता हूं, अथवा मै गणित की किसी समस्या के सुलझाने मे संलग्न हो सकता हूँ; इस प्रकार क्रोध के संवेग पर मनोवैज्ञानिक निरीक्षण अथवा तार्किक प्रक्रिया के लिए मेरे पास यथेष्ट सामग्री है। परन्तु जब कभी भी मै ऐसा करने का प्रयत्न करता हूँ मेरा क्रोध कम हो जाता है अथवा मै कम ध्यानावस्थित हो जाता हूं और इस प्रकार मेरी सामग्री मुझ से दूर भाग जाती है। किसी मानसिक दशा पर ध्यान सदा ही उस दशा की स्थिति को बदल देता है; इस प्रकार मै यह कभी निश्चित नही कर सकता कि जो सामग्री मुझे अंत.प्रेक्षण मे प्राप्न होती है वह कुछ अंश तक भी उस मानसिक दशा मे सम्वन्धित है जिसका परीक्षण मै कर रहा हूँ। जेम्स ने इस कठिनाई का वर्णन सुन्दर ढंग से इस प्रकार किया है, "अत प्रेक्षण के विश्लेषण का प्रयत्न ऐसा है जैसा कि गैस अत्यन्त शीघ्र जला दी जाय, यह देखने के लिए कि अँधेरा कैसा दिखाई पड़ता है।"[1] यह कठिनाई केवल स्मृति (memory) की सहायता से दूर हो सकती है; हम स्मरण कर के ही वास्तविक दशा को पुन. प्राप्त कर सकते है। फिर, अंतः प्रेक्षण से हमको जंगली मनुष्यो और वृक्षों और मानसिक विकृतो (mentally defectives) के मनो के विषय में कुछ ज्ञात नही

1. The Principles of Pspchology, Vol. I, P. 244.

हो सकता, जब कि इन अविकसित मनों का ज्ञान, विशेषतया शिक्षा-मनोविज्ञान में, अत्यन्त महत्वपूर्ण है। अंतःप्रेक्षण में आत्मगत होने (subjectivity) का भी दोष है। किसी निरीक्षण अथवा प्रयोग को आत्मगत (subjective) कहते है, जब उसके फल प्रेक्षक पर निर्भर रहते है और अन्य प्रेक्षक उनको प्रभावित नहीं कर सकते। यह अंतःप्रेक्षण के विषय में अवश्य ही सत्य है। मनोवैज्ञानिकों ने इस दोष को दूर रखने के लिए वस्तुगत (objective) रीतियाँ सोची है, जहाँ कि वही फल मिलता है चाहे कोई भी अवेक्षण (observation) करे। ये विधियाँ मुख्यत. प्रयोगात्मक मनोविज्ञान के क्षेत्रों में मिलती है,जहाँ मन की विभिन्न शक्तियों के विषय में प्रचुर मात्रा में मूल्यवान संख्यात्मक फल एकत्र किये गये हैं। फिर, अनेक व्यक्तियों पर प्रयोग द्वारा जो गणितमूलक फल प्राप्त हुए हैं, उन्होंने अनेक स्थलों पर यह निश्चय किया है कि दो विरोधी सिद्धान्तों में कौन-सा ठीक है; ऐसी विधियों को हम वस्तुगत (objective) कह सकते है। व्यवहार का निरीक्षण भी वस्तुगत बनाया जा सकता है। दो समान योग्य निरीक्षकों के फल एक-से होने चाहिए; परन्तु मानसिक दृष्टिकोण मे उनका निरूपण अंतःप्रेक्षण पर ही निर्भर है, जिसको मनोविज्ञान का रूप देने के लिए अवश्य मालूम करना होगा। प्रयोगात्मक मनोविज्ञान मे भी विषय का अंत.प्रेक्षण प्रायः अति महत्त्वपूर्ण समझा जाता है। वास्तविकता यह है कि, कुछ दोष होते हुए भी, अंत.प्रेक्षण या अंतर्दर्शन ही मनोविज्ञान की अपरित्याज्य विधि है, क्योंकि मन की दृष्टि से व्यवहार के अंतः-प्रेक्षण में ही मनोवैज्ञानिक का निजी अंतःप्रेक्षण भी निहित है।

परन्तु अब यह स्वीकार कर लिया गया है कि हमारे मानसिक जीवन के वे रूप जिनका अंत.प्रेक्षण हो सकता है व्यवहार को समझाने में यथेष्ट नही है। पूर्ण निरूपण के लिए

मनोवैज्ञानिकों ने मन के विषय मे विभिन्न परिकल्पनाएँ स्थिर की है । इनमें मनोविश्लेषणवादियों (psycho-analysts) की अचेतन (unconscious) तथा मैकडूगल सम्प्रदाय की मानसिक रचना (mental structure) प्रसिद्ध है; और ये, स्वभावत अंत.प्रेक्षण द्वारा नही ज्ञात की जा सकती ।

कदाचित् मनोवैज्ञानिक साधन प्राप्त करने के हेतु शिक्षा के छात्र को मनोविज्ञान की भिन्न-भिन्न शाखाओं को विस्तृत रूप से और तर्कपूर्ण रीतियों से पढ़ना पड़ेगा । परन्तु उसको स्वयं अपने व्यवहार और मानसिक क्रियाओं का निरीक्षण करके तथा स्वयं अपनी बाल्यावस्था के विचार, अनुभूतियों (feelings) और कार्यो को स्मरण करके सदैव अपने ज्ञान को वास्तविक और व्यावहारिक बनाना पड़ेगा । उसके लिए उपादेय होगा कि वह पशुओं और बालकों के व्यवहार का भलीभाँति निरीक्षण करे, विशेषकर व्यक्तिगत बालक, और उसका निरूपण पुस्तकों से प्राप्त किये हुए ज्ञान द्वारा करता रहे, और इस प्रकार वह उस ज्ञान की जाँच करता रहे । उसको प्रायोगिक मनोविज्ञान की विधियों का ज्ञान अपेक्षित है, और इन रीतियों से उसे स्वयं अपनी कक्षा में आने वाली कुछ समस्याओं को प्रयोगात्मक रीति से सुलझाना पड़ेगा । परन्तु कोई अध्यापक, उत्कट अभिलाषा रखते हुए भी, पूर्ण समय के लिए मनोवैज्ञानिक नही हो सकता । उसको मुख्यतया अधिक योग्य अनुसन्धानिकों के परिणामों को स्वीकार करना पड़ेगा, परन्तु उसे अधिकार होगा कि वह उनकी आलोचना कर सके, और उनको अस्वीकार करे यदि एक व्यावहारिक शिक्षक के रूप में वे इन समस्याओं का समाधान नही कर सकते जो उसे प्रति दिन के जीवन में सुलझानी पड़ती हैं । निम्न अध्यायों में इस बात का प्रयत्न किया गया है कि उसके समक्ष

मनोविज्ञान के सिद्धान्त की रूपरेखा रखी जाय जो उसके गुरुतर कार्य में उसकी सहायता करे।

विशेष अध्ययन के लिए

Adams : Herbartion Psychology Primer on Teaching.

Rusk : Experimental Education, chapter i.

Welton : The Psycholygy of Education, chapter i.

Drever : Introduction to the Psychology of Education, chapter i.

McDougall : An outline of Psychology, chapter i. An Introduction to Social .Psychology (17th edition), chapter i.

Sandiford : Educational Psychology, Introduction.

Stout : A Manual of Psychology, chapter i. The Groundwork of Psychology, chapter ii.

Hoffding : Outlines of Psychology, chapter i.

: २ :

प्रारम्भिक परिकल्पनाएँ

(Fundamental Hypotheses)

पिछले अध्याय में यह बतलाया गया था कि मनोवैज्ञानिक का मुख्य कार्य व्यवहार का अध्ययन है जहाँ तक कि वह मानसिक रूप से प्रसीमित है, तथा मन की दृष्टि से उसका निरूपण करना है। परन्तु जिज्ञासु छात्र विषय के अध्ययन में आगे नहीं बढ़ सकता, जब तक कि उसे 'व्यवहार' (behaviour) और 'मनसम्बन्धी' (psychical) शब्दों के ठीक-ठीक अर्थ न मालूम हो जायें। इस अध्याय में इन प्रारम्भिक कल्पनाओं पर तर्क किया गया है और यह स्पष्ट रूप से बताया गया है कि इससे क्या तात्पर्य है।

किसी विज्ञान के विकास में पहला कदम तथ्यों का निरीक्षण तथा सामग्री या उपादान का संग्रह है; दूसरा कदम इन तथ्यों का वर्गीकरण करना है, या हक्सले (Huxley) के शब्दों में, समान तथ्यों को अलग-अलग बंडलों में बाँधना है। परन्तु तथ्यों के समूह के वैज्ञानिक विश्लेषण में एक और कदम की आवश्यकता है, और वह है उनका विवेचन। ज्ञान के सभी क्षेत्रों में भावी वैज्ञानिक एक ही सामान्य रीति से विवेचन करता है। वह अपने वर्गीकृत परिणामों पर ध्यानपूर्वक विचार करता है, और कभी कठिन परिश्रम से अथवा कभी देदीप्यमान अटकल से, किसी परिकल्पना (hypothesis) अथवा सम्भावित सिद्धान्त को प्राप्त करता है जिसके द्वारा उनका विवेचन सम्भावित है। तब वह

अपनी परिकल्पना को, अपने एकत्रित तथ्यों पर लागू कर के, परीक्षण करता है। यदि वह उन सब तथ्यों को तुरन्त उसके अन्तर्गत ले आता है; यदि वह नवीन ज्ञात तथ्यों को अपने स्थानों पर लगा सकता है; और अन्त में, यदि वह उनसे अनुमान निकालता है जो तथ्यों के रूप में सिद्ध हो जाते हैं, तब अपनी परिकल्पना (hypothesis) की सत्यता में उसका विश्वास पक्का हो जाता है और वह विश्वास करने लगता है कि वह ठीक सिद्धान्त (theory) है। परन्तु यह भलीभाँति समझ लेना चाहिए कि किसी भी परिकल्पना को, चाहे वह कितनी ही आकर्षक क्यों न हो, अस्वीकार कर देना चाहिए, यदि कुछ ऐसे तथ्य ज्ञात हो जाते हैं जिनका विवेचन वह नहीं कर सकती, अथवा यदि वह निरीक्षण और प्रयोग द्वारा सिद्ध नहीं की जा सकती।

एक प्रसिद्ध उदाहरण परिकल्पना की अल्पकालीन प्रकृति को स्पष्ट कर देगा। प्राचीन काल में लोगों ने बहुत शुद्धता से आकाश-पिंडों की गतियों को देखा, और अपने निरीक्षण के आधार पर एक प्रसिद्ध परिकल्पना बनायी। टोलेमी (Ptolemy) ने अपनी 'अलमागेस्ट' (Almagest) नामक पुस्तक में यह सिद्धान्त बताया कि पृथ्वी ठहरी हुई है और समस्त आकाश-पिंड उसके चारों ओर घूमते हैं। पहले यह सरल परिकल्पना तथ्यों के अनुरूप ही ज्ञात होती थी; परन्तु ग्रहों की चाल जैसे अन्य तथ्यों को समझाने के लिए इसमें कुछ संशोधन किये गये और कई आवश्यक परिवर्धन भी। यह ध्यान देने योग्य है कि टोलेमी की परिकल्पना चौदह शताब्दियों तक मान्य रही और इसके द्वारा ज्योतिष-सम्बन्धी घटनाओं के विषय में यथार्थ भविष्यवाणी करना सम्भव होता रहा। परन्तु बाद को ज्योतिषियों ने उसमें नये तथ्यों का समावेश करने के लिए इस सिद्धान्त को इतना विस्तृत कर दिया कि वह

बहुत स्थूल हो गया। तत्पश्चात् कोपर्निकस (Copernicus) ने एक वैकल्पिक परिकल्पना सामने रखी। वह यह थी कि सूर्य और तारागण स्थिर हैं। ग्रह सूर्य के चारों ओर चक्कर काटते हैं, पृथ्वी अपनी कीली पर घूमती है, और चन्द्रमा पृथ्वी के चारों ओर परिक्रमा करता है। यह क्रान्तिकारी परिकल्पना अपनी पूर्व परिकल्पना की अपेक्षा अधिक सरल थी; यह तथ्यों के अधिक अनुरूप थी, और इसलिए पुरानी टोलेमी-की-परिकल्पना इस नवीन परिकल्पना के पक्ष में रद्द कर दी गयी। नये अनुसन्धान इसमें सुगमता से स्थान पाते रहे, और अब हम इसे ही सत्य मानते हैं, यद्यपि इसमें भी परिवर्धन और संशोधन की आवश्यकता पड़ गई है।

मनोविज्ञान के अध्ययन में इन बातों पर ध्यान देने की परम आवश्यकता है क्योंकि अनेक कल्पनाएँ और शब्दावली, जिनका प्रचार बहुत था, केवल परिकल्पनाएँ—अल्पकालीन सिद्धान्त—सिद्ध हुई हैं जो व्यवहार के तथ्यों को आंशिक रूप से ही समझाती हैं और उसका थोड़ा-बहुत सम्बद्ध वर्णन भी करती हैं। इस प्रकार यह न विचार करना चाहिए कि इस पुस्तक में अथवा किसी अन्य पुस्तक में वर्णित कोई भी मनोवैज्ञानिक सिद्धान्त ध्रुव सत्य है और सिद्ध किया हुआ तथ्य है; जैसे-जैसे ज्ञान में वृद्धि होती जायगी यह आवश्यक होगा कि इनमें से कुछ सिद्धांतों को त्याग दिया जाय और अन्य सिद्धान्तों में संशोधन किया जाय। इस सम्बन्ध में मेकडूगल की चेतावनी उचित है। "इन परिकल्पनाओं को निर्माण और प्रयोग करते समय यह जानना महत्त्वपूर्ण है कि हम क्या कर रहे हैं, और आवश्यकतानुसार इनमें संशोधन कर देना चाहिए अथवा इनको त्याग देना चाहिए। यदि हम इस भावना से काम करेंगे, तो परिकल्पनाओं से खोज में बड़ी सहायता

मिलेगी, और यदि इनका निर्माण उत्तम रीति से हुआ है, तो ये वर्णन को स्पष्ट करेंगे और विवेचन में सहायक होंगी।[1]

फिर, प्रश्न है कि 'वे परिकल्पनाएँ कौन-सी हैं जो हमारे व्यवहार के वर्णन में आधारभूत है ?'

पहली परिकल्पना तो स्वयं व्यवहार की प्रकृति से सम्बन्धित है। हमारी महान् धारणा है कि व्यवहार एक ऐसी वस्तु है जो किसी भी जटिल से जटिल यंत्र (मशीन) से प्रकार में नितान्त भिन्न है। आइए कुछ ऐसे उदाहरणों पर विचार करें जो दोनों के अन्तर को स्पष्ट कर दें। गॉल्फ (golf) का खिलाड़ी गेंद को पेड़ से बचा कर मारता है। यह कुछ गज तक लुढ़क सकती है, यह हवा में सुन्दर एकेन्द्र (parabola) बनाती हुई जा सकती है, यह नाराज करती हुई दॉये या बॉये को मुड़ सकती है। परन्तु गॉल्फ का खिलाड़ी गेंद को उसकी असन्तोषजनक गतियों के लिए कितना ही क्यों न कोसे, वह अपने मन में भलीभाँति जानता है कि उसकी समस्त गति गॉल्फ के डंडे के धक्के से, आकर्षण-शक्ति के बल से, हवा के अवरोध से और उस समय चलने वाली वायु से प्रभावित होती है। वह केवल उन शक्तियों का खिलौना मात्र है जो बाहर से उस पर प्रभाव डालती हैं, और उसमें स्वयं अपनी कोई प्रेरणा या संकल्प नहीं है। इसके विपरीत, हम विचार कर सकते हैं कि एक चिड़िया चुग रही है और उसके पीछे एक बिल्ली चुपके से ताक लगाये बैठी है। शीघ्र ही चिड़िया बिल्ली को देखती है और तुरन्त घबड़ाहट में इधर-उधर फड़-फड़ाती हुई उड़कर पेड़की डाल पर सुरक्षित बैठ जाती है। हमारी धारणा है कि गॉल्फ की गेद की चाल और चिड़िया की उड़ान दोनों एक-दूसरी से बिलकुल भिन्न हैं। पहली तो यांत्रिक (me-

1 Outline of Psychology, p. ii.

chanical) की भाँति सीधी सादी गति है, और दूसरी को हम व्यवहार (behaviour) कहते है क्योंकि यह यंत्र के सिद्धान्तों द्वारा नही समझाई जा सकती।

व्यवहार और यांत्रिक क्रिया के अन्तर का विश्लेषण इसी उधाहरण द्वारा और भी स्पष्ट किया जा सकता है। प्रथम तो चिड़िया की गति ऐच्छिक है अर्थात् उसको भीतर से प्रेरणा मिली है, जब कि गेंद की गति बाहर से प्रेरित है। गेंद की गति के लिए केवल बाह्य परिस्थतियाँ ही पूर्ण रूप से उत्तरदायी है परन्तु चिड़िया में बिल्ली एक ऐसी क्रिया उत्पन्न कर देती है जो बाद में स्वतंत्र रूप से प्रेरित होती है। फिर, एक अन्तर और भी है कि उसी उत्तेजना द्वारा चिड़िया अपनी गतियों में भिन्नता ला सकती है, परन्तु गेद का व्यापार उन्ही परिस्थितियों में वैसा ही होगा और उसका परिणाम भी वही होगा। फिर, चिड़िया की गति रुक जाती है जब उसकी परिस्थिति मे एक विशेष अन्तर हो जाता है, अर्थात् जब वह सुरक्षित से स्थान पर पहुँच जाती है; परन्तु गेंद की गति तब रुकती है जब उसकी गतिक शक्ति (kinetic energy) अवरोध (resistance) के जीतने में व्यय हो जाती है। हम संक्षेप में कह सकते है कि व्यवहार का केन्द्रीय सिद्धान्त अभिप्राय है। गेंद किसी अपने निजी उद्देश्य से नहीं चल रही है। परन्तु चिड़िया की गति का एक विशिष्ट उद्देश्य है, और वह है सुरक्षित स्थान की प्राप्ति। अतएव, "व्यवहार (behaviour) वह क्रिया है जो शासित अथवा प्रेरित होती है, कुछ अंश तक अपने प्रभावों की पूर्व-दृष्टि से, भविष्य के पूर्व आभास से, उन घटनाओं के पूर्व आभास से जो अभी नही घटी हैं, परन्तु जिनके होने की सम्भावना है और जिनके घटने में कार्य स्वयं योग दे सकता है।"[1] हम कहते है कि गेंद की गति

1 McDougall, An Outline of Psychology, p. 48.

का कारण डण्डे का सम्पर्क तथा अन्य शक्तियाँ है, और यह उन कारणों का फल है। परन्तु 'कारण' और 'फल' जैसे शब्द चिड़िया के उड़ने को समझाने के लिए यथेष्ट नही है। वरन् हमको यह कहना चाहिए कि चिड़िया की गति एक उत्तेजना की प्रतिक्रिया है; यह केवल बिल्ली द्वारा ही नही प्रेरित हुई है, परन्तु इसका एक विशेष लक्ष्य है जो भविष्य की ओर इङ्गित करता है। इसलिए, व्यवहार अभिप्राय-पूर्ण है; कारण के साथ-साथ फल भी बताना आवश्यक है। 'क्यो' के साथ 'इसलिए' भी बताना है।

इस प्रकार हम विश्वास करते है कि वस्तुओं के दो बड़े वर्ग है—एक वे जिनके परिवर्तन यांत्रिक, भौतिक या रासायनिक सिद्धान्तों द्वारा समझाये जा सकते है, और दूसरे वे जिनकी क्रिया इस प्रकार नही समझाई जा सकती है, वरन् वह एक विशेष लक्ष्य की ओर निर्देशित होती है। दूसरा वर्ग व्यवहार को प्रदर्शित करता है; और व्यवहार (behaviour), न कि यांत्रिक क्रिया, मनोविज्ञान का विषय है।

हम इस गम्भीर धारणा को दूसरे शब्दों में इस प्रकार वर्णन कर सकते है—व्यवहार किसी जीवित प्राणी की क्रिया या व्यापार (activity) है, जब कि यान्त्रिक कार्य किसी प्राणहीन वस्तु की गति है। इस प्रकार मुख्य भेद जीव (the living) और अचेतन या जड़ (the inert) के बीच का है जिस पर विचार किया जा रहा है। यह कथन कुछ अंश तक हठधर्मी है कि हमारे वातावरण का एक अंश जीवित प्राणियों का है और शेष मृत पदार्थ है, और वह विद्यार्थी दया का पात्र है जो दोनों के बीच के इस अन्तर की अधिक व्याख्या चाहता है। परन्तु हमारे ज्ञान की वर्त्तमान दशा में मनोवैज्ञानिक के लिए लाभप्रद है कि वह जीवन

को अन्तिम कल्पना (notion) समझे, जिसको उन नियमों द्वारा पूर्णतः नहीं समझा जा सकता जो भौतिक संसार पर लागू हैं।

ऐसे मनुष्य भी हैं जिनकी धारणा है कि जीवित प्राणी केवल अति चतुराई से बनाया गया एक मानसिक-रासायनिक यंत्र (physico-chemical machine) है। उस विचित्र विधि के विषय में बहुत कुछ ज्ञात कर लिया है जिसके अनुसार जीवित प्राणियों के शरीर भौतिक और रासायनिक नियमों का पालन करते हैं,और यंत्रवादियों का विश्वास है कि यदि हमारा ज्ञान पूर्ण होता तो हमको ज्ञात हो जाता कि व्यवहार की समस्त घटनाएँ भौतिक-शास्त्र और रसायन शास्त्र द्वारा समझाई जा सकती हैं। ये उनकी आशा और उच्चाकांक्षा है कि वे अपनी प्रयोगशालाओं में जीवित प्राणी का विश्लेषण करें। इस समय तो वे विश्वास के रूप में कहते हैं कि हमारे उदाहरण में चिड़िया का कार्य गेंद के कार्य की अपेक्षा कुछ ही अधिक जटिल है; चिड़िया की स्वतन्त्र गति धोखा मात्र है; और प्रत्येक बार जब वह क्रियाशील होती है तो इसलिए होती है कि वह ऐसा करने को बाध्य है। ऐसी दशा में व्यवहार का विज्ञान भौतिक विज्ञान की शाखा हो जायगी, और मनोविज्ञान तथा शरीर-विज्ञान दोनों एकसम (identical) हो जायेंगे।

महान् दार्शनिक डेसकर्टिस (Descartes) का कहना था कि वह मानने में कोई हर्ज नहीं है कि पशु केवल एक अति जटिल यंत्र है, परन्तु वह मनुष्य को कोरा यंत्र ही नहीं मानता था, क्यों कि वह अपने भीतरी अनुभव को अस्वीकार नहीं कर सकता था जो उससे कहता था कि स्वयं उसके आत्मा है। उसके कुछ अनुयायी यंत्र-सिद्धान्त को मनुष्य पर लागू करते थे, और उनके उत्तराधिकारी आज तक हमारे बीच में विद्यमान हैं। परन्तु वे अपने पक्ष को दृढ़ नहीं कर सके हैं; उनका विश्वास एक परि-

कल्पना है जिसका कोई प्रमाण नहीं है, और वर्त्तमान काल में बहुत से मनुष्य उसे त्यागने को तैयार हैं। इस बात के प्रमाणों की अब कमी नहीं है कि अत्यन्त निम्न कोटि के प्राणियों का व्यवहार भी यंत्र-सिद्धान्तों के अनुसार नहीं समझाया जा सकता; सरलतम प्राणधारी भी यंत्र से बहुत भिन्न है; उसकी प्रतिक्रियाएँ केवल पूर्व परिस्थितियों द्वारा ही नहीं हुई हैं; वह अपनी प्रतिक्रियाओं (responses) को भिन्न कर सकता है, तथा वह इस प्रकार कार्य करता है कि जिससे उसकी और उसके वंश की उन्नति उत्तरोत्तर होती रहे।

जो परिकल्पना यहाँ वर्णन की गई है उससे अभिप्राय यह है कि यंत्रवादी अपनी मुख्य धारणा में भूल कर रहे हैं। वरन् मनोवैज्ञानिक को अनेक यथार्थवादियों (vitalists) के सिद्धान्त को मानना चाहिए कि यंत्र और जीवधारी में मौलिक भेद है। हम इस अन्तर को मोटे रूप से 'जीवन' (life) शब्द द्वारा व्यक्त कर सकते हैं—एक में जीवन नहीं है और दूसरे में है। परन्तु यदि सम्भव हो, तो हमको इसके अर्थ का अधिक विश्लेषण करने का प्रयत्न करना चाहिए।

प्रथम, जीवधारी एक जीवी (organism) है; अर्थात् वह इकाई (unity) की भाँति कार्य करता है, और उसका सम्पूर्ण रूप केवल उसके अंशों का जोड़मात्र ही नहीं है। प्रत्येक भाग इस प्रकार व्यवहार करता है मानो वह जानता हो कि दूसरे भाग किस प्रकार कार्य कर रहे हैं। एक क्षण के लिए मान लीजिए कि रसायनशास्त्रवेत्ता को अपनी प्रयोगशाला में जीवित कोशा (cell) का विश्लेषण करने में सफलता मिल गई है। यह भी मान लीजिए कि कोई प्रतिभाशाली देह-वैज्ञानिक (super-physiologist) इन जीवित कोशाओं से कोई जटिल प्राणधारी भी बनाने का

प्रयास कर रहा है। परन्तु यह कल्पना से परे है कि वह किस प्रकार इन कोशाओं को व्यवस्थित कर सकेगा, जिनमे से कुछ मिल कर एक विशेष कार्य (function) कर सकें और दूसरे अन्य कार्य। किन्तु कार्य (function) की यह व्यवस्था और विशेषता निम्न वर्ग के प्राणधारियों में भी पाई जाती है। एक प्राणधारी जीवित कोशाओं का समूह तो है ही, परन्तु इससे भी कुछ अधिक है। सर टी० पर्सी नन (Sir T. Pecry Nunn) के शब्दों में हम कह सकते हैं कि प्रत्येक स्तर पर प्राणधारी "अनेकता में एकता" (unity in diversity) प्रदर्शित करता है। यद्यपि उसका विश्लेषण (analysis) हो सकता है, परन्तु बाद को विश्लेषण के परिणामों के संश्लेषण (synthesis) में मुख्य तत्व का अभाव रहेगा, जो एक रहस्यमय व्यवस्था है अथवा जिसे हम "अनेकता में एकता" कह सकते हैं।

दूसरे, प्राणधारी जीवी स्व-शासित है; वह स्व-नियंत्रित है और अपने भीतर से आदेश प्राप्त करता है, और इस प्रकार अपनी प्रतिक्रियाओं को भिन्न करने में स्वतंत्र है। इसका अर्थ यह नहीं है कि वह स्वयं अपनी प्रकृति के नियमों से बच सकता है परन्तु इसका अर्थ यह अवश्य है कि वह उन नियमों का पालन कई प्रकार से कर सकता है, ठीक उसी प्रकार से जिस भाँति किसी खेल का खिलाड़ी नियमों का कठोर रूप से पालन करता है और साथ ही इसमें मौलिकता दिखाता है कि वह किस प्रकार उनका पालन करेगा। इसी अर्थ में एक जीवधारी स्वशासित कर्त्ता है।

प्राणधारी जीवी की अन्य प्रधान विशेषताएँ हैं भोजन के पाचन द्वारा अपने शरीर की वृद्धि करने की शक्ति तथा अपनी ही जाति को बढ़ाने की सामर्थ्य। उसमें आत्म-पोषण की भी शक्ति है; प्राणधारी का एक स्थायी शारीरिक आकार है जिसे वह

सुरक्षित रखने का प्रयास करता है। निम्न श्रेणी के पशुओं में से बहुतेरे चोट खाने पर अपने नष्ट अंगों को अत्यन्त विचित्र ढङ्ग से पुनः प्राप्त कर लेते हैं। यद्यपि मनुष्य नष्ट अंग को फिर नहीं प्राप्त कर सकता, परन्तु आत्म-पोषण की शक्ति उसमें बिलकुल नष्ट नहीं हो गयी है, जो घावों के भरने में तथा रोग से मुक्ति पाने में स्पष्ट है। आचार्य जी० टी० डब्ल्यू० पेट्रिक (G.T.W. Patrick) ने इन अनेक बातों को संक्षेप में इस प्रकार कहा है—"जीवन आत्म-समायोजन (self-adjusting), आत्म-पोषण (self maintaining), आत्म-रक्षा (self-preserving), और आत्म-शाश्वतता (self-perpetuating) का द्योतक है। यंत्र-संसार में ऐसा नहीं है। यंत्र समायोजन, पोषण, रक्षा और शाश्वतता नहीं करते हैं।"[1]

व्यवहार यांत्रिक क्रिया से भिन्न है और प्राणधारी यंत्र नहीं है; इस मूल परिकल्पना को कहने की दूसरी विधि यह कथन है कि मन का अस्तित्व है। यदि हम मन को परिभाषा बतलाने का प्रयास करें तो हमारे सामने वही कठिनाई उपस्थित होगी जो जीवन की प्रकृति बतलाने के समय पड़ी थी। हम बिलकुल स्पष्ट रूप से कह सकते हैं कि मस्तिष्क की ठीक-ठीक परिभाषा बताना असम्भव है। यद्यपि मेकडूगल ने कहा है कि[2], "हम मन को मानसिक अथवा प्रयोजनवादी शक्तियों की व्यवस्थित पद्धति कह सकते हैं," तथापि उसको भलीभाँति ज्ञात है कि 'प्रयोजनवादी' (purposive), और 'शक्तियाँ' (forces) दोनों शब्द पहले से ही मान लिये गये हैं, यद्यपि इनको सिद्ध करना था। जब हम 'मन' (mind) शब्द का प्रयोग करते हैं, हम एक बार फिर उन मूल भेदों की ओर आते हैं जिनका निरूपण हम कर रहे हैं। मन

1 The World and its Meaning, p 81.

2 Psychology (Home University Library), p. 229.

एक अन्तिम कल्पना है, और कम-से-कम एक आरम्भिक मन का रखना ही जीवित प्राणधारी और यंत्र में भेद बताता है। यदि हम यंत्रवादियों की धारणा को अस्वीकार करते हैं तो फिर मानसिक परिकल्पना का कोई दूसरा विकल्प नहीं रहता; अर्थात् कोई परिकल्पना जिसमें मस्तिष्क तथा इसी प्रकार की कल्पना हो। हमको मस्तिष्क को कोई ऐसी वस्तु समझना चाहिए जो व्यवहार के पीछे है और उस पर नियंत्रण रखती है, वह उसे व्यवहार बनाती है न कि यांत्रिक क्रिया; यह वह वस्तु है जो प्राणधारी में है और यंत्र में नहीं है।

इस विंदु पर हमको मस्तिष्क का दार्शनिक विमर्श करने की इच्छा हो सकती है, क्योंकि ऐसे तर्क सदा रोचक होते हैं, भले ही बूढ़े उमर खय्याम की भाँति हम उसी द्वार से बाहर आ जायें जिससे प्रवेश किया था। प्रायः मन की असमानता सामान्यतः द्रव्य से की जाती है और विशेषकर शरीर से। जनसाधारण का विचार है कि मन अपने मिट्टी के घर में निवास करता है और उस पर नियंत्रण रखता है; और मन तथा मस्तिष्क का घनिष्ट सम्बन्ध सब को ज्ञात ही है। परन्तु इस सम्बन्ध का स्वरूप—मनोशारीरिक (psycho-physical) समस्या—एक अभेद्य रहस्य है। दार्शनिकों ने अनेक मत स्थिर किये हैं जो सभी रोचक हैं, परन्तु इनमें से कोई सिद्ध नहीं हो सका है। एक तो वे हैं जिन की धारणा है कि मन और द्रव्य दो भिन्न-भिन्न मूल तथ्य हैं; ऐसे लोगों को हम द्वित्ववादी (dualists) कह सकते हैं। इनमें से कुछ केवल इतना ही कह देते हैं कि मन और मस्तिष्क दोनों समानान्तर क्षेत्रों में कार्य करते हैं; उनका मत 'मनोशारीरिक समानान्तरवाद' (psycho-physical parallelism) कहा जा सकता है। परन्तु यह समस्या का कोई हल नहीं है, केवल उसका कथन मात्र है। अन्य द्वित्ववादी कठिनाइयों के होते हुए भी बल-

पूर्वक कहते हैं कि दोनों एक-दूसरे को जटिल रीति से प्रभावित करते हैं, और वास्तविकता का एक क्षेत्र निरन्तर दूसरे क्षेत्र को काटता रहता है। वर्त्तमान काल में भी कुछ दार्शनिक इस सिद्धान्त के प्रबल पोषक हैं, जिनके मत का आदर करना चाहिए।

इसके विपरीत वे हैं जो केवल एक अन्तिम तथ्य बतलाते हैं और इसीलिए उनको हम एकवादी (monoist) कह सकते हैं। उनका मत 'ऐक्य सिद्धान्त' identity hypothesis) कहा जा सकता है जिसके अनुसार मन और द्रव्य अन्त में दोनों एकसम हैं। अवश्य, एकवादियों में परस्पर बहुत मतभेद है। कुछ का विश्वास है कि अन्तिम वास्तविकता मन रूप है, और दूसरों का मत है कि वह द्रव्य-रूप है, और फिर कुछ का विश्वास है कि वह मन और द्रव्य दोनों से परे है, जैसा कि हम उन्हें जानते हैं। इस समस्या के सम्बन्ध में एक आधुनिक रोचक विचार-धारा यह है कि भौतिक-शास्त्र में द्रव्य की कल्पना को अस्वीकार किया जा रहा है और प्रत्येक वस्तु को प्रतीकों (symbols) द्वारा प्रकट किया जाता है, परन्तु इस विषय में कोई राय नहीं प्रकट की जाती कि वे प्रतीक क्या बताते हैं। कुछ की धारणा है कि भौतिक विज्ञान के प्रतीकों के पीछे हमारी चेतना का मूलतत्त्व हो सकता है। एक लाभप्रद कल्पना यह है कि शरीर और मन के विषय में बात न की जाय, वरन् शरीर-मन तथा मन-शरीर की ही चर्चा की जाय। यह मत इस बात पर बल देता है कि हमारा सम्बन्ध जीवी (organism) से है जैसा कि हम उसे देखते हैं, न कि केवल उसके मन-सम्बन्धी अथवा द्रव्य-सम्बन्धी रूप से। शरीर और मन को हम केवल विचार से निर्मित तथ्य मान सकते हैं अर्थात् अपनी धारणाओं को दिया हुआ ऐसा वस्तुत्त्व (hypostatization) जिसकी अपनी स्वतंत्र सत्ता कोई नहीं है। मन और मस्तिष्क के सम्बन्ध की इस प्रकार की विचार-धाराएँ और उनका पारस्परिक सम्बन्ध

दर्शनशास्त्र के छात्र के लिए अत्यन्त रोचक और महत्त्वपूर्ण हो सकते हैं, परन्तु शिक्षा-मनोविज्ञान का छात्र इन्हें अवकाश के समय के लिए छोड़ सकता है।

महत्त्वपूर्ण बात यह है कि किसी न किसी रूप में हमको मन के सम्बन्ध में कोई परिकल्पना (hypothesis) स्थिर करनी पड़ेगी; क्योंकि यह बिलकुल निश्चित प्रतीत होता है कि ऐसा करने से हम व्यवहार का संलाग वर्णन (coherent account) कर सकते है। परन्तु व्यवहारवादी इस कल्पना को अस्वीकार करता है, जो प्रत्येक मनसम्बन्धी बात पर विचार नहीं करता, और जिसका व्यवहार का खंडमय वर्णन शरीर-शास्त्र की केवल शाखा मात्र है।

इस प्रकार, ऐसा कहने से कि मनोविज्ञान व्यवहार का विज्ञान है, हम मन की कठिन कल्पना से नही बचते, क्योंकि व्यवहार का कोई भी सुबोध और निश्चयात्मक वर्णन मन, जीवन तथा अभिप्राय के बिना नहीं किया जा सकता। इस प्रकार मनोविज्ञान की परम्परागत परिभाषा ही यथार्थ है कि वह मन का विज्ञान है, यद्यपि उसमें स्पष्टता और लक्ष्य का अभाव है। मन ही मनोविज्ञान का केन्द्रीय विषय है, जबकि व्यवहार केवल उसके अध्ययन का विषय है। मनोविज्ञान कभी मन से पृथक् नहीं हुआ और न कभी होगा। एक समय था जब मनोविज्ञान को "चेतना (consciousness) के तथ्यों का वर्णन तथा व्याख्या" कहते थे, परन्तु इनकी प्रकृति मन से सम्बन्धित है; अब इसे व्यवहार का विज्ञान कहते हैं और इस दृष्टि से यह परिभाषा भी पहली से अधिक अच्छी नहीं है। इस प्रकार यह स्पष्ट है कि यद्यपि हम मन की व्याख्या अधिक सीधे-सादे शब्दों में नहीं कर सकते है, परन्तु फिर भी उसका अस्तितत्व तो मानना ही पड़ेगा, और इस बात का प्रयत्न करना पड़ेगा कि उसका निरूपण अधिक स्पष्ट हो। "इस प्रकार

किसी व्यक्तिगत जीवी का मन वह वस्तु है जो उसके अनुभवों और उसके व्यवहार द्वारा प्रकट होता है; और मनुष्य के अनुभव व व्यवहार की समस्त क्रियाओं को एकत्र कर के, तथा उनसे मन की व्यवस्थाओं (dispositions) तथा रचना के सम्बन्ध में निष्कर्ष निकाल कर हमको मनुष्य के मन की प्रकृति और रचना को निर्णीत करना होगा।"[1]

फिर भी मन-सम्बन्धी परिकल्पना के दो मुख्य रूप हैं जो हमारे अध्ययन के साथ-साथ बराबर रहेंगे, और इसलिए यहाँ उनका प्रारम्भिक विवेचन आवश्यक है। इनमें से एक तो चेतन (consciousness), अनुभव (experience), अथवा मन की क्रिया (functioning of the mind) है, और दूसरी अचेतन (unconscious), मन की व्यवस्थाएँ (dispositions) अथवा मन की रचना (structure of the mind) है। यदि हमारा ज्ञान पूरा हो और तार्किक वर्णन सम्भव हो, तो हम मन की रचना के निरूपण से प्रारम्भ कर सकते हैं; परन्तु चूँकि हम को उत्तम ज्ञान मन की क्रिया का है, इसलिए हम अनुभव को सब से पहला स्थान देंगे।

जब हम यह पूछते हैं कि अनुभव (experience) से क्या आशय है तो हमको एक बार फिर ज्ञात होता है कि हम किसी अवर्णनीय वस्तु के विषय में विचार कर रहे हैं। और फिर भी, मेरे लिए तो मेरा निजी अनुभव ही संसार में अत्यन्त निश्चित वस्तु है। मुझे बिल्कुल निश्चय है कि मैं जानता हूँ, अनुभूति करता हूँ, इच्छा करता हूँ व आकांक्षा करता हूँ, और मैं सुनता हूँ तथा मैं देखता हूँ; और यह जानना, अनुभूति करना, इच्छा करना आकांक्षा करना व देखना, और इसके अतिरिक्त मन की अनेक

1 McDougall, An Outline of Psychology, p. 35.

अन्य दशाएँ मेरे अनुभव हैं। मेरा अनुभव वह वस्तु है जो हो रहा है और जो मेरे भीतर एक मानसिक व्यापार अथवा कार्यशीलता है, जिसका प्रत्यक्ष ज्ञान मुझे और केवल मुझे ही है। यहाँ, हम एक बार फिर जीवन की मूल परिकल्पना की ओर वापस आ जाते हैं, फिर हमको उस रहस्यपूर्ण वस्तु को प्रकट करना पड़ता है, जो जीवित प्राणी और यंत्र में भेद बताती है; क्योंकि "अनुभव ऐसा शब्द है जिसका प्रभाव स्थायी भाव (sentiment) के प्राणियों के वृत्त के बाहर नहीं है। यह केवल प्राणी-संसार तक ही सीमित है, जिसका आशय यह है कि एक जीवी (organism), एक पशु अथवा एक मनुष्य ही कुछ अनुभूति करता है और कुछ कार्य करता है। हम नहीं कहते कि पर्वत से लुढ़क कर पत्थर का टुकड़ा जो पेड़ से टकराता है, अनुभव करता है।"[1]

अनुभव के विषय में कई आवश्यक बातें हैं जिनको स्पष्ट करना अपेक्षित है। पहली तो यह है कि अनुभव में यह निहित है कि कोई मनुष्य अनुभव कर रहा है; दूसरे शब्दों में यों कहना चाहिए कि उसका कोई कर्त्ता अवश्य होना चाहिए। थोड़ा विचार इसको स्पष्ट कर देगा। उदाहरण के लिए, पीड़ा का अनुभव उस व्यक्ति से पृथक् नहीं किया जा सकता जिसके पीड़ा हो रही है। पीड़ा व्यक्ति की एक दशा है; उसका अस्तित्व स्वतंत्र नहीं है और उसका अस्तित्व नहीं रहता जब उसकी अनुभूति समाप्त हो जाती है। इसको स्पष्ट रूप से समझ लेना आवश्यक है, क्योंकि अचेतन अनुभवों, अचेतना में एकत्र अनुभवों, घटक (subject) द्वारा भूलने पर भी अनुभवों के अस्तित्व इत्यादि के विषय में कुछ लोग ऊलजलूल बातें किया करते हैं। ऐसे विचारों से मन में केवल सम्भ्रान्ति उत्पन्न होगी, क्योंकि इसका आशय यह है कि अनुभव

---

1 Partick, The World and its Meaning, p. 38.

अपना स्वतंत्र अस्तित्व रखते हैं; और हम आशा करते हैं कि हम उनको इस पुस्तक से बिलकुल दूर रखेंगे। अनुभव वास्तव में किसी (subject)[1] की प्रक्रिया (process) है, व्यापार (activity) है। यह 'घटक' (subject) हमारी परिकल्पनाओं में से एक होना चाहिए, जिसका स्वभाव (nature) दर्शन-शास्त्र का कठिन प्रश्न है और जिसे इस स्थान पर समझने की आवश्यकता नहीं है।

दूसरे, प्रत्येक मनुष्य किसी बात का अनुभवीकरण है; अर्थात् अनुभव का कोई पदार्थ अवश्य होना चाहिए। यदि मुझे एक विशेष प्रकार का अनुभव है जिसे मैं दाँत का दर्द कहता हूँ, तो दाँत का दर्द मेरे अनुभव की वस्तु है, या स्टाउट (Stout) के शब्दों में मनमूलक (psychical) वस्तु है। मैं यह नहीं कहता हूँ कि "मेरा अनुभव जीर्ण दाँत है" वरन् 'मैं दाँत-का-दर्द अनुभव करता हूँ।" इस प्रकार मेरे अनुभव की वस्तु दाँत-का-दर्द है न कि दाँत। निस्सन्देह जीर्ण दाँत में दर्द हो रहा है, और दाँत उखड़वा कर मैं इस कटु अनुभव से छुटकारा पा सकता हूँ। परन्तु हमने मान लिया है कि दाँत का अस्तित्व हमारे मनों के बाहर है; हम उसका अनुभव नहीं करते हैं वरन् केवल मनसम्बन्धी वस्तुओं का जो उसके फलस्वरूप उपस्थित होती हैं।

तीसरी बात जिस पर बल देने की आवश्यकता है, वह है अनुभव का महान् महत्व। डेसकार्टिस (Descartes) के प्रसिद्ध शब्द थे, "मैं अनुभव करता हूँ, अतएव मेरा अस्तित्व है।" मेरा

१ स्टाउट ने वस्तुगत प्रक्रिया (subjective process) को अनुभव (experience) के अर्थ में लिया है। देखिए उसकी Groundwork of Psychology.

अनुभव मेरे लिए समस्त तथ्यों में सारभूत है। दार्शनिक मुझे विश्वास दिला सकते हैं कि मैं अपने अनुभव के पीछे एक वाह्य जगत का अस्तित्व नही सिद्ध कर सकता, परन्तु वे मुझे यह कभी निश्चय नही करा सकते कि स्वयं मेरे अनुभवों की सत्ता नहीं है। जब मैं एक नारंगी देखता हूँ तो मुझे बिलकुल निश्चय है कि मैं पीलापन, गोलाई, खुरदरापन, एक विशेष प्रकार का स्वाद इत्यादि अभुभव करता हूँ; और मेरी धारणा है, यद्यपि इसे मैं प्रमाणित नहीं कर सकता हूँ कि मुझसे बाहर एक ऐसी वस्तु है जिसका परिणाम ये अनुभव है। किन्तु यदि यह कोई वस्तु मेरे मन से स्वतंत्र है, तो यह फिर निश्चय है कि मैं उसे केवल उन मनःसम्बन्धी पदार्थों को अपने अनुभव द्वारा जान सकता हूँ जो उस के परिणाम हैं। वाह्य जगत् का मेरा समस्त ज्ञान मेरे अनुभव द्वारा ही प्राप्त होता है।

मनोविज्ञान के अध्ययन में इस तथ्य को स्मरण रखना विशेष रूप से महत्त्वपूर्ण है कि व्यवहार के समस्त ज्ञान के लिए हम स्वयं अपने अनुभव पर निर्भर हैं। यह स्पष्ट है कि मैं दूसरे व्यक्ति के अनुभव के विषय में कुछ नहीं जान सकता जब तक कि मैं उन का निरीक्षण न करूँ; अर्थात् जब तक कि वह मेरे अनुभव का विषय नहीं है। परन्तु जैसा कि हम पहले अध्याय में देख चुके हैं कि मै उसे न समझ सकता हूँ और न उसकी समीक्षा कर सकता हूँ जब तक कि मेरा निजी अनुभव न हो।[1] इस प्रकार केवल यह कहना ही ठीक नहीं है कि मनोवैज्ञानिक को सामग्री (data) अपने निजी अनुभव से प्राप्त होती है, वरन् यह भी कहना होगा कि स्वयं उसका अनुभव ही उस सामग्री की समीक्षा और विवेचन का एकमात्र सम्भावित सूत्र है।

---

[1] देखिए पृष्ठ ६।

अन्त में, क्योंकि मनोविज्ञान के अध्ययन में पारिभाषिक शब्दावली का प्रश्न अत्यन्त जटिल है, अतएव हमको जानना चाहिए कि 'चेतना' (consciousness) और 'अनुभव' (experience) एक ही वस्तु है, अथवा दोनों एक दूसरे से पृथक् है। यह अवश्य सुविधाजनक होगा यदि दोनों शब्द एक-दूसरे के पर्याय समझे जायँ; परन्तु कठिनाई यह है कि भिन्न-भिन्न लेखकों ने 'चेतना' (consciousness) का प्रयोग पृथक्-पृथक् अर्थों में किया है, अनेक उसे 'भिज्ञता' (awareness) का पर्याय मानते हैं। परन्तु हम इस बात को नहीं मान सकते कि यह आवश्यक है कि अनुभव (मानसिक प्रक्रिया के रूप में) के साथ-साथ व्यक्ति को उसका ज्ञान भी हो; हमको भिज्ञता बिना भी अनुभव हो सकता है। उदाहरणार्थ, मैं ध्यानावस्थ पढ़ने की दशा में रुक जाता हूँ, और विचार करने लगता हूँ कि कितना समय हुआ होगा, और सोचता हूँ कि कुछ समय हुआ जब घंटा-घर में बारह बजे थे; मैं अपनी घड़ी की ओर देखता हूँ और मालूम करता हूँ कि बारह बज कर दस मिनट हुए हैं। मेरा अनुभव उस समय क्या था जब घंटा-घर ने वास्तव में बारह बजाये थे। मुझे घंटे के शब्द का बिलकुल ज्ञान न था, क्योंकि मेरा चित अन्य कार्य में लगा हुआ था; परन्तु मुझे सुनने का अनुभव अवश्य हुआ होगा जो भिज्ञता के स्तर से नीचे था। तो क्या मैं यह कहूँ कि मुझे घंटा-घर के घंटों के बजने की चेतना थी, केवल यदि 'चेतना' शब्द का अर्थ 'भिज्ञता' से कुछ विस्तृत है। इस प्रकार 'चेतना' और 'अनुभव' दोनों शब्द पर्यायवाची नहीं हैं यदि भिज्ञता चेतना के लिए आवश्यक समझी जाय; और क्योंकि इस विषय में सदा कुछ सन्देह रहता है, भ्रम को दूर करने के लिए 'अनुभव' (experience) शब्द का प्रयोग ही उत्तम रहेगा। कुछ आगे चल कर हम अनुभव का वर्णन कुछ अधिक वस्तुगत दृष्टि से करेंगे; अर्थात्, ड्रैवर के कथनानुसार, एक

सैद्धान्तिक वाह्य प्रदर्शक की दृष्टि से जो समस्त तथ्यों का निरीक्षण कर सकता है। इस बीच में हमको यह समझ लेना चाहिए कि कुछ अनुभव ऐसे होते है जिनकी हमको अत्यधिक भिज्ञता है, और कुछ ऐसे हैं जिनकी हमको न्यून भिज्ञता है, और कुछ ऐसे हैं जिनकी भिज्ञता हमको बिलकुल नहीं है। अनुभव एक वस्तु है, और उसका ज्ञान अथवा भिज्ञता दूसरी वस्तु है। आचार्य स्पीअरमेन (Spearman) ने अपने ज्ञान के प्रथम नियम में इस महत्त्वपूर्ण विन्दु को निम्न शब्दों में घनीभूत किया है[1]—"कोई अनुभूत अनुभव अपने प्रत्यक्ष गुणों और अपने अनुभव करने वाले के विषय में तुरन्त जानना चाहता है; अर्थात् ज्ञान के वस्तुगत तथा आत्मगत दोनों पहलुओं में उसका बोध हो जाता है। यदि 'चेतना' (consciousness) शब्द में 'भिज्ञता' गर्भित है तो हम ज्ञात अनुभव को चेतनायुक्त (conscious) अनुभव कह सकते हैं, और अज्ञात अनुभव को अर्द्धचेतनायुक्त (subconscious or unapprehended) अनुभव कह सकते है। यह प्रचलित वर्त्तमान प्रयोग के अनुरूप होगा, और इसके द्वारा 'अर्द्धचेतन' (subconscious) तथा 'अचेतन' (unconscious) दोनों का भेद प्रकट हो जाता है; यहाँ 'अचेतन' शब्द का प्रयोग मन की रचना के पहलू के सम्बन्ध में किया गया है।

यह आवश्यक नहीं प्रतीत होता कि हम सिद्ध करने का प्रयास करें कि अनुभव मनोविज्ञान की मूल परिकल्पना है, क्योंकि यह अध्ययन का परम्परागत विषय है। व्यवहारवादी स्थिति मनोविज्ञान की एक दूरवर्ती प्रतिक्रिया है जो केवल व्यक्तिगत अनुभव का अध्ययन थी। अंतःप्रेक्षणवादी मनोवैज्ञानिकों ने अनुभव का परीक्षण बहुत बारीकी से किया और बड़ी सावधानी से उसके

[1] The Nature of Inte ligence and the Principles of Cognition, pp. 48, 382.

विभाग किये; और यद्यपि हम सहमत हैं कि मनोविज्ञान ने अपना क्षेत्र विस्तृत कर लिया है, परन्तु यह मूर्खता होगी कि हम अंतः-प्रेक्षणवादियों के मुख्य परिणामों की अवहेलना करें। सम्भवतः इन परिणामों में सबसे अधिक महत्त्वपूर्ण यह है कि अनुभव के प्रकार या चेतना होने की विधियाँ तीन प्रकार की हैं—(क) हम जान सकते हैं, (ख) हम अनुभूति कर सकते हैं, (ग) और हम इच्छा कर सकते हैं या प्रयत्न कर सकते हैं, या संकल्प कर सकते है। इस प्रकार अनुभव की तीन विधियाँ हैं—(१) ज्ञान (cognition) अथवा जानने का अनुभव (knowing experience), (२) मनःप्रवृत्ति या संवेदन (affect) अथवा भावना का अनुभव (feeling experience) और (३) चेष्टा (conation) अथवा प्रयत्न का अनुभव (striving-experience)। इन तीन मूल प्रकारों का अनुभव केवल पुराने विचारकों तक ही सीमित नहीं है, नवीन मनोवैज्ञानिक भी इसी परिणाम पर पहुँचे हैं, यद्यपि उनमें अन्य बातों में मतभेद बहुत प्रबल है। अनुभव के इस विश्लेषण में हमारी नींव ठोस नहीं है; सर्वसम्मति से यह मान्य हो चुका है कि 'ज्ञान' (cognition) अथवा जानने का अनुभव संवेदन' (affect मनःप्रवृत्ति) और 'चेष्टा' (conation) अनुभव की तीन अन्तिम विधियाँ हैं, जो एक दूसरे से किंचित् भी सीमित नहीं हैं, अर्थात् इनमें से किसी को भी एक-दूसरे के अर्थ में नहीं ले सकते। उदाहरणार्थ, अनुभूति के विषय में नहीं कह सकते कि वह एक प्रकार का ज्ञान है, अथवा एक प्रकार की चेष्टा है, अथवा दोनों का मिश्रण है।

इस प्रकार हम अनुभव के तीन भागों को स्वीकार करते हैं, और चूँकि इस विषय के अध्ययन में इनका काम पड़ता रहेगा, अतएव इनको पहले भली प्रकार समझना आवश्यक है। एक उदाहरण पर विचार कीजिए। मैं भीड़ में हूँ, और अपने चारों

ओर निगाह डालते हुए एक मित्र को पहचान लेता हूँ; यह स्पष्ट रूप से ऐसा अनुभव है जिसे हम ज्ञान या बोध (knowing or cognition) कह सकते है। मै अपने मित्र को देखकर प्रसन्न होता हूँ, और इस प्रकार मैं संवेदन या भावना (affect or feeling) का अनुभव करता हूँ। मै उसके निकट जाने और उस का ध्यान आकर्षित करने का प्रयत्न करता हूँ; अब मुझे इच्छा करने और प्रयत्न करने का अनुभव होता है, अर्थात् चेष्टा (conation) का अनुभव। इस उदाहरण में तीनों प्रकार के अनुभव समयानन्तर मे एक-दूसरे के बाद चले आते हैं, परन्तु यह सदा आवश्यक नहीं है; बहुधा वे एक-दूसरे से दुस्तर रूप से मिले हुए होते है। फिर, यह भी समझना आवश्यक है कि हमारा अनुभव शुद्ध ज्ञान (cognition), संवेदन (affect) अथवा चेष्टा (conation) का ही नही होता। हम इन प्रवृत्तियों को विशुद्ध दशा मे कभी नही पाते; यदि हम ज्ञान, भावना और चेष्टा में किसी एक के शुद्ध उदाहरण को देखने का प्रयत्न करते है तो उनके पीछे सदा अन्य प्रवृत्तियाँ भी छिपी हुई मिलती है। मै सोच सकता हूँ कि रेखागणित के एक प्रमेय का समझना शुद्ध ज्ञान (cognition) है, परन्तु मै उसे नही समझ सकता जब तक उसके प्रति कोई छिपा हुआ संवेदन या भावना (feeling) न हो। मै उसका पूर्ण अध्ययन कर के प्रसन्न हो सकता हूँ, मै उसके अरोचक होने के कारण अप्रसन्न हो सकता हूँ, मै उसकी गणित-सम्बन्धी सुन्दरता पर आश्चर्य कर सकता हूँ, मै ऐसी बातों पर समय नष्ट करने के कारण व्यथित हो सकता हूँ; परन्तु यह निश्चय है कि कुछ इस प्रकार की प्रवृत्ति अवश्य ही होगी, चाहे वह मात्रा में कम हो। चेष्टा (conation) भी अवश्य उपस्थित है। मुझे उस के समझने मे प्रयत्न करना पड़ सकता है, आर्किमेडिस (Archimedes) के समान मेरी यह इच्छा हो सकती है कि मैं अपनो

अद्‌भुत खोज को संसार के सम्मुख रखूँ, मैं इस बात का यत्न कर सकता हूँ कि उसे अपने मन से बिलकुल निकाल दूँ; परन्तु अवश्य ही मुझे किसी अंश तक उसके प्रति अग्र चेष्टा (conation) होगी। इस प्रकार मेरी मानसिक दशा शुद्ध ज्ञान की नहीं है, वरन् उसमें ज्ञान का विशिष्ट और प्रमुख स्थान है।

इसी प्रकार, यदि मैं शुद्ध संवेदन की दशा ज्ञात करने का प्रयत्न करूँ तो मुझे ज्ञान और चेष्टा की उपस्थिति भी ज्ञात हो सकती है। मैं अत्यन्त कुपित हो सकता हूँ, परन्तु अवश्य ही मै किसी बात पर क्रोध कर रहा हूँ, और मैं जानता हूँ कि वह कौन सी बात है; और निश्चय ही इच्छा के बिना और उसको कुछ रूप देने की अभिलाषा के बिना मैं क्रोध की दशा में नहीं रह सकता। इस प्रकार मेरी प्रमुख संवेदन या भावना (feeling) की दशा में भी ज्ञान (cognition) और चेष्टा (conation) उपस्थित हैं।

अन्त में, यदि मैं ज्ञान (cognition) की शुद्ध दशा की परीक्षा करूँ तो मुझे चेष्टा (conation) और संवेदन (affect) किसी अंश तक अवश्य मिलेंगे। अब हम खेल की प्रतियोगिता में दौड़ने वाले की दशा पर विचार करेंगे, जो दौड़ में प्रथम आने का भरसक प्रयत्न कर रहा है। दौड़ने वाले को ज्ञान (cognition) है, वह जानता है कि वह क्या कर रहा है और उसे अपने लक्ष्य का भी ज्ञान (cognition) है; उसमें संवेदन (affect) भी है, क्योंकि वह दौड़ में आशा, आनन्द और उल्लास का अनुभव करता है। ये भाव (feelings) ही वास्तव में मुख्य स्रोत हैं जो बढ़ती हुई थकान के होते हुए भी उसे आगे बढ़ने को प्रेरित करते हैं।

इस प्रकार, यद्यपि ज्ञान, संवेदन और चेष्टा अनुभव की चरम

वृत्तियाँ है जो एक दूसरी से भिन्न है, किन्तु उनके सम्बन्ध में यह विचार करना अथवा कहना अशुद्ध होगा कि उनमें प्रत्येक की उपस्थिति पृथक् और स्वतंत्र है। हम अपने विचार में उनके भेद समझ सकते है, और वे हमको अपने अनुभव के विश्लेषण करने पर मिलते है; परन्तु हमारे विश्लेषण के परिणाम शुद्ध दशाओ में नही पाये जाते। इस तथ्य को समझना अत्यन्त आवश्यक है, और हमको अपने अध्ययन में धारणामात्र को वस्तु मान बैठने (hypostatizations) की प्रवृत्ति से सचेत रहना चाहिए, अर्थात् जो तथ्य सत्य नही है उसको सत्ता नही देनी चाहिए। यद्यपि इस प्रकार की वस्तु-कल्पनाओं से हम बच नही सकते और बहुधा वे हमारे चिन्तन मे सहायक भी होती है, किन्तु वे हम पर निर्भर हों न कि हम उन पर। यहाँ हमको जानना चाहिए कि अनुभव एक अनवरत (continuous) वस्तु है और हमारे अनुभव की तीनों वृत्तियाँ वास्तव में वस्तु-कल्पनाएँ (hypostatizations) है, परन्तु उनका कोई पृथक् अस्तित्व नही है। हम शीघ्र ही इसका कारण देखेगे कि अनुभव में सदा तीन वृत्तियाँ ही क्यों होती है।

अनुभव क्षणभंगुर होता है, और प्रतिक्षण बदलता रहता है। इसकी तुलना प्रायः एक नदी से की जाती है जो सदा बहती रहती है, और इस प्रकार पानी की वे ही बूँदे उस स्थान पर हो कर दूसरी बार नही जाती है। एक वही अनुभव हम को दो बार नही होता; दो अनुभव, यदि किसी बात मे नही तो, अपने होने के समय की दृष्टि से ही अवश्य भिन्न होते है। परन्तु यद्यपि 'चेतना का प्रवाह' (stream of consciousness) एक उचित और लाभप्रद रूपक है, परन्तु 'मन का प्रवाह' कहना कदापि उचित नही है, क्योकि हम अनुभूति करते है कि अनुमव के इस क्षणभंगुर और सदा परिवर्तनशील प्रवाह के नीचे कोई वस्तु अवश्य होनी

चाहिए जिसका मुख्य गुण स्थायित्व है। वास्तव में मन का व्यापार (क्रिया) इतना अदभुत और विस्तृत है कि उसको समझाने के लिए एक ऐसी परिकल्पना स्थिर करनी पड़ेगी जो उसकी स्थायी दशा पर बल दे। इस प्रकार अपनी मानसिक परिकल्पना का दूसरा बड़ा भाग हम मन की पृष्ठभूमि अथवा रचना (structure संस्थान) को मानते हैं, जो अनुभव के पीछे है और जो उस पर नियंत्रण रखती है। हम उसको रचना या संस्थान इसलिए कहते हैं कि वह धीरे-धीरे व्यक्ति और उसके वंश के अनुभव के फलस्वरूप बनता है। "मानसिक रचना मन का वह चिरस्थायी और उन्नतिशील ढाँचा है जिसकी अनुभूति हम अनुभव और व्यवहार में मन के निरीक्षित प्रादुर्भावों द्वारा करते हैं।" ("Mental structure is that enduring, growing framework of mind which we infer from the observed manifestations of mind in experience and behaviour.")[१]

यह ध्यान देने योग्य है कि पृष्टभूमि या रचना (संस्थान) जिसे हम मानते हैं, स्वभाव में अनुभव से बिलकुल भिन्न है जो मन की प्रक्रिया अथवा व्यापार कहा जा सकता है। संस्थान (structure रचना) और कृत्य (functioning) का भेद हम भली भाँति जानते ही हैं, क्योंकि किसी भी यंत्र में ये दोनों वस्तुएँ पृथक् ही होती हैं। फिर, मैं स्वयं अपने मन के कृत्य का कुछ अंश तक निरीक्षण कर सकता हूँ, परन्तु उसकी रचना को बिलकुल नहीं देख सकता; मेरा ज्ञान जो मन की रचना के विषय में है केवल मन के कार्य पर आधारित है। मेकडूगल ने इस बात को एक जटिल यांत्रिक खिलौने का उदाहरण दे कर स्पष्ट किया है— ऐसा खिलौना जिसका व्यापार भिन्न-भिन्न दशाओं में पृथक्-पृथक्

1 McDougall : An Outline of Psychology, p. 41.

है और जिसे खोल कर उसकी भीतरी रचना का अध्ययन नहीं किया जा सकता। ऐसी दशा में अवेक्षक केवल उसकी गतियों को देख सकता है और शब्दों को सुन सकता है और इन्हीं से निष्कर्ष निकाल सकता है कि खिलौने की रचना कैसी हो सकती है। मनोवैज्ञानिक की दशा भी लगभग ऐसी ही है जो मन की रचना की प्रकृति के विषय में विचार कर रहा है। फिर, 'रचना' (structure) शब्द से हमको भ्रम में न पड़ना चाहिए, क्योंकि हम ऐसे विषय पर विचार कर रहे हैं जिसका सम्बन्ध मन से है और जिसका अस्तित्व अन्य किसी भौतिक वस्तु की भाँति अंतरिक्ष (space) में नहीं है। कविता या गीत के सम्बन्ध में इस शब्द का प्रयोग कदाचित् लाभप्रद है, क्योंकि वहाँ उसका अर्थ भौतिक अस्तित्व के बिना कोई वस्तु है, "एक समष्टि जिसके भाग एक-दूसरे से व्यवस्थित कार्यिक रूप से सम्बन्धित हैं।" ("a whole consisting of parts in orderly functional relations with one another")[1] परन्तु यदि छात्र इस रचना का कोई मूर्त्त रूप चाहता है तो कोई कारण नहीं कि वह स्नायु संस्थान (nervous system) के एक चित्र को काम में ले, परन्तु शर्त यह है कि वह असावधानी से यह न मान बैठे कि भौतिक स्नायु रचना ही मानसिक रचना है।

हमारी मुख्य कठिनाई यह है कि हम अपनी परिकल्पना का कितना ही स्पष्ट वर्णन करने का प्रयत्न क्यों न करें, हमको रूपकों का सहारा लेना ही पड़ेगा। 'पृष्ठ भाग' (background) और 'रचना' (structure) शब्दों के मन में आते ही अनेक विचार उठते हैं, जिनमें से कुछ संगत हैं और कुछ असंगत। रूपक भयावह वस्तुएँ हैं और मनोविज्ञान में वे विशेष रूप से भ्रान्त हैं,

1 McDougall, An Outline of Psychology, p. 42.

क्योंकि वे भौतिक जगत से लिये गये हैं। परन्तु उनके बिना हमारा काम भी नहीं चलता, और यदि हम यह अनुभव कर लें कि वे एक-साथ किसी वस्तु के कथन में अतिवर्णन तथा न्यूनवर्णन कर सकते हैं और यदि आवश्यकतानुसार रूपकों को एक दूसरे में मिलाने से हम न डरें, तो अधिक हानि होने की सम्भावना नहीं है। इन बातों को ध्यान में रखते हुए और यह याद रखते हुए कि परिकल्पना में हम न्यूनाधिक परिवर्तन कर सकते हैं जिससे तथ्यों का अधिक सुन्दर वर्णन हो सके, हम 'पृष्ठभूमि' (background) अथवा 'रचना' सम्बन्धी अपनी परिकल्पना की प्रारम्भिक परीक्षा कर सकते हैं। अब मुख्य बात यह समझने की है कि 'रचना' (जो कुछ भी उसकी प्रकृति है) जीवित प्राणी का एक अंग है, और उसका एक विशेष गुण क्रियाशीलता (activity) है; वह गतिशील (dynamic) है, स्थिर (static) नहीं। यदि हम रचना को क्रियात्मक न मानें, जो न केवल अपने भिन्न-भिन्न अंगों को पुनः सुसज्जित करती है वरन् अपने कार्य को भी निर्धारित करती है, तो हमको ज्ञात होगा कि यहाँ हमारा अधूरा रूपक निष्प्रयोजन हो जाता है। मेरी क्रियाशील मानसिक रचना मेरे अनुभव और व्यवहार के पीछे है जो निश्चय करती है कि वे क्या रूप लेंगे। उदाहरण के लिए, मेरी मानसिक रचना निश्चित करती है कि भयावह परिस्थिति में मैं भय का अनुभव करूँ और भाग जाऊँ, अथवा भाग जाने के आवेग (impulse) का अनुभव करूँ।

मानसिक रचना की इस परिकल्पना को मनोविज्ञान के संसार में अनेक विद्वानों ने मान लिया है परन्तु इसके वर्णन के लिए भिन्न-भिन्न शब्दों का प्रयोग किया है। इन शब्दों में कदाचित् मनःव्यवस्था (disposition रचना या विन्यास) सबसे अधिक महत्वशाली है। उदाहरण के लिए, स्टाउट

(Stout) कहता है कि "मनोवैज्ञानिक प्रत्येक पद पर मन-सम्बन्धी व्यवस्थाओं को मानने के लिए बाध्य होता है, वंशानुगत (hereditary) अथवा उपार्जित (acquired)। किसी क्षण पर हमारा वास्तविक अनुभव उन परिस्थितियों द्वारा निश्चित होता है जो स्वयं वास्तविक अनुभव नहीं हैं, वरन् पूर्व अनुभव के स्थायी प्रभाव हैं।"[1] मैकडूगल भी इस शब्द को रचना के अर्थ में प्रयोग करता है। अपनी पुस्तक "सामाजिक मनोविज्ञान"[2] में उसने इसे सहज मानसिक रचना का रूप दिया है और उसकी निर्णीत प्रवृत्तियों को भी स्वीकार किया है, परन्तु बाद की लिखी पुस्तक में 'मनःव्यवस्था' या 'मनःप्रवृत्ति' (disposition) का अर्थ उसने इस प्रकार लगाया है—"मन की रचना का कोई स्थायी भाग जिसके द्वारा मानसिक क्रिया का कोई विशेष रूप सम्भव है।"[3] इस पिछले सामान्य अर्थ में ही इस शब्द का प्रयोग यहाँ किया जायगा; मनःव्यवस्था (disposition) का अर्थ होगा मन की रचना का भाग जिनमें कुछ अंश तक एकरूपता हो।

एक और शब्द है जिसके विषय में चर्चा करना आवश्यक है। यह ऐसा शब्द है जिसके विषय में विवाद करते हुए हमको आशंका होती है, क्योंकि प्रत्येक नवीन मनोवैज्ञानिक इस शब्द को बहुत विश्वास के साथ और बिना समझे हुए प्रयोग करता है। 'अचेतन' (unconscious) शब्द का प्रयोग सबसे पहले खिन्न जर्मन दार्शनिक हार्टमैन (Hartman) ने किया था, जो उस दर्शन की प्रतिक्रिया के रूप में था जिसके अनुसार चेतना को सृष्टि में सर्वोच्च स्थान दिया गया था। वह 'अचेतन' को सर्वोच्च वास्त-

---

1. The Groundwork of Psychology, p. 7.
2. Social Psychology, pp. 29, 120.
3. An Outline of Psychology, p. 378.

विकता मानता था और उसको एक प्रकार का नृशंस दैत्य अथवा एक राक्षस के रूप में मानता था, जो मनुष्यों के जीवन के साथ खिलवाड़ करता रहता है। उसके विचारों से हम शिक्षा-मनोवैज्ञानिकों को कोई सरोकार नहीं है। हमारे लिए अधिक रोचक और अधिक महत्वपूर्ण मनोविश्लेषणवादियों (psycho-analysts) के मत हैं जिन्होंने यह स्वीकार करते हुए, जैसा कि हम भी मानते हैं, कि अनुभव जिसे हम अंतःप्रेक्षण द्वारा जानते हैं व्यवहार के निरीक्षित तथ्यों के लिए नितान्त अपर्याप्त है। उन्होंने हमारे सामने यह विचार रखा कि अचेतन एक प्रकार से चेतन का निम्न सदन है जिसमें विचार और इच्छाएँ पहुँचती हैं और इस प्रकार व्यवहार पर अधिक सामर्थ्य प्राप्त करती हैं।

हम यहाँ उन प्रतिवादों और असंगत बातों पर विवाद नहीं करना चाहते हैं जो मन के इस द्विसदनवाद सिद्धान्त (two-chamber theory) के परिणाम हैं। हम मनोविश्लेषणवादियों के ऋणी हैं जिन्होंने 'चेतना' मनोविज्ञान की अपूर्णता दिखाई, किन्तु हम उन मनोवैज्ञानिकों से पूर्ण सहमत हैं जो कहते हैं कि समय आ गया है जब हमको 'अचेतन' (unconscious) शब्द की ऐसी परिभाषा देनी चाहिए जो पूर्ण और निर्दोष हो। डाक्टर जेम्स ड्रेवर (Dr. James Drever) के अनुसार इस शब्द को हम मानसिक रचना के ही रूप में प्रयोग करेंगे। "यदि मनोविज्ञान में 'अचेतन' (unconscious) शब्द का प्रयोग एक विशिष्ट और पारिभाषिक शब्द के रूप में करना है, तो वह अनुभव के उन मनसम्बन्धी निर्धारकों (determinants) के लिए अथवा चेतन प्रक्रिया (conscious process) के लिए करना चाहिए जो स्वभावतः कभी चेतन हो नहीं सकतीं। इस प्रकार हमको मानसिक तथ्य दो प्रकार का मानना पड़ेगा,

चेतन प्रक्रिया और चेतन व्यवहार के अचेतन निर्धारक, अथवा चेतन (conscious) और अचेतन (unconscious) ।"[१]

अचेतन चेतन से भिन्न है, न केवल परिमाण मे वरन् प्रकार मे भी, जो रचना के तथ्यो की ओर निर्देश करता है, न कि अनुभव अथवा क्रिया की ओर। इस प्रकार, यदि हम इस प्रयोग से सहमत है, तो 'अचेतन' मे किसी चेतन अनुभव या विचार की धारणा विरोधाभास होगी। हम एक अर्द्ध-चेतन (subconscious) अनुभव के विषय मे विचार कर सकते है जिससे हमारा आशय होगा अग्राह्य अनुभव से, अथवा एक वह जिसका हमको केवल आभास मात्र है। परन्तु 'अचेतन' (unconscious) शब्द सम्यक् रूप से अनुभव के गुण नही वर्णन कर सकता, क्योकि वह उस मानसिक रचना को बताता है जो अनुभव को निश्चित करती है। उसके मुख्य गुण, उसके रूपान्तर और व्यवस्था ऐसे विषय है जिनका विवेचन अगले अध्याय मे किया जायगा।

इस प्रकार हमारे सामने दो मुख्य मनसम्बन्धी परिकल्पनाएँ है—पहली, अनुभव अथवा चेतन (conscious), और दूसरी क्रियाशील मनसम्बन्धी रचना, मन.व्यवस्था, अथवा अचेतन (unconscious), जहाँ क्रियाशील मन व्यवस्थाएँ (dispositions) अनुभव को निश्चित करती है। अब यह जानना शेष है कि यह सिद्धान्त अनुभव की तीन रीतियो—जानना (knowing), अनुभूति (feeling) और चेष्टा (striving)—पर अग्रेतर प्रकाश डाल सकता है अथवा नही। हम पहले देख चुके है कि प्रत्येक अनुभव मे तीनो विधियाँ प्रस्तुत रहती है। तो क्या अब हम इसका कारण बता सकते है और बलपूर्वक कह सकते है कि 'अवश्य ऐसा ही है ?'

---

1 Introduction to the Psychology of Education, pp. 22, 23.

सामान्य उदाहरण के रूप में निम्न श्रेणी के पशुओं में से एक का उदाहरण सहायक होगा जो बाह्य जगत से प्रभावित होता है और जो उसके प्रति विशेष रूप से प्रतिक्रिया करता है। लॉयड मॉरगन (Llyod Morgan)[1] ने भौंकते हुए पिल्ले के समक्ष बतख के बच्चे का उदाहरण दिया है। एक बतख का बच्चा तालाब में शान्तिपूर्वक तैर रहा है। अकस्मात् उसके जीवन में प्रथम बार तट से उस पर पिल्ला भौंकता है। तुरन्त ही वह पानी के नीचे चला जाता है। ये तथ्य हैं, और इसी प्रकार अन्य पशुओं के व्यवहार की जन्मजात रीतियों के विषय में भी कहा जा सकता है। इनका समाधान क्या है ?

पाठक को हम याद दिलाने की आवश्यकता नहीं समझते हैं कि इसका एक समाधान तो यांत्रिक (mechanical) बताया जाता है। कहा जाता है कि जंगली बतख एक पेचीदा भौतिक-रासायनिक (physico-chemical) यंत्र है और पिल्ले के दृश्य और स्वर ने उसे एक विशेष ढंग से चला दिया, ठीक उसी प्रकार जिस प्रकार कि हवा ऋतु-दर्शक (weather-vane) को गतिशील कर देती है। हमें इस समाधान को अस्वीकार कर देना चाहिए केवल इसलिए कि यह पशुओं के व्यवहार के तथ्यों को समझाने के लिए अपर्याप्त है। ऋतु-दर्शक (weather-vane) की गति भौतिक नियमों द्वारा समझाई जा सकती है, परन्तु बतख का व्यवहार उनसे ऊपर है।

दूसरा सम्भावित समाधान बतख के पक्ष में यह हो सकता है कि उसमें मनुष्य जैसी मानसिक शक्तियाँ हैं, अर्थात् परीक्षण करना (to judge), तर्क करना (to reason), निर्णय करना (to decide) और निश्चयन या संकल्प करना

---

1 Instinct and Experience.

(to will) । फिर हम यह कल्पना कर सकते हैं कि पशु अपने मन में इस प्रकार सोचता होगा—"यह मेरी जाति का बैरी है; सबसे अच्छी बात जो मैं कर सकता हूँ यह है कि मैं इसकी दृष्टि से ओझल हो जाऊँ; यदि मैं डुबकी लगा लूँ तो पिल्ला मुझे न देख सकेगा; मैं ऐसा ही करूँगा।" हममें से बहुत से इस नरत्वारोपण (anthropomorphic) समाधान को ऐसे निम्न श्रेणी के पशु के व्यवहार के प्रति सम्बद्ध करना पसन्द न करेंगे, क्योंकि कोई कारण नहीं मालूम होता कि हम यह मान लें कि उसकी मानसिक शक्तियाँ हमारी शक्तियों के समान हो सकती हैं। अवश्य ही कोई प्रशंसा की बात नहीं है जब हम कहते हैं कि हमारे एक साथी का "मुर्गी का सा मस्तक है।"

यदि हम इन दोनों समाधानों को अस्वीकार कर दें, तो क्या हमारे लिए कोई मध्य का मार्ग शेष रह जाता है ? ऐसा प्रतीत होता है कि एक तीसरा समाधान भी सम्भव है। इसमें हमको एक धूमिल-सा सूत्र मिलता है, जिससे जानना, अनुभूति करना और प्रयत्न करने का समाधान होता है।

यदि हम बतख के बच्चे को चेतना-शक्ति (energy) का केन्द्र मानें, एक ऐसा प्राणी जो जीवन-शक्ति से अनुप्राणित है, जिसकी मानसिक रचना उसे वाह्य जगत् से व्यापार कराने के लिए प्रेरणा दे रही है, तो हमको यह समझने में कठिनाई न होगी कि प्रयत्न करने का तत्त्व अनुभव में कहाँ प्रवेश करता है। पिछले विश्लेषण में चेष्टा (conation) सम्भवतः अचेतन की यही प्रेरणा है, और इस प्रकार प्रत्येक अनुभव का यह एक भाग है। परन्तु यह अग्रगामी प्रोत्साहन पशु को उत्तेजित करता है कि वह सामान्यतः अपने वातावरण पर ध्यान दे और विशेष कर इस बात को देखे कि उसके हित तथा कुशलता में कोई

बाधक तो नहीं है। इस ध्यान देने में ही अनुभव का मुख्य ज्ञान-मय रूप है; समस्त ज्ञान (cognition) अन्त में किसी वाह्य वस्तु पर प्रारम्भिक ध्यान देने से ही उत्पन्न होता है। हमारे उदाहरण में बतख के बच्चे की क्रियाशील मानसिक रचना ही उसको पिल्ले की ओर ध्यान देने को प्रेरित करती है। उसकी आँखें और कान प्रभावित होते हैं, स्नायु-आवेग मस्तिष्क में पहुँचते हैं, जहाँ कतिपय कोशाएँ (cells) क्रियाशील हो जाती हैं। इन शारीरिक क्रियाओं के साथ-साथ और उनसे घनिष्ट रूप से सम्बन्धित, कुछ मानसिक घटनाएँ भी होती हैं; हम कह सकते है कि मन को सामग्री (data) प्राप्त होती है। यही सामग्री है जो अनुभव का चेष्टा सम्बन्धी रूप है। परन्तु अनुभव स्वयं न तो आन्तरिक प्रेरणा (inner urge) है और न ज्ञान-सम्बन्धी सामग्री (cognitive data) है जो वाह्य जगत के सम्पर्क से प्राप्त हुई हो; वह आन्तरिक और वाह्य के मिलन या दोनों का सम्मिश्रण है। इस प्रकार ड्रैवर ने अनुभव का वस्तुगत (objective) वर्णन किया है, एक वर्णन जो अन्तःप्रेक्षण पर आश्रित नहीं है। उसने उसे दो बातों का मानसिक संश्लेषण (psychical synthesis) या संघटन (integration) बताया है—(१) चेष्टा-सम्बन्धी तत्त्व (conative element) जो स्वयं पशु से उदय हुआ और, (२) ज्ञान-सम्बन्धी तत्त्व (cognitive element) जिसका उद्गम अन्त में वाह्य जगत में है।

अनुभव का उपर्युक्त वर्णन चेष्टा-सम्बन्धी तत्त्वों का मनोवैज्ञानिक संघटन इस रूप में अपूर्ण है, क्योंकि अभी हमको भावात्मक (affective) रूप को बताना शेष है। ड्रैवर का कथन है कि प्रत्येक अनुभव में संवेदन या भावनावस्था (affect) केन्द्रीय

तत्त्व है, और चेष्टा-सम्बन्धी तथा ज्ञान-सम्बन्धी तत्त्वों का सम्मिश्रण सदा संवेदन का पुट है। उसकी राय में बतख के बच्चे को परिस्थिति की प्रतिक्रिया के रूप में "औचित्य की भावना" (feeling of worthwhileness) का धुँधला अनुभव अवश्य हुआ होगा। उसको अपनी भयावह स्थिति के सम्बन्ध में तर्क-वितर्क का पूर्ण अनुभव नहीं होता है; वह केवल अनुभूति करता (feels) है—हमको यह नहीं कहना चाहिए कि वह जानता है—कि उसे पानी में डुबकी लगा लेना श्रेयस्कर है। औचित्य की भावना (feeling of worthwhileness) की यही अनुभूति पिल्ला बतख के बच्चे को कराता है; इसीसे वह सम्बन्धित है, इसीसे उसे रुचि है। इस प्रकार ड्रैवर का मत है कि, अन्त में, भावना (feeling), अभिप्राय (meaning) और रुचि (interest) तीनों एक ही वस्तु हैं; और हम इसे अनुभव का मूल, केन्द्रीय, भावनात्मक रूप (affective aspect), औचित्य की भावना (feeling of worthwhileness), प्रारम्भिक अर्थ (primary meaning), अथवा प्रवृत्ति-रुचि (instinct interest) कह सकते हैं।

डाक्टर ड्रैवर ने यांत्रिक और नरत्वारोपण (anthropomorphic) मतों के बीच में यह समाधान देकर अत्यन्त महत्त्वपूर्ण कार्य किया है। हम फिर दोहराते हैं कि एक अनुभव चेष्टा-सम्बन्धी और ज्ञान-सम्बन्धी तत्त्वों का संश्लेषण है और इस संश्लेषण से केन्द्रीय भावात्मक तत्त्व की उत्पत्ति होती है। ड्रैवर का विचार है कि निम्न पशु भावात्मक तत्त्व (affective factor) का कम ज्ञान रखते हैं, अन्य शेष दो तत्त्व सावधानता के स्तर पर नहीं उठते। इस प्रकार चेतन-जीवन का आरम्भ भावना (feeling) के जगत में होता है, और पशु-संसार में ऊँचे स्तर पर ही चेष्टा-सम्बन्धी (conative)

और ज्ञानसम्बन्धी (cognitive) रूपों का भास होता है। फिर भी, बोधित हों अथवा न हों, ये तीनों आरम्भसे ही अनुभव के अभिन्न अंग हैं।

विशेष अध्ययन के लिए

McDougall : An Outline of Psychology, chapters i and ii; Psychology (Home University Library), chapter i.

Nunn : Education : its Data and First Principles, chapter ii.

Drever : Introduction to the Psychology of Education, chapters ii and iii.

Patrick : The World and its Meaning, cahpters vii, xii, xiii, xiv etc.

Stout : The Groundwork of Psychology, chapters i and iii.

Hoffding : Outlines of Psychology, chapters ii and iv.

: ३ :

मन की शक्तियाँ

(The Powers of the Mind)

मन की सामान्य शक्तियों का कुछ वर्णन देना मनोवैज्ञानिक का मुख्य कार्य सदा ही माना गया है। इस ओर पिछली पीढ़ी के श्रम के फल-स्वरूप मन को शक्तियों का एक समूह माना गया, जैसे स्मृति (memory), ध्यान (attention), तर्क (reason), निर्णय (judgement) इत्यादि। परन्तु अब शक्ति-मनोविज्ञान को नहीं माना जाता; उसने अज्ञानता को अनेक नामों द्वारा छिपाने का प्रयत्न किया और जब कठिनाई अनुभव की गई तो नयी शक्तियाँ आविष्कार करनी पड़ीं जिससे उसका कार्य आगे बढ़ सके। इसके अतिरिक्त, उसने मन की वास्तविक एकरूपता (unity) को अन्धकार में डाल दिया था, जिसकी शक्तियाँ अथवा व्यापार (working) की रीतियों में वस्तु-कल्पना की गई और उनका पृथक् अस्तित्त्व मान लिया गया। केवल एक उदाहरण लीजिए। स्मृति स्वयं कोई स्वतन्त्र वस्तु नहीं है। स्मृति से आशय है किसी के द्वारा कुछ स्मरण रखना, और यह केवल मन की एक विशेष क्रिया का नाम अथवा अनुभव की विधि है। परन्तु, जैसा कि आचार्य स्पीअरमेन (Professor Spearman) का विवेक-पूर्ण कथन है,[1] शक्तियाँ प्रत्येक संग्राम (battle) में हारती हैं, परन्तु युद्ध (war) के अन्त में सदा विजयी होती हैं। अमान्य शक्तियों ने एक रिक्त स्थान छोड़ दिया था, जिसे पीछे के मनो-

1 The Abilities of Man, P. 38.

वैज्ञानिकों को भरना पड़ा। स्टाउट ने "चेतन होने की विधियों" (modes of being conscious) को सामने रखा, और मेकडूगल ने हमको मूलप्रवृत्तियाँ (instincts) बताईं। अब हम को इस प्रश्न को लेना चाहिए और यह ज्ञात करने का प्रयास करना चाहिए कि मन की अत्यन्त सामान्य और मूल शक्तियाँ कौन सी है—हम उनको मानस-शक्तियाँ (faculties) नहीं कह सकते। यद्यपि हम उनका अलग वर्णन करेंगे, परन्तु फिर भी हम को स्मरण रखना चाहिए कि वे केवल मानसिक जीवन के रूप मात्र हैं, और उनका कोई पृथक् अस्तित्व नही है।

हमको याद ही है कि प्रथम तो एक मानसिक संस्थान (रचना) निर्माण करने में हमारा मुख्य हेतु एक परिकल्पना (hypothesis) तैयार करना था जो मनसम्बन्धी जीवन के उन रूपों का कारण बता सके जिनका मुख्य गुण स्थायित्व है। इस प्रकार मन का पहला सामान्य गुण संरक्षण की शक्ति (power of conservation) है; और इस मूल गुण के लिए हम नन (Nunn) के अनुसार 'संचय-शक्ति' (mneme) शब्द का प्रयोग करेंगे। इस प्रकार 'संचय' मन की उस शक्ति को कहते हैं जिसके कारण भूत-कालीन बातें स्मरण रखी जाती हैं। कोई मनोविज्ञान बिना इस प्रकार की शक्ति माने हुए आरम्भ नहीं किया जा सकता। जीवित प्राणियों के विषय में यह सामान्य सत्य है कि समस्त जीवन-प्रक्रिया अपने पीछे संस्थान (रचना) के रूपान्तरों (modifications) को छोड़ती है; हम स्वयं अपने इतिहास हैं, व्यक्तिगत और वंशा-नुगत दोनों अर्थों में। हमारे मानसिक जीवन के बारे में यह महान् सत्य है; हमारी मानसिक रचना में हमारे समस्त व्यक्तिगत अनुभवों के उत्तर-प्रभाव (after-effects) संचित हैं और सम्भवतः हमारे पूर्वपुरुषों के अनेक अनुभव भी।

संचय-शक्ति (mneme) का प्रथम उदाहरण जो हमारे मन

में आता है वह सामान्य अनुभव है जिसे हम स्मृति (memory) कहते है। इसका विस्तारपूर्वक विवेचन हम बाद के अध्याय में करेंगे। अभी तो हमको यह समझना है कि स्मृति का आशय पूर्व अनुभव को धारण करना है। जिस समय मैं लिख रहा हूँ, मुझे विगत रेल-यात्रा स्मरण हो सकती है। मुझे वह नही स्मरण रह सकती थी यदि मुझे यात्रा का अनुभव न हुआ होता, और उस अनुभव से सम्बन्धित किसी वस्तु के संरक्षण के कारण ही मैं उसे अब याद रख सकता हूँ।

परन्तु यह समझ लेना अति आवश्यक है कि जो कुछ स्मरण रहता है वह संरक्षित कोष का केवल एक छोटा-सा अंश है। 'संचय' (mneme) स्मृति की अपेक्षा बहुत अधिक विस्तृत शब्द है; स्मृति संचय है जो उच्च होकर अभिज्ञता (awareness) के स्तर पर उठ गई है। जब मैं पढ़ रहा हूँ मैं नहीं कहता हूँ कि मुझे वर्णमाला के अक्षर, अथवा मेरे पढ़ने के प्रथम पाठ, अथवा शब्दों के अर्थ याद हैं। निस्सन्देह विदेशी भाषा पढ़ते समय इस प्रकार मुझे स्मरण रखना पड़ता है, परन्तु अपनी मातृ-भाषा पढ़ते समय इस तरह की बातों के याद रखने की आवश्यकता नही ह। फिर भी यह स्पष्ट है कि अपने गत अनुभव के कारण ही मै जो कुछ पढ़ता हूँ उसे समझ पाता हूँ। इस प्रकार, यह ऐसा उदाहरण है जब कि संचय अभिज्ञता के स्तर के नीचे कार्य करता है। फिर, जब मैं एक मित्र को सड़क पर पहचानता हूँ तो यह नहीं कहता हूँ कि मुझे उसका चेहरा याद है; परन्तु मेरा उसे पहचानना पिछले अनुभवों के ही कारण सम्भव है जो मेरे मित्र के विषय में थे, और इस प्रकार यह संचय का प्रादुर्भाव (manifestation) है। मनोविज्ञान की प्रयोगशाला से बिना-स्मृति-के-संचय (mneme without memory) का एक स्पष्ट उदाहरण मिलता है। किसी व्यक्ति से अनेक निरर्थक शब्दांश (nonsense

syllables) सीखने के लिए कहा जाता है जब तक कि वह उन्हें दोहरा न सके; कुछ दिन के उपरान्त शब्दांशों की उस माला को दोहराने के लिए उससे फिर कहा जाता है, और असफल होने पर उससे उन्हें दोबारा सीखने को कहा जाता है। इस बार उसे पहले अवसर की अपेक्षा कम अभ्यास की आवश्यकता होती है अर्थात् उसे कम बार दोहराना पड़ता है। यह स्पष्ट है कि यद्यपि स्मृति विफल हो गई, परन्तु कुछ अंश अवश्य स्मरण रहे आये।

यह निश्चय है कि निम्न कोटि के पशुओं में यह संचय-शक्ति प्रस्तुत है। कोई भी यह न कहेगा कि उनमें चेतन स्मृति (conscious memory) की शक्ति है, परन्तु सभी अनुसन्धानों से यह निष्कर्ष निकलता है कि वे अनुभव द्वारा सीख सकते हैं। एक प्रयोग में एक कीड़ा अंग्रेजी अक्षर Y के आकार की नली के तल में पहुँचाया जाता है, और प्रति दिन यह क्रिया पाँच बार दोहराई जाती है। आरम्भ में ऐसा नहीं होता है कि वह Y की एक शाखा में होकर प्रवेश करे और दूसरी में नहीं; और यह देखा गया है कि लौटते समय जब कि वह मार्गों की शाखाओं के संगम पर पहुँचता है तो जितनी बार एक मार्ग से निकलता है उतनी ही बार वह दूसरे मार्ग से भी निकलता है। परन्तु प्रयोगकर्ता एक मार्ग में विद्युत् के धक्के का प्रबन्ध कर देता है। फिर, सौ बार के प्रयत्न के पश्चात् वह लगभग सदा उस मार्ग से जाता है जिससे उसे धक्का लगने का भय नहीं है। इस प्रकार कीड़े में भी अपना भूतकालीन अनुभव संचय करने की शक्ति है।

पशुओं में अपने पूर्व अनुभवों को धारण करने की अपेक्षा अपने पूर्वजों के अनुभवों को संचय करने की शक्ति और भी अधिक है। अन्यथा हम और किस प्रकार पशुओं के अद्भुत मूल-प्रवृत्ति-सम्बन्धी (instinctive) व्यवहार को समझा सकते हैं?

हमको जाति की पूर्व परम्परा की ओर जाना पड़ता है यह देखने के लिए कि कुत्ते धरती पर बैठने से पहले कई बार घूमते हैं, चिड़ियाँ अपनी जाति-परम्परा के अनुसार ही घौंसले बनाती हैं और समुद्र को विशेष स्थानों पर पार करती हैं, कछुए विशिष्ट स्थानों पर ही अण्डे देते हैं, इत्यादि, इत्यादि। इस प्रकार संचय-शक्ति जाति-परम्परा के अनुसार कार्य करती है। हममें भी वंशानुगत संचय (racial mneme) की यह अद्भुत शक्ति है। उदाहरणार्थ, हम बड़े होते हुए मानो याद रखते हैं न केवल मनुष्योचित शारीरिक आकृति को, वरन् मनुष्य-जाति के मानसिक इतिहास के बहुत से अंश को भी।

इस प्रकार, संचय-शक्ति (mneme) मन की अत्यन्त सामान्य धारणा-शक्ति है। यह स्पष्ट रूप से समझ लेना आवश्यक है कि जो धारण किया जाता है वह क्या है। यह मान बैठना ठीक न होगा कि स्वयं अनुभव ही संचय कर लिये जाते हैं, और एक प्रकार से शीत-निधान (cold storage) में रख दिये गये हैं जो आवश्यकता पड़ने पर भविष्य में निकाल लिये जायँ। एक बार हम फिर दोहराना चाहते हैं कि अनुभव व्यक्ति का केवल व्यापार अथवा प्रक्रिया (activity) मात्र है और उसका कोई स्वतन्त्र अस्तित्व नहीं है। एक प्रस्तुत अनुभव होता है और सदा के लिए विलीन हो जाता है, और वह वापस कभी नहीं आ सकता। जो संचित किया जाता है वह अनुभव नहीं है, वरन् उसका उत्तर-प्रभाव है। अनुभव अपने पीछे मानसिक रचना का एक रूपान्तर (modification) छोड़ जाता है; शरीरविज्ञान-वेत्ता बतलाते हैं कि वास्तविक मस्तिष्क-पदार्थ में ही कुछ रूपान्तर हो जाता है, और हमको यह मान लेना चाहिए कि मानसिक रचना में भी कुछ हेरफेर हो जाता है। इन परिवर्तनों अथवा अनुभव के उत्तर-प्रभावों के लिए एक नाम की आवश्यकता है; हम इनको स्मृति-

चिह्न (memory traces) के नाम से पुकार सकते हैं, परन्तु हम सर परसी नन के अनुसार इनको 'संस्कार' (engrams) कहेंगे, जो अधिक उपयुक्त शब्द है। संस्कार मानसिक रचना में अनुभव का स्थायी उत्तर-प्रभाव है; वह स्वयं अनुभव नहीं है वरन् एक व्यवस्था (disposition) है—रचना या संस्थान का तथ्य. मन की क्रिया का नहीं।

हमने पिछले अध्याय में यह भी देखा था कि मानसिक रचना का एक अत्यावश्यक गुण क्रियाशीलता है। मानसिक रचना अनुभव और व्यवहार का क्रियात्मक रूप निर्णीत करती है तथा वह व्यक्ति को अपने वातावरण में अन्य दूसरी वस्तु की अपेक्षा विशेष वस्तु पर ध्यान देने के लिए, एक विशेष रीति से संवेदन करने के लिए और अन्य दूसरे कार्य की अपेक्षा एक विशेष कार्य को करने के लिए प्रेरित करती है। मन का यह व्यापार जीवन का मूल लक्षण है। भिन्न-भिन्न लेखकों ने इसके अलग-अलग नाम रखे हैं, जैसे जीवित-रहने-की आकांक्षा, जीवन-शक्ति (*elan vital*), जीवन-संकल्प (the life urge), जीवन-प्राण (vital principle) और चेतना (libido)। कदाचित् उपर्युक्त शब्दों से अधिक उपयुक्त शब्द प्रयोजन (horme) है, क्योंकि यह शब्द आवेग या प्रेरणा (urge) के स्वभाव के किसी सिद्धान्त का प्रतिपादन नहीं करता। इस शब्द का प्रस्ताव सबसे पहले नन (Nunn) ने रखा था। वह लिखता है कि, "प्रेरणा के इस तत्त्व का एक नाम, चाहे वह मनुष्यों और उच्च कोटि के पशुओं के चेतन जीवन में हो, और चाहे वह उनके शरीरों की अचेतन क्रियाओं में और निम्न पशुओं के अचेतन व्यवहार में हो, 'प्रयोजन' (horme) कहा जा सकता है।"

हम प्रयोजन (horme प्रेरणा) की परिभाषा केवल इस

प्रकार देंगे—मानसिक रचना की क्रियाशीलता अथवा अचेतन (activity of the mental structure or unconscious)।

प्रयोजन ही किसी न किसी नाम से लेमार्क (Lamarck), बटलर (Butler), बर्गसन (Bergson) और बर्नर्ड शॉ (Benard Shaw) का मूलभूत स्वीकृत पक्ष है, जब कि वे जीवन और विकास के मूलतत्त्वो का विवेचन करते है। इसी कल्पना पर नन (Nunn) का अधिकांश शिक्षा-दर्शन और शिक्षा-मनोविज्ञान आधारित हे; जब कि मेकडूगल (McDougall) ने यह सिद्ध करने मे बहुत परिश्रम किया है कि अनेक मौलिक भेद होते हुए भी वह और फ्रायड (Freud) दोनो ही मनोविज्ञान के सिद्धान्त (hormic theory) को मानते है। मेक्डूगल ने अपनी युग-प्रवर्तक पुस्तक 'सामाजिक मनोविज्ञान की भूमिका' (An Introduction to Social Psychology) मे इस शब्द को वास्तव मे प्रयोग नही किया है, परन्तु उसकी विवेचना मे प्रयोजन का भाव बराबर निहित रहता है। अब उसने नन से यह शब्द अगीकार कर लिया है, क्योंकि इससे उसका आशय ठीक-ठीक पूरा हो जाता है।

संचय शक्ति (mneme) के समान ही प्रेरणा या प्रयोजन (horme) के भी सबसे अधिक स्पष्ट उदाहरण हमको स्वय अपने चेतन जीवन मे ही मिलते है। हमारे भीतर जो प्रेरणा अथवा प्रोत्साहन हे उससे हम भली-भाँति अवगत है; हम जिसे प्रयत्न, इच्छा, उद्यम, सकल्प (trying, desiring, striving and willing) कहते है—और सक्षेप मे वे समस्त मानसिक दशाएँ, जो चेष्टा (conation) मे सम्मिलित है—प्रयोजन के ही उदाहारण है, जो स्पष्ट ज्ञान के स्तर पर आ गयी है। परन्तु ठीक जिस प्रकार संचय (mneme) स्मृति की अपेक्षा अधिक

व्यापक शब्द है। हम पौधों और निम्न पशुओं के व्यवहार में प्रयोजन पाते हैं। जब किसी छोटे लार्च (larch) नामक वृक्ष की चोटी काट दी जाती है तो सबसे ऊँची बगल वाली शाखा धीरे-धीरे बढ़ती है। यहाँ तक कि नयी चोटी बन जाती है; और जब करकेंटे की पूँछ काट दी जाती है तो उसके नयी पूँछ बढ़ आती है। हम यह कहने लगते हैं कि वह वृक्ष और पशु एक स्थिर शारीरिक आकार सुरक्षित करने के प्रबल इच्छुक हैं। परन्तु हम इस बात को मानने को तैयार नहीं हैं कि जो कुछ वे कर रहे हैं उसका उनको आभास है। किन्तु हम यह कह सकते हैं कि समस्त प्रकार के जीवों में प्रयोजन या प्रेरणा (horme) समान रूप से पायी जाती है जो उन्हें इस प्रकार व्यवहार करने को प्रेरित करती है। फिर, हमने पिछले अध्याय में बतख के व्यवहार में प्रयोजन का उदाहरण अभिज्ञता के स्तर के नीचे ज्ञात किया था, परन्तु उस पशु को सम्भवतः प्रयत्न का भास न था और वह केवल उपयुक्तता (worthwhileness) की सूक्ष्म भावना का अनुभव कर रहा था। फिर, एक अकेली बर्र के कार्य में हम प्रयोजन का आभास पाते हैं जो रेंगते हुए कीड़े को इस प्रकार डंक मारती है कि उसे अधमरा कर देती है परन्तु मारती नहीं, और अपने छत्ते में घसीट कर ले जाती है जिससे उसके बच्चों को आवश्यकता पड़ने पर नवीन भोजन प्राप्त हो सके; परन्तु यहाँ भी प्रयोजन स्पष्ट अभिज्ञता (awareness) के स्तर से नीचा है। यह केवल जीवन के उच्च रूपों में ही है जब प्रयोजन प्रयत्न के एक बोधित अनुभव को निश्चित करता है।

स्वयं हमारे शारीरिक और मानसिक जीवन में चेतन स्तर के नीचे प्रयोजन या प्रेरणा के अनेक उदाहरण मिलते हैं। हम रक्त-संचालन करते हैं, हम साँस लेते हैं, हम भोजन को पचाते हैं, हम रोग के विरुद्ध युद्ध करते हैं; ये सब प्रयोजनमूलक या

प्रेरणिक (hormic) क्रियाएँ है। जब हम चाक़ू से उँगली काट लेते है तो बिना किसी चेतन प्रयत्न के हमारी प्रक्रिया इस प्रकार होने लगती है कि हमारी खाल पुनर्जीवित हो जाय और घाव भर जाय। जब हम अपने बाल काट लेते है तो हमारा प्रयोजन (horme) अचेतन रूप से हमको प्रेरित करता है और वे फिर उगने लगते है। तीव्र प्रकाश से आँखों की रक्षा करने के लिए हम उन्हें प्रयोजन के ही कारण बन्द कर लेते है। प्रयोजन के ही कारण आघात का भय होने पर बिना किसी चेतन चेष्टा के हम अपने सिर को झुका लेते है। प्रयोजन (horme) मन का दूसरा बड़ा लक्षण है, और यह जीवन के समस्त स्तरों पर कार्य करता है, वंशानुगत और व्यक्तिगत दोनों अर्थो में।[1]

चर्चा की सुविधा के लिए प्रयोजन या प्रेरणा (horme) और संचय-शक्ति (mneme) को पृथक् कर दिया गया है; परन्तु यह विचार करना भ्रम है कि दोनों का स्वतन्त्र अस्तित्व है। वे एक-सी वस्तु कल्पनाएँ (hypostatizations) है, अर्थात् दोनो मानसिक जीवन के ही रूप है जिनका पृथक् अस्तित्व हम थोड़े समय के लिए विचार कर सकते है, परन्तु जो वास्तव में एक-दूसरे से अलग नही है। अब हम मानसिक जीवन के तीसरे पहलू के सम्बन्ध में विचार कर सकते है जिसमें संचय-सम्बन्धी और प्रयोजन-सम्बन्धी दोनों सिद्धान्तों का समावेश है। ड्रैवर ने इस प्रकृति को संलाग (cohesion) कहा है। अनुभव के फलस्वरूप संस्कार (engram) अगल-बगल मे एक-दूसरे से नितान्त पृथक् नही रहते, वरन् संलग्न होकर नई समष्टियाँ (new wholes) बनाते हैं। वे एक

---

१ प्रेरणा या प्रयोजन की विस्तृत व्याख्या के लिए Nunn's Education : its Data and first Principles, chapter iii देखिए।

जीवित प्राणी के क्रियाशील अंग हैं, और उनका प्रयोजन-सम्बन्धी गुण उनमें ही मानसिक रचना में प्रस्फुटित होता है। ड्रैवर के अनुसार हम मानसिक रचना के अंगों की इस शक्ति को, जो उन्हें क्रमबद्ध और संघटित करने में सहायक होती है, 'अन्तःमन-सम्बन्धी प्रक्रिया' (endopsychic process) कह सकते हैं।

संलाग (cohesion सम्बन्ध या संयोग) का तथ्य मनोविज्ञान में दीर्घ काल से प्रत्ययों के समागम (association of ideas) के प्रसिद्ध सिद्धान्त के रूप में माना गया है। दुर्भाग्यवश एक अत्यन्त आवश्यक सिद्धान्त पूर्ण समाधान के रूप में मान लिया गया, क्योंकि समागमवादियों (associationist school) ने इसके द्वारा समस्त मानसिक जीवन की व्याख्या ही करना चाहा। प्रत्ययों (ideas) की स्वाधीन सत्ता मानी गई जिनमें एक-दूसरे से समागम करने की शक्ति थी। मनोवैज्ञानिकों ने कदाचित् रसायन-शास्त्र की उन्नति से प्रभावित होकर चेतना के तत्त्व को अणु और परमाणुओं में विश्लेषण करने का प्रयत्न किया, जिनको उन्होंने प्रत्ययों (ideas), प्रतिबिंबों (images) और इन्द्रिय-संवेदन (sensations) के रूप में देखा। फिर, उन्होंने उसको एक-दूसरे से समागम के सिद्धान्त द्वारा संलग्न करने का प्रयत्न किया, परन्तु फल निकला मन का एक संशयपूर्ण वर्णन। समागमवादियों (associationists) का दोष यह था कि वे मन की एकता को भूल रहे थे। उन्होंने जिन अणु व परमाणुओं की खोज की थी वे केवल वस्तु-कल्पनाओं (hypostatizations) के रूप में थे।

फिर भी यह कहना होगा कि समागमवादियों ने मानसिक जीवन के एक अत्यन्त महत्त्वपूर्ण सिद्धान्त पर बल दिया था जिसको हम अपने सामान्य सिद्धान्त द्वारा अधिक स्पष्ट ढङ्ग से कह सकते हैं। वे संस्कार (engrams) हैं अथवा अनुभव के

उत्तर-प्रभाव हैं, न कि स्वयं प्रत्यय, जिनमें एक-दूसरे से संलग्न होने की और मिलकर नई इकाइयों में सम्मिश्रण होने की शक्ति है। हर्बार्ट (Herbart) ने अपने 'पूर्वानुवर्ती ज्ञान-पिंड' (apperception masses) नामक सिद्धान्त में मन की इस समागम-शक्ति को स्वीकार किया; परन्तु यदि हम संस्कारों (engrams) के संयोजनों को 'भावनाग्रन्थि' (complexes) कहें तो यह वर्त्तमान प्रयोग के अधिक अनुकुल होगा।

हमको संलाग (cohesion) के मत के कुछ परिणामों पर अधिक ध्यान देना होगा और यह परीक्षण करना होगा कि वह मानसिक जीवन के तथ्यों के अनुकूल हैं अथवा नहीं। ऐसा करने से पहले यह जान लेना उत्तम होगा कि वह किस सिद्धान्त के अनुसार होता है। कौन से संस्कार (engrams) संलग्न हो जाते हैं और क्यों?

समागमवादियों ने इस प्रश्न का विश्वासपूर्ण उत्तर दिया और बताया कि समागम सामीप्य (निकटता) के नियम (Law of Contiguity) के अनुसार होता है। उनका कहना था कि वे प्रत्यय जो एक साथ आते हैं सहचरण होने लगते हैं। इस प्रकार, जब मैं किसी बात को स्मरण करता हूँ जो कल हुई थी, तो मेरी प्रवृत्ति कुछ अन्य बात को भी याद करने की ओर होती है जो उसी समय हुई थी, अथवा शीघ्र ही उसके पश्चात् हुई थी। निस्सन्देह इस सिद्धान्त में बहुत-सा सत्य है, परन्तु वह प्रमुख बिन्दु से हटा हुआ है। बल की दृष्टि से हम केवल कुछ निरर्थक शब्दों के समागमों की तुलना पद्य की एक पंक्ति से करते है, और हम तुरन्त इस निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि समागम में अर्थ अत्यन्त महत्त्वपूर्ण स्थान रखता है। प्रोफेसर स्टाउट ने निष्फल समागम-वाद (barren associationism) को समाप्त कर दिया, जब उन्होंने यह कहा कि मुख्य सिद्धान्त सामीप्य (contiguity)

नहीं, वरन् रुचि की निरन्तरता (continuity of interest) है। वे संस्कार (engrams) जो एक विशेष सम्बन्ध में व्यक्ति से सम्बद्ध हैं, संलग्न होने की प्रवृत्ति रखते हैं।

निम्न सुप्रसिद्ध उदाहरण इस आवश्यक विषय का स्पष्टीकरण करेगा। एक छोटी बिल्ली ने एक नौकरानी से मित्रता करने का प्रयत्न किया जो उसकी भाड़ के पीछे-पीछे दौड़ती थी और उसके फर्श साफ करने के बुरुश व साबुन से खेलती थी। नौकरानी ने अपने कार्य में इन बाधाओं का मूल्य न समभा, और एक दिन बिल्ली को बुरी तरह पीटा। फल यह हुआ कि बिल्ली भाड़ू सहित किसी भी नौकरानी को देख कर आपे से बाहर हो जाती थी। फलतः उस घर का यह नियम बना दिया गया कि किसी नौकरानी के आते ही बिल्ली एक कोठरी में बन्द कर दी जाय। यह भावनाग्रन्थि (complex) के बनने का उदाहरण है। बिल्ली ने एक साथ नौकरानी, उसका स्वर, कष्ट, भय और क्रोध का अनुभव किया। बाद को अनुभव की इन वस्तुओं में से केवल एक को देखकर ही आत्मरक्षा के हेतु उसके रोंगटे खड़े हो जाते थे और वह स्त्री पर आक्रमण करने को उतारू हो जाती थी। बिल्ली के इस व्यवहार से स्पष्ट था कि प्राथमिक घटनाओं के क्रम के फलस्वरूप जो संस्कार (engrams) हुए थे वे संलग्न हो गये थे। फिर, स्पष्ट है कि यह बंध रुचि का था, क्योंकि इन सब अनुभवों ने एक विशेष रूप से पशु पर प्रभाव डाला। कष्ट से दूर रहने में और भयावह वस्तु को दूर रखने की रुचि ने संस्कारों को बहुत पक्का जोड़ दिया।

संलाग के सिद्धान्त के द्वारा ही मानसिक जीवन के कुछ सुप्रसिद्ध और रोचक तथ्यों का समाधान किया जा सकता है। ये तथ्य अंग्रेजी की निम्न कहावत में निहित हैं, "हम गर्मी में

बर्फ पर फिसलना सीखते हैं और जाड़ों में तैरना।" किसी भी दिशा में निपुणता प्राप्त करने की प्रक्रिया में 'विश्राम' के विवेक-पूर्ण अवकाश लाभप्रद होते हैं, जबकि बुद्धिपूर्वक सीखने में भी ऐसे ही तथ्य दिखाई पड़ते हैं। यह एक प्रसिद्ध युक्ति है कि किसी समस्या को रात भर के लिए छोड़ दिया जाय, चाहे वह चलन-सम्बन्धी हो अथवा गणित-सम्बन्धी। परिणाम यह होता है कि वह रात की रात में सुलझ जाती है। दृढ़ीकरण की यह घटना केवल विश्राम व ताजगी द्वारा नहीं समझाई जा सकती। हमको स्वीकार करना पड़ेगा कि दक्षता प्राप्त करने के प्रयत्न के फल-स्वरूप अथवा समस्या हल करने के फलस्वरूप बने हुए संस्कार मन की पृष्ठ-भूमि पर सम्बद्ध होने और पूर्ण करने का कार्य जारी रखते हैं, जब कि व्यक्ति का ध्यान अन्य विषयों की ओर लगा रहता है। यहाँ भी रुचि का सिद्धान्त अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है। जितना ही अधिक कोई मनुष्य अपनी विशेष असुविधाओं को दूर करने में या अपनी समस्या को सुलझाने में लगा रहता है—अर्थात् जितना ही अधिक कोई कार्य स्व-स्थापन (self-assertion) की दृष्टि से अधिक सम्बद्ध है—उतना ही शीघ्र दृढ़ीकरण (consolidation) होगा। सफलता की प्रबल आकांक्षा दृढ़ीकरण में सदा सहायक होगी। एक छात्र ने एक बार ग्रन्थकर्ता से यह कहा कि गणित के एक निर्मेय में कई घंटे तक वह अत्यन्त प्रबल रुचि से उलझा रहा। जब वह न सुलझी तो उसने तय किया कि वह उसे वहीं छोड़ दे और सो जाय। बहुत सवेरे वह जागा तो क्या देखता है कि निर्मेय की पूर्ति उसके मस्तिष्क में मौजूद है। इससे हम इस परिणाम पर पहुँचते हैं कि संस्कारों की संलग्नता से जो भावना-ग्रन्थि बन गई थी वह प्रकाशन के हेतु इतनी क्रियाशील और उत्सुक थी कि बेचारा छात्र पूरी नींद सो भी न सका।

पूर्व स्मृति के कार्यो का समाधान भी इसी प्रकार किया जा सकता है जिनका आधार अब दक्ष प्रयोगों द्वारा दृढ़ किया जा चुका है। डा० बैलर्ड (Dr. Ballard) ने सिद्ध किया है कि जब कोई कविता याद की जाती है तो सीखने के बाद ही वह उतनी नही याद होती जितनी दो दिन के अवकाश के पश्चात् स्मरण हो जाती है। इससे यह प्रदर्शित होता है कि पूरी कविता सीखने से सम्बन्धित भावना-ग्रन्थि को दृढ़ीकरण मे कुछ समय लगता है; और दो दिन का अवकाश बहुत अनुकूल प्रतीत होता है।

दृढ़ीकरण का सिद्धान्त (principle of consolidation) किसी बात को स्मरण रखने का प्रयत्न करने के सुप्रसिद्ध अनुभव पर भी प्रकाश डालता है। हम प्रायः किसी नाम के पुनर्स्मरण करने (recall) का यत्न करते है, और प्रयत्न छोड़ देना पड़ता है; अकस्मात् ही जब हम दूसरी बातों के विषय में विचार करते रहते है, आवश्यक नाम चेतना में घूमने लगता है। इस बीच मे क्या हो गया ? हमारे प्रयत्नों ने भिन्न-भिन्न संस्कारों और भावना-ग्रन्थियों को उत्तेजित कर दिया, जिन्होंने प्रयत्न छोड़ देने के पश्चात् भी अपना दृढ़ीकरण का कार्य जारी रखा, और तैयार होने पर उस नाम को चेतना में डाल दिया। छात्रों ने स्मरण करने के प्रयत्न में कभी-कभी एक विचित्र भाव (feeling) का अनुभव किया होगा कि इच्छित विषय चेतना की ठीक सीमा पर ही है; हमारे सिद्धान्त के अनुसार, यह संगत संस्कारों के दृढ़ीकरण के अन्त से ठीक पूर्व के प्रक्रम (semi-final stage) को प्रकाशित करता है।

प्रत्येक मनुष्य, जो स्वयं अपने मन का अध्ययन करता है, इन तथ्यों से अवगत है और ये समस्त बौद्धिक कार्य के मितव्यय (economy) में महत्त्वपूर्ण है। अनुभवी छात्र जानता है कि

किसी निर्धारित निबन्ध को लिखने के लिए तुरन्त जुट जाना समय का सर्वोत्तम सदुपयोग नही है। अधिक अच्छी योजना यह है कि विषय को चित्त मे धीरे-धीरे पकने दिया जाय, उसके सम्बन्ध मे पढा जाय, और जब कभी उसके विषय में सोचा जाय। जब निबन्ध के लिखने का समय आता है तो बहुधा यह देख कर आश्चर्य होता है कि आशा से परे उसका एक सुन्दर स्वरूप बन जाता है और संगत विचार एक-दूसरे के पीछे बड़े वेग से चले आते है, यदि लेखक ने दृढ़ीकरण को अपना कार्य करने के लिए समय दे दिया है। अभ्यस्त वक्ताओं का अनुभव भी ऐसा ही है; वे जानते है कि सोचने के लिए समय मिलना अत्यन्त आवश्यक है, परन्तु वे प्रत्येक बात को लिपिबद्ध नही करते। बीच-बीच में सोचने और ध्यानपूर्वक विचार करने से एक भावना-ग्रन्थि (complex) का दृढ़ीकरण हो जाता है जो व्याख्यान देते समय उस पर पूरा प्रभाव रखती है। कम अभ्यस्त वक्ता को परामर्श दिया जा सकता है कि वह अपने सम्पूर्ण व्याख्यान को लिख डाले अथवा उसकी पूरी रूपरेखा अङ्कित कर ले, और व्याख्यान देते समय अपनी पांडुलिपि (manuscript) को न देखे। बहुधा परिणाम यह होता है कि लिखे हुए की अपेक्षा व्याख्यान अधिक सुन्दर हो जाता है।

दृढ़ीकरण का एक अन्तिम उदाहरण हम निपुणता की प्राप्ति में देख सकते है। किसी निपुणता के कार्य को करने से पहले प्रयत्न में अनेक अनावश्यक और असंगत ढंग से हाथ-पैरों का संचालन किया जाता है, जो अभ्यास बढने पर, बहुधा सीखने वाले के चेतन प्रयास बिना ही प्रायः छोड़ दिया जाता है। फिर, पूर्ण क्रिया पर शासन करने वाली भावना-ग्रन्थि बनती जा रही है और रुचि के प्रबल सिद्धान्त की अधीनता में उसका दृढ़ीकरण

हो रहा है; संगत संस्कारों का दृढ़ीकरण संलाग हो रहा है, परन्तु जिनका दृढ़ीकरण नहीं हो पाता है वे भावना-ग्रन्थि के बाहर निकल जाते हैं। एक प्रसिद्ध प्रयोग में थॉर्नडाइक (Thorndike) ने एक भूखी बिल्ली को पिंजड़े में बन्द कर दिया और भोजन उसकी दृष्टि में ही बाहर रख दिया। व्यवस्था इस प्रकार की गई कि बिल्ली एक सरल क्रिया द्वारा मुक्त हो सके और भूख दूर कर सके। बिल्ली पहले पिंजड़े में चारों ओर घूमी और एक यत्न के पश्चात् दूसरे यत्न में लगी; अन्त में, कई प्रयत्नों और भूलों के पश्चात् उसे उचित क्रिया सूझ पड़ी और वह मुक्त हो गयी। बाद के अवसरों पर यह ज्ञात किया गया कि बिल्ली को अधिक शीघ्र सफलता मिल गयी, यहाँ तक कि अन्त में वह अविलम्ब खटके को उठा कर बाहर निकलने लगी। इस प्रयोग में हम दृढ़ीकरण करने में आद्य रुचि या महत्त्व देखते हैं। फिर, प्रत्येक सफल आचरण दृढ़ीकरण के कार्य में सहायक होता है; अंग्रेजी कहावत "Nothing succeeds like success" इस सिद्धान्त की सत्यता को चरितार्थ करती है। सर टी० पर्सी नन के शब्दों में "सफल स्व-स्थापन (self-assertion) मनुष्यों की भाँति पशुओं में संचय-सम्बन्धी आधार का इस प्रकार रूपान्तर करता है कि प्रस्तावित कार्य सुरक्षित और सरल रीति से सम्पादित हो जाय।"

मन सम्बन्धी जीवन के इन तथ्यों का शैक्षिक महत्त्व जितना स्पष्ट है उतना ही महत्त्वपूर्ण है। किसी भी बात के सीखने में दृढ़ीकरण (consolidation) के लिए हमको समय देना पड़ेगा। विश्राम के अवकाश उतने ही आवश्यक हो सकते हैं जितने अभ्यास के काल के, चाहे कार्य हस्त-निपुणता का हो अथवा बौद्धिक हो। नवयुवक अध्यापक को एकदम हताश न होना चाहिए, यदि वह देखता है, जैसा कि प्रायः होगा ही, कि कभी-कभी उसकी कक्षा

में कोई उन्नति नहीं दिखाई देती। धरातल के नीचे दृढ़ीकरण हो रहा है, और यदि वह धैर्यवान् है तो वह अपने परिश्रम का फल देखेगा कि समय आने पर उसके छात्र एकदम आगे बढ़ जाते हैं। जैसा कि हम आगे चल कर देखेंगे, विकास के कुछ प्रक्रम प्रकृति के दृढ़ीकरण के समय प्रतीत होते है।

अन्त में, हमको मानसिक रचना के संपरिवर्तन (modification) और संघटन (organisation) के कुछ परिणामों का परीक्षण करना चाहिए। बिल्ली और नौकरानी का उदाहरण फिर लिया जाय। प्रथम बार जब बिल्ली अपने को उस विशेष परिस्थिति में पाती है, जब वस्तुएँ फर्श पर गतिशील हैं, तो वह अपने स्वभाव की प्रेरणा के अनुसार प्रतिक्रिया करती है और प्रयत्न करती है कि उनको पकड़े और उनसे खेले। ड्रैवर के अनुसार बिल्ली की भावना (feeling) है कि इस प्रकार की प्रतिक्रिया उसके लिए उचित है,और उपयुक्तता या औचित्य (worthwhileness) की यह भावना ही उसके लिए गमनशील वस्तुओं का अर्थ है; अपनी जन्म-जात मानसिक रचना से वह प्रेरित होती है कि वह उनको अपने से सम्बद्ध करे और इस प्रकार उनको एक अर्थ देती है। हम इसको सहज संस्थान अथवा नैसर्गिक रचना (innate structure) कह सकते हैं, जो एक विशेष परिस्थिति का एक विशेष अर्थ निर्देश करती है, जिसे प्रारम्भिक व्यवस्था (primary disposition) कह सकते है, और इस प्रकार के अर्थ को प्रारम्भिक अर्थ कह सकते है। परन्तु बाद के अवसरों पर परिस्थिति का अर्थ नितान्त भिन्न हो जाता है; औचित्य की मूल भावना के स्थान पर बिल्ली सोचती है कि भलो स्त्री पर आक्रमण करना ही उचित है। यह अवश्य ही गौण अर्थ है और यह अपने निजी अनुभव का परिणाम है, न कि अपने मौलिक स्वभाव का। मौलिक प्रारम्भिक व्यवस्था परिवर्तित और

विस्तृत हो गयी है; अब वह गौण व्यवस्था बन गयी है और उन्हीं इन्द्रिय-संस्कारों का अर्थ अब बिलकुल भिन्न है। इस प्रकार अनुभव प्राथमिक व्यवस्थाओं (primary dispositions) को गौण व्यवस्थाओं (secondary dispositions) में बदल देता है, और प्राथमिक अर्थों को गौण अर्थों में।

प्राथमिक व्यवस्थाओं के संपरिवर्तन के परिणामों पर अधिक विचार किया जा सकता है; यह वास्तव में एक प्रक्रिया है जो जन्म के समय आरम्भ होती है और समस्त जीवन जारी रहती है। इस समय यह कहना यथेष्ट होगा कि किसी परिस्थिति का अर्थ उसी परिस्थिति में गर्भित नहीं है, परन्तु मन में है जो अनुभूति करता है और उसके प्रति प्रतिक्रिया करता है। अर्थ निरन्तर समृद्ध हो रहे हैं, इसलिए नहीं कि वाह्य संसार में पदार्थ बदल रहे हैं, वरन् इसलिए कि मन में धीरे-धीरे उत्तरोत्तर पूर्ण और दुरूह गौण मनःव्यवस्थाएँ (dispositions) इकट्ठी होती जाती हैं।

विशेष अध्ययन के लिए

Nunn : Education : its Data and First Principles, chapters iii, iv, v.

Drever : Introduction to Psychology of Education, chapter iii.

McDougall : Outline of Psychology, chapter ii.

: ४ :

मूलप्रवृत्ति और संवेग

(Instinct and Emotion)

मन की सामान्य शक्तियों के सम्बन्ध में बिचार करते समय हमने उसके दो मुख्य व्यापार (functions) ज्ञात किये थे— (१) प्रयोजन अथवा प्रेरणा (horme) या मन की सामान्य अभिप्रायपूर्ण क्रियाशीलता, और (२) संचय-शक्ति (mneme) अर्थात् संरक्षित करने, पुष्ट करने और पूर्व अनुभव द्वारा प्राप्त तत्त्वों को व्यवस्थित करने की शक्ति। परन्तु जैसा हम मन को जानते हैं उसके अनेक व्यापार और भी हैं जो ध्यान देने, वातावरण के अनुसार कार्य करने और भूतकालीन बातों को संचय करने जैसी सामान्य शक्तियों की अपेक्षा बहुत अधिक निश्चित और निर्दिष्ट हैं। आरम्भ से ही वह विशेष दशाओं में क्रियाशील होता है—वह अपने स्वामी को प्रेरणा देता है कि वह एक बात को देखे और दूसरी को नहीं, एक काम को करे दूसरे को नहीं। छोटे शिशु के आवेग (impulses) भी निश्चित होते है और वे निश्चित दिशाओं में होते हैं। उदाहरण के लिए, उसे भोजन को ग्रहण करना तथा बेचैनी के समय रोना सिखाने की आवश्यकता नहीं है। हम ऐसे प्रयोजन या प्रेरणा (horme) को लेकर पैदा होते हैं जो पहले से ही भिन्न और विशिष्ट हैं, और हमारा मानसिक संस्थान (रचना) पहले से ही संस्कार-मनोग्रन्थियों (engram-complexes) में व्यवस्थित होता है। हममें

सुरक्षित है न केवल हमारा व्यक्तिगत भूत काल, वरन् हमारी जाति (अर्थात् मानव जाति) का भी।

जिन तथ्यों की ओर हम संकेत कर रहे हैं उनके लिए 'मूल-प्रवृत्ति' (instinct) और मूलप्रवृत्त्यात्मक (instinctive) शब्दों का प्रयोग किया जाता है, अर्थात् कतिपय विशेष परि-स्थितियों में व्यवहार के कुछ विशिष्ट स्वाभाविक ढंग होते हैं जिन्हें हमको सीखने की आवश्यकता नहीं होती और जो एक जाति के सभी सदस्यों में पाये जाते हैं; और इसलिए, हमारे सामान्य सिद्धान्त के अनुसार व्यवहार की इन रीतियों के पीछे कोई निश्चित जन्मजात मनःस्वभाव अथवा संस्कार-मनोग्रन्थियाँ (engram-complexes) अवश्य होनी चाहिए। फिर, हम मूलप्रवृत्ति की परिभाषा कैसे करेंगे ? विवाद करने तथा समझने से पहले कोई सरल परिभाषा नहीं बना लेनी चाहिए, और उत्तम यह होगा कि किसी परिभाषा से आरम्भ करने के बजाय हम किसी परिभाषा तक पहुँचें। परन्तु एक कामचलाऊ परिभाषा तो बनाई ही जा सकती है। साधारण बातचीत में जिस प्रकार इस शब्द का प्रयोग किया जाता है वह विशेष सहायक नहीं है; उदाहरण के लिए, हम कहते हैं कि एक अच्छा हारमोनियम बजाने वाला अपनी अँगुलियों को प्रवृत्तियों के अनुसार उचित स्वरों पर रखता है, एक गणितज्ञ में समस्या को हल करने की उत्तम विधि की मूल प्रवृत्ति (instinct) है, इत्यादि। परन्तु शब्द के ये प्रयोग अत्यन्त शिथिल हैं। व्यवहार की मूलप्रवृत्त्यात्मक विधियाँ अवश्य वे हैं जो जन्मजात हैं और जिनको सीखना नहीं पड़ता है, जो शिक्षालयों और व्यक्तिगत अनुभव से मुक्त है। हम कह सकते हैं कि मूलप्रवृत्ति व्यवहार की स्वाभाविक अथवा वंशानुगत विधि है। उदाहरण के लिए, एक भयावह परिस्थिति में हम जन्मजात प्रवृत्ति के ही कारण सुरक्षा का स्थान ढूँढ़ते हैं,

और इसलिए हम पलायन की प्रवृत्ति की चर्चा कर सकते हैं। परिभाषा की इस रीति में मुख्य आपत्ति यह है कि व्यवहार की क्रिया सदा नही होती। क्योंकि हममें स्वयं व्यवहार पर नियंत्रण करने की शक्ति है, मूलप्रवृत्ति को व्यवहार की विशेष रीति के प्रति जन्मजात आवेग (impulse) कहना उचित होगा; इस प्रकार, हमारे उदाहरण में, मूलप्रवृत्ति भाग जाने का आवेग होगा। ऐसी परिभाषा मूलप्रवृत्ति के प्रेरणात्मक (hormic) रूप पर बल देगी। परन्तु उसके संचयात्मक (mnemic) रूप पर भी उतना ही बल देना सम्भव और आवश्यक है, और उसकी परिभाषा मानसिक रचना की दृष्टि से बतलानी है कि मूलप्रवृत्ति एक परम्परागत या स्वाभाविक संस्कार-मनोग्रन्थि अथवा मनःव्यवस्था (disposition) है जो अपने स्वामी को किन्हीं विशेष पदार्थों के सम्बन्ध मे कुछ विशिष्ट रीतियों के अनुसार व्यवहार करने को निर्णीत करती है। यदि हम 'मूलप्रवृत्ति' शब्द को संस्थान (या रचना) के लिए ही प्रयोग करें और इस प्रकार अपने मानसिक संकल (make-up) में उसके स्थायी स्थान पर बल दें, तो अन्य प्राप्य तथ्यों को वर्णन करने के लिए हम मूलप्रवृत्त्यात्मक व्यवहार की विधियों (instinctive modes of behaviour) और मूलप्रवृत्त्यात्मक आवेगों (instinctive impulses) का भी प्रयोग कर सकते हैं।

एक सरल उदाहरण इसको स्पष्ट कर देगा। मैं एक हाते वाले खेत में अकेला हूँ; घूमकर क्या देखता हूँ कि एक साँड़ मेरी ओर आ रहा है, और मै अत्यन्त वेग से निकटतम फाटक के पास पहुँचता हूँ। यह प्रवृत्ति जन्मजात मनःव्यवस्था (disposition) है जो मेरे व्यवहार के पीछे प्रस्तुत है; भाग जाने का आवेग प्रवृत्तिमूलक आवेग है, और भागने की वास्तविक क्रिया मूलप्रवृत्त्यात्मक व्यवहार है।

शिक्षक को यह ठीक-ठीक जानना अति आवश्यक है कि मनुष्य में कौन-कौन सी मूलप्रवृत्तियाँ हैं, क्योंकि शिक्षा-सम्बन्धी समस्त समस्याओं के लिए वे ही अन्तिम सामग्री होंगी। अधिकार के प्रति याचना निर्णयात्मक न होगी, क्योंकि मनोवैज्ञानिक अभी विवाद ही कर रहे हैं कि व्यवहार के कौन से रूप मूलप्रवृत्त्यात्मक हैं और कौन से नहीं। कुछ मूलप्रवृत्तियों की संख्या एक या दो बताते हैं और शेष चालीस तक गिनाते हैं। सामंजस्य की इस उत्साहहीन कमी का समाधान थोड़े ही विचार द्वारा किया जा सकता है। मूलप्रवृत्तियों की संख्या केवल विशिष्टता की मात्रा पर निर्भर है जिस पर बल दिया जा रहा हो। सबसे अधिक सामान्य मूलप्रवृत्ति सामान्य मनःव्यवस्था (general disposition) ही है जो हमको अपने वातावरण पर ध्यान देने के लिए और उसके सम्बन्ध में क्रियाशील होने के लिए प्रेरित करती है; दूसरे शब्दों में, समष्टि रूप में यह जन्मजात मानसिक रचना, अपने प्रयोजन (प्रेरणा) और संचय-शक्ति के रूपों में है। परन्तु, जैसा हम देख चुके हैं, कदाचित् ही ऐसा कोई प्राणी होगा जिसकी प्रवृत्तियाँ इससे अधिक विशिष्ट हों। सभी पशु किसी बात पर ध्यान देते हैं और किसी अन्य पर नहीं, तथा एक काम करते हैं और दूसरा नहीं। बतख के व्यवहार में हम इस प्राकृतिक देन का उदाहरण देख चुके हैं। इसलिए प्रश्न यह है कि प्रयोजन या प्रेरणा (horme) की पृथक्-पृथक् विशेषताओं को हमको कहाँ तक एक दूसरे से भिन्न समझना चाहिए, जो मूलप्रवृत्तियाँ कहे जाने योग्य हों।

विकास के प्रगति-मार्ग के बहुत आरम्भ में ही हमको मूल प्रयोजन या प्रेरणा (horme) का द्विविभाजन मिलता है, क्योंकि पशु को दो भिन्न-भिन्न लक्ष्यों की ओर जाने की प्रेरणा मिलती है। वातावरण की उन वैस्तुओं के प्रति जो व्यक्तिगत

कुशलता को प्रभावित कर सकती हैं; सबसे पहले केवल बोध होता है, और फिर प्रतिक्रिया की जाती है। दूसरे, उन वस्तुओं की ओर ध्यान दिया जाता है जो पशु की जाति की कुशलता को प्रभावित कर सकती है। इस प्रकार पशु में दो प्रमुख मूल-प्रवृत्तियाँ है, एक आत्म-रक्षा और दूसरी जाति-रक्षा। इनको प्रायः क्रमशः आत्म-प्रवृत्ति और यौन-प्रवृत्ति कहते है, यद्यपि 'यौन' शब्द का अर्थ जो यहाँ लगाया गया है सामान्य अर्थ से अधिक विस्तृत है। इसमें अधिक सन्देह की गुञ्जाइश नहीं है कि समस्त पशु-जीवन में ये दो मूल प्रवृत्तियाँ पायी जाती है।

एक या दूसरे की प्राथमिकता का प्रश्न कुछ रोचक है। मनोवैज्ञानिकों की एक विचार-धारा के लोगों का निश्चित मत है कि हमारे मानसिक दाय में यौन-प्रवृत्ति का प्रथम स्थान है। उनका यह मत मुख्यकर मनोविश्लेषण के परिणामों पर आधारित है। इसकी पुष्टि इस बात से और की जाती है कि निम्न पशुओं में ऐसे अनेक उदाहरण पाये जाते है जब कि वे अपनी जाति के हित के लिए अपने व्यक्तिगत जीवन का बलिदान कर देते हैं। परन्तु इस विचार-धारा के लोग आत्म-प्रवृत्ति के प्रति न्याय नही करते। यथार्थ मत सम्भवतः यह है कि दोनों ही प्रवृत्तियाँ शक्तिशाली हैं, और प्रयोजन या प्रेरणा (horme) के मूल वृक्ष की शाखाएँ है। इस मत की पुष्टि अमीबा (amœba) नामक कीटाणु से होती है, जो आत्म-रक्षा तथा जाति-रक्षा के दोनों आश्चर्यजनक कार्य एक ही साथ करता है। इस निम्नस्थ पशु के भाग्य में अमरत्व ही लिखा है; अमीबा केवल बढ़ता है और दो भागों में बँट जाता है, परन्तु मृत्यु से बच जाता है तथा एक ही और उसी कार्य द्वारा अपनी जाति को बढ़ाता है। सोपान (scale) के दूसरे सिरे पर, अर्थात् मनुष्य में, दोनों प्रवृत्तियाँ इतनी भिन्न है कि वे बहुधा एक-दूसरी से संघर्ष में आ जाती हैं

और व्यक्ति को विरोधी दिशाओं की ओर जाने को प्रेरित करती हैं। यह द्वन्द्व बहुत से आधुनिकतम उपन्यास और नाटकों का पुराना तथापि अत्यन्त रोचक विषय है। परन्तु मनुष्य के सम्बन्ध में भी कुछ ऐसे विचार हैं, जो दोनों प्रवृत्तियों के एक-ही आरम्भ की ओर संकेत करते हैं। परिवार की नींव डालना अवश्य ही जाति-रक्षा का उत्तम उदाहरण है, और साथ ही आत्म-रक्षा का उत्तम साधन भी है; और जब तक मनुष्य के सन्तान है उसका अंश भौतिक अर्थ में भी मौजूद है, जो अब भी जीवित है।

इन दोनों के साथ-साथ ही एक तीसरे आवेग का भी अभ्युदय होता है जो समूह के हित का उत्कर्ष करता है। यह समूह-प्रवृत्ति (herd instinct) उपर्युक्त दोनों प्रवृत्तियों के समान न इतनी महत्त्वपूर्ण है और न इतनी मौलिक, और सम्भवतः इन्हीं दोनों की सेवा में इसका पोषण हुआ है। स्पष्ट है कि समूह-आवेग आत्म-रक्षा का अन्त करने में सहायक होता है; परन्तु साथ ही साथ यह जाति-रक्षा में सहायक होता है क्योंकि इसीके द्वारा उचित सहभागी जोड़ा करते हैं और छोटों की रक्षा के लिए अधिक अवसर मिलता है। मानव-समाज इसी समूह-प्रवृत्ति के आधार पर बना है। इसे हम सामाजिक व्यवहार नहीं कह सकते क्योंकि यह पीछे का वर्द्धन है, और इसमें त्याग और आत्म-बलिदान भी निहित हैं।

अब तक हमने विस्तृत सामान्यता की तीन मूल प्रवृत्तियाँ ज्ञात की हैं। अलंकृत भाषा में हम इनको प्रयोजन या प्रेरणा (horme) के वृक्ष की मुख्य शाखाएँ कह सकते हैं, जिनमें दो बड़ी और महत्त्वपूर्ण हैं और तीसरी कुछ छोटी है। किन्तु विकास के मार्ग में वृक्ष बराबर बढ़ता रहता है और उत्तरोत्तर शाखाएँ निकालता रहता है। इस प्रकार बाद के प्रक्रमों में हम अधिक मूल प्रवृत्तियों का भेद कर सकते हैं। हम आगे यह भी

कल्पना कर सकते हैं कि हमारे अलंकृत वृक्ष में शाखा को शाखा से जोड़ने की शक्ति है और समस्त एक जटिल रूप धारण कर लेता है। परन्तु यह स्पष्ट है कि हमको ज्ञात होने वाली प्रवृत्तियों की संख्या इस बात पर निर्भर होगी कि हम कितनी ऊँचाई पर समकोण-खण्ड (cross-section) लेते हैं। हमने इसे अभी तो उस स्थान पर लिया था जहाँ दो मुख्य शाखाएँ एक गौण शाखा से मिलती हैं। अब हमको मूल तने से कुछ आगे बढ़ना चाहिए। मेकडूगल ने विषय[1] की विद्वत्तापूर्ण व्याख्या में वृक्ष का अध्ययन उस बिन्दु तक किया जहाँ उसे सात शाखाएँ मिलीं, पीछे के अध्ययन[2] में उसे चौदह शाखाएँ मिलीं जो मूलप्रवृत्तियाँ कहे जाने योग्य हैं।

मेकडूगल के विचार में मूलप्रवृत्ति (instinct) जन्मजात अथवा वंशानुगत मानसिक रचना है जो अपने स्वामी को किन्हीं विशेष परिस्थितियों में विशेष कार्य करने के लिए निर्णीत कराती है। इस प्रकार अपने ज्ञानमूलक पक्ष में मूलप्रवृत्त्यात्मक मनःव्यवस्था (instinctive disposition) संघटित होती है जिससे वह किसी विशेष उत्तेजक द्वारा क्रियाशील होने लगती हैं; और अपने चेष्टामूलक पक्ष में एक कार्य की अपेक्षा दूसरा कार्य किया जाता है। उसने प्रवृत्तिमूलक मनःव्यवस्था की उपमा एक ताले से दी है जो उचित चाबी से ही खोला जा सकता है, अर्थात् वह विशिष्ट उत्तेजक जिसके कारण अपनी नैसर्गिक व्यवस्था के फलस्वरूप वह प्रतिक्रिया कर सकता है। किसी मनःव्यवस्था को मूल प्रवृत्ति कहे जाने के लिए उसे जन्मजात होना आवश्यक है, जो उसकी जाति के सभी सदस्यों में पायी जाती हो और जो ऊँची श्रेणी के पशुओं और मनुष्यों में भी मिलती हो। हम नीचे

---

1 An Introduction to Social Psychology.
2 An Outline of Psychology.

मेकडूगल के परिणामों का संक्षिप्त परिचय देते हैं। परन्तु याद रहे कि कोई भी संक्षिप्त वर्णन मूल के अध्ययन और अत्यन्त रोचक वर्णन का स्थान नहीं ले सकता है।

(१) सर्व प्रथम मेकडूगल ने पैतृक मूलप्रवृत्ति (parental instinct) का वर्णन किया है, और उसको "प्रकृति का उज्ज्वलतम और सुन्दरतम आविष्कार" और "बुद्धि (Intellect) तथा आचार (Morality) दोनों की माता" बतलाया है। इस प्रवृत्ति की सबसे अधिक प्राचीन कुंजी पशु के स्वयं अपने बच्चों का विलोकन, स्वर अथवा गंध है, परन्तु विशेषकर उनके दुख का नाद। यह प्रवृत्ति, जाग्रत होने पर, अपने स्वामी को प्रेरित करती है कि वह अपने बच्चों की रक्षा करे अथवा उनको भोजन दे। परन्तु मनुष्य में यह प्रवृत्ति अनगिनत रूपों में परिवर्तित और विकसित हो सकती है। हममें रक्षा करने और प्रेम करने का आवेग किसी भी अपने साथी को दुर्बलता अथवा कष्ट में देखकर अथवा विचार करके जाग्रत हो जाता है। यह रक्षा कोई भी रूप ले सकती है—एक बच्चे अथवा वृद्ध स्त्री को भरी सड़क को पार करने में सहायता देने से लेकर संसद मे बच्चों के प्रति अत्याचार पर रोक लगाने के विधान बनाने तक।

(२) योधन की मूलप्रवृत्ति (instinct of combat) बच्चों पर संकट पड़ने पर तुरन्त जाग्रत हो जाती है, अर्थात् ऐसी परिस्थिति द्वारा जो पैतृक मूलप्रवृत्ति के कार्य में बाधक होती है। परन्तु यह किसी सहज लक्ष्य की प्राप्ति में बाधा पड़ने के कारण भी जाग्रत हो जाती है; इस प्रकार, उदाहरण के लिए, भोजन-प्राप्ति के आवेग में बाधा पड़ने पर तुरन्त ही योधन की भावना जाग्रत हो उठती है। यह योधन-आवेग आरम्भ में ऐसी बाधा को दूर करने का प्रयत्न करता है; परन्तु केवल इसके असफल होने पर नाश करने का प्रयत्न किया जाता है।

(३) योधन की भाँति जिज्ञासा या उत्सुकता (curiosity) अन्य मूल प्रवृत्तियों के सम्बन्ध में क्रियाशील होती है। जब कोई पदार्थ अथवा परिस्थिति किसी अन्य से मिलती-जुलती है जो दूसरी मूल प्रवृत्ति को क्रियाशील बना देती है परन्तु देखने में वह इतनी स्पष्ट नहीं होती, तो जिज्ञासा की मूल प्रवृत्ति जागरूक हो उठती है। उसका आवेग इस प्रकार के पदार्थ अथवा परिस्थिति के विषय में अधिक पूर्ण ज्ञान प्राप्त करने के रूप में होता है। यह अपने स्वामी को उस पदार्थ या परिस्थिति के निकट जाने और उसके परीक्षण को प्रेरित करता है। हम इसे एक बिल्ली के व्यवहार में स्पष्ट देखते हैं, जिसमें चूहे से मिलता-जुलता और गतिमान छोटा-सा पदार्थ देख कर भोजन प्राप्त करने का आवेग जाग्रत होता है, वह उसके पास पहुँचती है और झपट कर उसे पंजों से पकड़ लेती है, और इस प्रकार वह उस वस्तु के गुणों से परिचय प्राप्त करती है।

(४) मेकडूगल का कथन है कि भोजन-अभिलाषा (food-seeking) "अवश्य पहली मूल प्रवृत्ति है जो प्राथमिक प्रयोजनीय शक्ति अर्थात् जीवन-शक्ति (*elan-vital*) से भिन्न बताई जा सकती है।" स्पष्ट है कि आत्म-रक्षा की यह प्रथम आवश्यकता है। भोजन के दृश्य अथवा गन्ध से यह क्रियाशील हो उठती है और पाचन-अंगों की विशेष दशा से भी। इस प्रकार यह ऐसा आवेग है जिसका सम्बन्ध केवल बाहरी पदार्थों से ही नहीं है वरन् शारीरिक दशाओं से भी है; ड्रैवर के शब्दों में यह 'क्षुधा-वर्द्धक' (appetitive) और 'प्रतिक्रियाशील' (reactive) दोनों है। इसका विशेष आवेग निःसन्देह भोजन की खोज और उसे खा जाना है।

(५) विकर्षण अथवा अप्रियता (repulsion) कदाचित् समस्त मूल प्रवृत्तियों में सबसे सरल है। इसका आदि आरम्भ

मुँह में किसी अरोचक वस्तु का अस्तित्त्व है, और इसकी प्रारम्भिक प्रतिक्रिया उस अप्रिय वस्तु को बाहर निकाल देना है। परन्तु मनुष्य में यह आवेग अनेक उच्च रूपों में पाया जाता है। यह निर्दयता, असत्य और सब प्रकार की दुष्टता के प्रति घृणा के रूप में परिष्कृत किया जा सकता है।

(६) पलायन (escape) की मूल प्रवृत्ति कई कुञ्जियों से खोली जा सकती है, परन्तु इनमें सबसे अधिक महत्त्वपूर्ण उच्च और आकस्मिक कोलाहल है। इसकी अन्य कुञ्जियाँ हैं किसी बड़ी वस्तु की आकस्मिक गति, जाति के अन्य सदस्यों का आर्त्तनाद, दैहिक कष्ट, और सामान्यतः कोई रहस्यपूर्ण वस्तु तथा भयावह पदार्थ। इसका आवेग है सुरक्षित स्थान पर पहुँचना और छिप जाना; प्रक्रिया के आरम्भ में प्रायः भय का नाद किया जाता है।

(७) समूह-प्रवृत्ति (gregarious instinct) को जाति के अन्य सदस्यों को देख कर, विशेष शब्दों को सुन कर और विशिष्ट गन्धों को सूँघ कर उत्तेजना मिलती है। पशु में इन उत्तेजकों से यह प्रतिक्रिया होती है कि वह दूसरों के निकट पहुँचना चाहता है। यह बतलाने की आवश्यकता नहीं है कि मनुष्य में केवल दूसरों का विचार ही, प्रत्यक्षीकरण के बिना ही, इस प्रवृत्ति को क्रियाशील करने के लिए यथेष्ट है।

(८, स्व-स्थापन अथवा आत्म-गौरव (self-assertion) एक महत्त्वपूर्ण मूल प्रवृत्ति है जो अपने से निम्न साथियों को देख कर जाग्रत होती है। इसका रूप होता है बल का प्रदर्शन, अथवा किसी और अपना बड़प्पन दिखाना, जैसे गौरवपूर्ण चाल अथवा स्वयं का गर्वपूर्ण प्रदर्शन।

(९) आत्म-लघुता (self-abasement) पूरक प्रवृत्ति है, जिसको जाति के अधिक श्रेष्ठ व्यक्ति के अस्तित्व से उत्तेजना मिलती है। इसके साथ-साथ नम्रीभूत होना, अनुनय-विनय करना

तथा नीचे रेंगने का आवेग रहता है, और प्रायः अधीनता की प्रवृत्ति (attitude) हो जाती है। यह मूल प्रवृत्ति शुद्ध रूप में पालतू कुत्ते के व्यवहार में देखने को मिलती है, जब वह कोई साहस का कार्य करके लौटता है जिसमें उसने कुछ बातें ऐसी की हों जो उसे नहीं करनी चाहिए थीं।

(१०) काम प्रवृत्ति या वासना प्रवृत्ति (mating instinct) को संकीर्ण अर्थ में हम यौन प्रवृत्ति (sex instinct) कह सकते हैं, और यह अपने से भिन्न यौन के उचित सदस्य के अस्तित्त्व द्वारा अथवा शरीर के यौन-स्थानों के संवेदन या बोधन (perception) से जाग्रत होती है। यह प्रवृत्ति, भोजन-अभिलाषा की भाँति यद्यपि वाह्य संसार के पदार्थों के प्रति प्रक्रियाशील होती है, परन्तु क्षुधावर्द्धक भी होती है क्योंकि उसकी क्रियाशीलता शरीर की एक दशा पर आंशिक रूप से निर्भर है। जैसा कि ज्ञात ही है फ्रायड (Freud) की विचारधारा के लोग इस प्रवृत्ति को मनोविज्ञान का मूल तत्त्व मानते हैं।

(११) संचय प्रवृत्ति (acquisitive instinct, की कुञ्जी ऐसी वस्तुओं का अस्तित्त्व है जो विशेषकर भोजन के लिए अथवा घर को सजाने के लिए उपयुक्त हों। उसका आवेग कभी-कभी केवल सामग्री को प्राप्त कर लेना है, और कभी-कभी उसकी पूर्णरूप से रक्षा करना भी है। यह मूल प्रवृत्ति कंजूस आदमी में अपनी चरम सीमा पर देखी जाती है।

(१२) विधायकता या रचना की प्रवृत्ति (constructive instinct, प्रारम्भ में घोंसला अथवा घर बनाने के सामान के अस्तित्व से आरम्भ होती है। पशु किसी प्रकार का घोंसला अथवा घर बनाने के लिए प्रेरित होता है। बालकों के व्यवहार में हम इस प्रवृत्ति को बहुत स्पष्ट रूप से कार्य करते हुए देखते हैं, जब वे रक्षा का स्थान बनाते हैं, घर का निर्माण करते हैं अथवा गुफाओं

को सजाते हैं। इसके लिए वे किसी भी उपलब्ध सामग्री को काम में ले लेते हैं।

(१३) संवेदना की प्रवृत्ति (instinct of appeal) तब जाग्रत होती है जब योधन-प्रवृत्ति का लक्ष्य पूरा नहीं हो पाता है। हम देख चुके हैं कि योधन स्वयं उसी दशा में जाग्रत होता है जब किसी दूसरी प्रवृत्ति को ठेस पहुँचती है; और जब संग्राम स्वयं परिस्थिति पर अधिकार नहीं कर पाता है, पशु के पास कोई चारा नहीं रहता सिवाय दूसरों से सहायता माँगने के, विशेषकर अपने माता-पिता से। वह इसे संवेदन (appeal) के शब्द द्वारा करता है।

(१४) हास (laughter), यदि इसको मूलप्रवृत्ति समझा जाय, केवल मनुष्य में ही मिलता है, पशुओं में नहीं। इस विचित्र मूल प्रवृत्ति को खोलने के लिए कौन-सी कुञ्जी है? मेगडूगल का कथन है कि यह एक परिस्थिति है जो हमको दुःखित करेगी अथवा कष्ट देगी, यदि हम न हँसें। हास एक ओर क्रोध का निरा-करण (antidote) है और दूसरी ओर सहानुभूति का। जब हम किसी दूसरे व्यक्ति को कष्टप्रद परिस्थिति में देखते हैं, तब या तो उसके साथ सहानुभूति प्रदर्शित करते हैं अथवा हमको हँसी आती है। यदि हम सदा सहानुभूति ही प्रदर्शित करते रहें तो हमको जिस किसी के सम्पर्क में हम आयेंगे प्रत्येक व्यक्ति के कष्ट तथा दुःख में भागी होना पड़ेगा। इसलिए प्रकृति ने इस असहनीय दशा को दूर रखने के लिए हास का आविष्कार किया है जो ऐसी परि-स्थितियों की वैकल्पिक प्रतिक्रिया है।

यह, अति संक्षेप में, मेकडूगल द्वारा हमारी जन्मजात प्रवृत्तियों (innate tendencies) का वर्णन है। इस मत पर अनेक

आलोचनाएँ होने के कारण एक बात पर हम विशेष बल देंगे। मूलप्रवृत्तियाँ मन की पृथक् शक्तियाँ नहीं मानी जाती हैं, वरन् प्राणी को अपने वातावरण के समझने और उसके प्रति क्रियाशील होने की सामान्य शक्ति के स्थानीय भेदीकरण माने जाते हैं।[१] वे प्रयोजन या प्रेरणा (horme) के मूल वृक्ष की केवल शाखाएँ हैं। इस प्रकार मन मूलप्रवृत्तियों के समूहमात्र से अधिक है। यह एक जीवी (organism) है, एक इकाई है जिसमें मूलप्रवृत्तियाँ केवल आकृतियाँ या पहलू (aspects) हैं जिनके विषय में हम अलग विचार कर सकते हैं, परन्तु जिनका पृथक् अस्तित्व नहीं है। वे यंत्र नहीं हैं जिनका दास मन है, वरन् मन की विशेष क्रियाएँ हैं या विशेष विधियाँ हैं जिनमें मन क्रियाशील रहता है। परन्तु कोई आलोचक 'मनोविज्ञान की रूपरेखा' को पढ़ कर उस के रचयिता को यह लांछन नहीं लगा सकता है कि उसने मूलप्रवृत्तियों के अध्ययन में अपने को बिलकुल खो दिया है। वह बार-बार इस तथ्य को स्पष्ट करता है कि एक मूल प्रवृत्ति दूसरी की सेवा में पनपती है। इस प्रकार योधन अन्य सभी मूलप्रवृत्तियों के सम्बन्ध में विकसित हुआ, विशेषकर पैतृक प्रवृत्ति के सम्बन्ध में। भोजन की खोज का सम्बन्ध पैतृक प्रवृत्ति से घनिष्ट है, जब कि विकर्षण भोजन की खोज के साथ-साथ बढ़ा। स्व-स्थापन और अधीनता का सम्बन्ध एक ओर समूह की प्रवृत्ति से और दूसरी ओर वासना प्रवृत्ति या काम-प्रवृत्ति से है। फिर, जो लोग यह कहते हैं कि मेकडूगल की चौदह मूलप्रवृत्तियों से अधिक प्रवृत्तियाँ हैं, उनके लिए सरल उत्तर है। हमको केवल यह कहना है कि वृक्ष में और भी शाखाएँ निकल सकती हैं, परन्तु हमने अपने वर्णन में जाति की प्रधान जन्मजात प्रवृत्तियों (innate tendencies) की गणना कर दी है।

1 See Nunn, Education : Its Data and First Principles, p. 157.

मेकडूगल के सिद्धान्त के शैक्षिक व्यवहरण से पहले हमको एक और प्रश्न पर गम्भीरतापूर्वक विचार करना पड़ेगा जिसका महत्त्व सिद्धान्त तथा व्यवहार दोनों दृष्टि से अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है, अर्थात् मूलप्रवृत्ति (instinct) में संवेग (emotion) का स्थान।

कदाचित् मेकडूगल के तर्क की महानतम विशेषता यह है कि वह इस बात पर बल देता है कि एक विशेष संयोग केन्द्रीय है, अनिवार्य है और प्रत्येक मूलप्रवृत्ति का अपरिवर्तनशील रूप है। इस प्रकार वह कहता है कि भय का संवेग (emotion) पलायन की प्रवृत्ति का केन्द्रीय पहलू है, क्रोध योधन का अभिन्न साथी है, इत्यादि। उसके तर्क का आधार सामान्य बुद्धि के विचार हैं, उस का कहना है कि जब हम निम्न पशुओं के व्यवहार में प्रेरकों को देखते हैं तो हम मूलप्रवृत्ति के सिद्धान्त की सहायता लेते हैं, परन्तु जब हम मनुष्य के व्यवहार की ओर दृष्टिपात करते हैं तो संवेग (emotion) की सहायता लेते हैं। इस प्रकार हम कहते हैं कि यह मूलप्रवृत्ति है जो चींटी को अपनी विचित्र दौड़-धूप की चर्या के लिए प्रेरित करती है, परन्तु मनुष्य क्रोध या गर्व या भय में ही एक विशेष प्रकार का व्यवहार करता है। कुत्ते पर दोनों ही सिद्धान्तःलागू हैं; जब उसका व्यवहार चतुरतापूर्ण नहीं होता तब हम कहते हैं कि वह मूलप्रवृत्ति के कारण है, परन्तु जब हम उसमें स्वयं अपने समान प्रेरक बता सकते हैं तब हम कहते हैं कि वह संवेग (emotion) के फलस्वरूप है। तो, सामान्य बुद्धि यह कहती है कि मनुष्य और उच्च पशुओं में प्रेरक (motives) ही संवेग (emotions) हैं; परन्तु निम्न पशुओं में वे मूलप्रवृत्तियाँ हैं। तो फिर क्या प्रकृति में कार्य के दो सिद्धान्त हैं, संवेग और मूल प्रवृत्ति ? क्या विकास के पथ में प्रकृति ने मूलप्रवृत्ति के सिद्धान्त की छँटनी कर दी है जिसने अब तक इतनी अच्छी तरह कार्य

किया, और उसके स्थान पर दूसरा सिद्धान्त लागू कर दिया है ? मेकडूगल का कहना है कि नहीं, सिद्धान्त एक और वे ही हैं। वह आगे कहता है कि सामान्य बुद्धि प्रायः दोनों को एक ही बताती है और एक ही नाम से पुकारती है, जैसे भय, जिज्ञासा और घृणा में। इस प्रकार वह संवेग (emotion) को अनुभव की विधि मानता है जो एक मूलप्रवृत्त्यात्मक आवेग (instinctive impulse) की क्रिया के साथ रहता है।

इस प्रकार, मूलप्रवृत्ति की कोई भी ऐसी परिभाषा अधूरी है जो इस संवेगात्मक अनुभव के आवश्यक तत्त्व को छोड़ देती है। मेकडूगल के अनुसार "मूलप्रवृत्ति एक जन्मजात मनःव्यवस्था (स्वभाव) है जो प्राणी को किसी वर्ग की किसी वस्तु की ओर ध्यान देने को प्रेरित करती है और जो उसकी उपस्थिति में एक विशेष संवेगात्मक उत्तेजना और क्रियात्मक आवेग की अनुभूति कराती है जिसके परिणामस्वरूप वह उपस्थित वस्तु से सम्बन्धित एक विशेष प्रकार का व्यवहार करने लगता है।"[1] उसने उपर्युक्त चौदहों प्रवृत्तियों में से प्रत्येक के लिए एक विशेष संवेग (emotion) बतलाया है। कोई संवेग जो एक मूलप्रवृत्ति की क्रिया के साथ-साथ आता है, प्रारम्भिक संवेग है; अन्य संवेग गौण हैं जो दो अथवा अधिक प्रारम्भिक संवेगों के मिश्रण समझे जाते हैं। नीचे मेकडूगल की मूलप्रवृत्तियों और उनके संवेगों की सूची दी जाती है।[2] यह सूची सम्बन्धित संवेगों की निश्चयता के अवरोही क्रम (descending order) में दी जाती है।

मूल प्रवृत्तियाँ (Instincts)	सम्बन्धित संवेग (Emotional Qualities accompanying the Instinctive Activities)
(१) पलायन (Escape)	भय (Fear)

1 An Outline of Psychology, p. 110.
2 An Outline of Psychology, p. 324.

मूलप्रवृत्ति	संवेग
(२) योधन या लड़ना (Combat)	क्रोध (Anger)
(३) विकर्षण (Repulsion)	घृणा (Disgust)
(४) पैतृक (Parental)	कोमलता या वात्सल्य (Tender Emotion)
(५) संवेदना या शरणागति (Appeal)	कष्ट (Distress)
(६) भोग (Mating)	काम या वासना (Lust)
(७) जिज्ञासा अथवा उत्सुकता (Curiosity)	आश्चर्य (Wonder)
(८) दैन्य (Submission)	आत्महीनता (Negative self-feeling)
(९) स्व-स्थापन (Self-assertion)	आत्माभिमान (Positive self-feeling)
(१०) समूह (Gregarious)	एकाकीपन (Feeling of lonliness)
(११) भोजन खोजना (Food-seeking)	स्वाद (Gusto)
(१२) प्राप्ति या संचय (Acquisition)	स्वत्व (Feeling of ownership)
(१३) विधायकता (Construction)	रचनात्मक अनुभूति (Feeling of creativeness)
(१४) हास या हँसी (Laughter)	आमोद या प्रसन्नता (Amusement)

इस मत पर आगे विवाद करने से पहले उत्तम यह होगा कि हम भलीभाँति समझ लें कि संवेग (emotion) से क्या तात्पर्य है। हम सब जानते हैं कि क्रोधित होना अथवा भयभीत होना अथवा प्रसन्न होना क्या हैं। संवेगात्मक दशाएँ चेतनता के वे ही प्रकार हैं जिनमें भावना (feeling) का तत्त्व प्रधान है। फिर, एक संवेगात्मक दशा दूसरी संवेगात्मक दशा से लक्षणों में भिन्न होती है; उदाहरण के लिए, क्रोधित होना और भयभीत होना एक ही बात नहीं हैं। यहाँ भी हमको वस्तुत्व दे देने (hypostatize) की प्रवृत्ति से सावधान रहना चाहिए। क्रोध और भय ऐसी वस्तुएँ नहीं हैं जो सामने आयें और मन पर अधिकार जमा लें, परन्तु वे केवल हमारी चेतनता की कुछ दशाओं के हमारे द्वारा दिये हुए नाम हैं।

हम 'संवेग' (emotion) शब्द का प्रयोग एक सरल संकीर्ण अर्थ में कर सकते हैं जिसका आशय होगा किसी विशेष गुण की केवल भावना-चेष्टा (feeling-tone) या अनुभव का भावात्मक छद्मवेशी रूप (affective colouring of experience) जिसे हम अंतःप्रेक्षण द्वारा प्राप्त करते हैं; अथवा, हम उसे अधिक पूर्ण और जटिल अर्थ दे सकते हैं। किसी भी विशेष संवेगात्मक दशा में इस निश्चित प्रभावपूर्ण चेष्टा से कुछ अधिक है। इसकी अभिव्यक्तियाँ हैं शरीर के क्षोभों (perturbations) के संवेग की व्यंजना या प्रकाशन, "ऐंद्रिय-प्रतिध्वनि" (organic resonance), और चेष्टा अर्थात् कुछ करने का संवेग। भावना (feeling) और चेष्टा (conation) का घनिष्ट सम्बन्ध है, जैसा स्टाउट ने बहुत पहले ही मान लिया था। इसमें कोई सन्देह नहीं कि यह जटिल व्याख्या संवेगात्मक दशा का उत्तम वर्णन करती है।

शारीरिक परिवर्तन, जो संवेगात्मक दशाओं के लिए अत्यन्त

आवश्यक तत्त्व हैं, वे समायोजन (adjustments) हैं जो आवेगात्मक दशा से सम्बन्धित मूलप्रवृत्त्यात्मक क्रियाओं को सम्पादित करने में सहायक होते हैं। इस प्रकार, भय की दशा में शरीर प्रत्येक प्रकार से तीव्र गति के लिए तैयार हो जाता है; क्रोध में सफल योधन के लिए। ये परिवर्तन प्रत्येक आवेग के लक्षण हैं, और हाल में यह मालूम हुआ है कि ये बहुत ही जटिल और प्रभावपूर्ण हैं। हम इस विचित्र रीति का, जिस प्रकार हमारे शरीर हमारी संवेगात्मक दशाओं को सहारा देते हैं, केवल एक उदाहरण बतायेंगे। शरीर-शास्त्रियों (physiologists) ने ज्ञात किया है कि क्रोध अथवा भय की दशा में उपवृक्कय (adrenal) ग्रन्थियों से उपवृक्की (adrenalin) नामक पदार्थ का स्राव होता है जिसे वे रक्त के परिभ्रमण (circulation of blood) में डाल देती है। दूसरे प्रभावों के साथ-साथ यह पदार्थ रक्त को जमने की अधिक शक्ति दे देता है, और इसलिए घावों से रक्तस्राव के कारण मृत्यु का भय कम हो जाता है। प्रसिद्ध मनोवैज्ञानिक जेम्स ने इस विचित्र खोज से पहले ही संवेग-जनित शारीरिक सहवर्तनों (bodily accompaniments) पर बल दिया था। लेंग (Lange) के साथ उन्होंने प्रसिद्ध जेम्स-लेंग सिद्धान्त (James-Lange Theory) स्थापित किया था कि संवेगात्मक अनुभव केवल सम्बन्धित उत्तेजना द्वारा उत्पादित आंगिक (organic) परिवर्तनों का अनुभव है। वास्तव में संवेग (emotions) और संवेदना (sensations) दोनों की प्रकृति एक ही है, और वे वास्तव में शरीर में होने वाले परिवर्तनों का केवल बोध या ज्ञान हैं। जेम्स ने इस विषय को विरोधाभास के रूप में इस प्रकार कहा है—"सामान्य बुद्धि कहती है कि हम सम्पत्ति नष्ट हो जाने पर दुःखी होते हैं और रोते हैं; हम भालू से सामना होने पर भयभीत होते हैं और भागते हैं;

प्रतिद्वन्द्वी हमारा अपमान करता है, तो हम कुपित होते हैं और उस पर आक्रमण करते हैं।....अधिक विवेकयुक्त कथन यह है कि हम दुःखी होते हैं क्योंकि हम रोते हैं, क्रोधित होते हैं क्योंकि हम आक्रमण करते हैं, भयभीत होते हैं क्योंकि हम काँपते हैं, और न कि हम रोते, आक्रमण करते अथवा काँपते हैं क्योंकि परिस्थिति के अनुसार हम क्रमशः दुःखी, कुपित अथवा भयावह होते हैं।"[1]

संवेग के जटिल शारीरिक सहवर्तनों (accompaniments) के सम्बन्ध में खोजियों ने जो विचित्र खोजें की हैं वे श्वास-क्रिया, रक्त-संचालन और विनाल ग्रन्थियों (ductless glands) की प्रक्रियाओं में भारी परिवर्तन हैं। मस्तिष्क-सुषुम्ना संस्थान (celebro-spinal system) के बाहर के स्नायु-केन्द्र जो उससे स्वतन्त्र हैं इन परिवर्तनों में सम्मिलित हैं, और स्वयं मस्तिष्क-सुषुम्ना संस्थान के लिए एक प्रभावशाली केन्द्र वृहत् मस्तिष्क (cerebrum) के आधार पर स्थित दृक्चेता (thalami) और प्रगंड (ganglionic) पुञ्जों में ज्ञात किया गया है। संक्षेप में, शरीर-शास्त्र अब देह की दृष्टि से संवेग (emotion) का ब्यौरेवार वर्णन दे सकता है। इसमें कोई सन्देह नहीं कि ये शारीरिक प्रक्रियाएँ समस्त सभी संवेगों के लिए आवश्यक हैं और भिन्न-भिन्न संवेगों के भिन्न-भिन्न गुण कुछ अंश तक अवश्य ही भिन्न-भिन्न शारीरिक दशाओं के कारण हैं। परन्तु इससे यह तात्पर्य नहीं है कि संवेग इन दशाओं के ज्ञान के अतिरिक्त और कुछ नहीं हैं, और न यह आशय है कि शारीरिक दशाएँ संवेग हैं, जैसा कि व्यवहारवादी कहते हैं। अनुभूति पुट और अनुभव किया हुआ आवेग दोनों ही एक-समान आवश्यक हैं। यह कहना अधिक सत्य है कि मनुष्य भाग गया क्योंकि वह भयभीत था, यह कहने की अपेक्षा कि वह भयभीत

1 The Principles of Psychology, vol. ii, pp. 449, 450.

था क्योंकि उसने स्वयं को भागते हुए पाया। परन्तु जेम्स-लेंग सिद्धान्त का उपहास करने का कोई कारण नहीं मालूम होता; वर्त्तमान खोज से ज्ञात हुआ है कि संवेग में शारीरिक दशाएँ अधिक आवश्यक तत्त्व हैं जिनके विषय में पहले विचार नहीं किया गया था।

संवेग के इस संक्षिप्त विवरण में मूलप्रवृत्ति के वर्णन से अनेक बातें मिलती-जुलती हैं, प्रधान अन्तर केवल बल देने का है। फिर, क्या मेकडूगल का मत ठीक है कि प्रारम्भिक संवेग केवल दूसरे दृष्टिकोण से प्रारम्भिक मूलप्रवृत्तियाँ ही हैं? इस विषय में उसका सबसे योग्य आलोचक डा० जेम्स ड्रैवर है। हम यहाँ पूरे विवाद का परीक्षण नहीं करना चाहते, जो कुछ अंश तक संवेग के शारीरिक प्रतिफलों पर आधारित है। ड्रैवर इस परिणाम पर पहुँचता है कि मूलप्रवृत्ति के कार्य के लिए संवेग आवश्यक नहीं है और वह तब रंगमञ्च पर आता है जब कि मूलप्रवृत्त्यात्मक प्रक्रिया वर्जित हो जाती है। यह सत्य है कि हम पूर्व कथित मूलप्रवृत्तियों की ओर इंगित कर सकते हैं—उदाहरण के लिए, विधायकता—और पूछ सकते हैं कि उससे कौन-सा उचित संवेग सम्बद्ध है। परन्तु ड्रैवर आगे बढ़ता है। पलायन की प्रवृत्ति के विषय में वह तर्क करता है कि सम्बन्धित भय सदा प्रस्तुत नहीं रहता है। एक अन्य प्रसिद्ध मनोवैज्ञानिक राइवर्ज (Rivers) का कथन है कि भय-की-स्थिति में एक प्रतिक्रिया हस्त-चातुर्य है, और विपदा की पराकाष्ठा के समय हम केवल अपने हाथों से नहीं अपितु अपनी पूरी देह से भी ऐसे मूलप्रवृत्त्यात्मक कार्य करते हैं, जो हमको ही नहीं वरन् औरों को भी आश्चर्य में डाल देते हैं। खड़ी चट्टान का आरोहक विपदा के समय अपनी रक्षा के लिए बिलकुल ठीक कार्य करेगा, और बाइसिकिल पर चढ़ने वाला भारी भीड़ में बिना विचारे हुए

ठीक वही कार्य करेगा, जिसकी आवश्यकता है। राइवर्ज आगे कहता है कि जब यह मूलप्रवृत्त्यात्मक हस्त-प्रक्रिया सफलतापूर्वक कार्य करती रहती है, तो कोई संवेग नहीं होता; भय केवल तब होता है कि जब कि प्रक्रिया सफल नहीं होती। राइवर्ज के साथ ड्रैवर का कथन हस्त-प्रक्रिया और भावनावस्था (affect) के अभाव का यह समागम एक सामान्य नियम है जो सभी मूल-प्रवृत्तियों पर लागू है। डा० विलियम ब्राउन (Dr. William Brown) भी बताता है कि मेकडूगल ने अवश्य ही अपनी एक मूलप्रवृत्ति के सम्बन्ध में चुपचाप यह मान लिया है; समूह-प्रवृत्ति के लिए सम्बन्धित (corresponding) संवेग "अकेले-पन की अनुभूति" है, जो प्रत्येक मनुष्य अनुभव करता है जब कि वह मूलप्रवृत्ति अपने लक्ष्य की ओर ठीक काम न कर रही हो। यह नियम जन्मजात और अर्जित दोनों प्रकार की प्रवृत्तियों पर लागू है; इस प्रकार, एक कठिन परिस्थिति में हम तभी व्यथित होते हैं जब हम नहीं जानते कि क्या करें अथवा क्या कहें।

परन्तु ड्रैवर मानता है कि अधिक प्रारम्भिक मूलप्रवृत्तियों का लक्षण है कि संवेगात्मक व्यग्रता (emotional perturbation) अत्यन्त सरलता से उत्पन्न हो जाती है और यह भी कि वह मूलप्रवृत्त्यात्मक प्रतिक्रिया में सामान्यतः निहित है। परन्तु वह दृढ़तापूर्वक कहता है कि संवेग स्वयं मूलप्रवृत्ति में प्रभावपूर्ण तत्त्व नहीं हैं; उसके अनुसार सामान्य भावात्मक तत्त्व (affective element) औचित्य की संवेदना मात्र है जो संवेग के रूप में उत्तेजित हो उठता है केवल जब कि प्रक्रिया शान्तिपूर्वक नहीं हो रही हो।

मेकडूगल ने आलोचना के कुछ अंश को मान लिया है, क्योंकि उसकी योजना अब कम कठोर रह गई है उसकी अपेक्षा जो उसने 'सामाजिक मनोविज्ञान की प्रस्तावना' ("An Intro-

duction to Social Psychology") में प्रतिपादित की है। परन्तु वह अब भी संवेग की प्राथमिकता पर बल देता है। वह स्वीकार करता है कि जो ड्रेवर कहता है वह क्रोध के विषय में ठीक है, परन्तु अन्य संवेगों के विषय में ठीक नहीं है। वह यह भी मानता है कि हमको अपने संवेगों का निश्चित आभास नहीं होता जब तक कि हम पूर्ण रूप से कार्य में संलग्न रहते हैं, परन्तु उसका कहना है कि वे वहाँ प्रस्तुत हैं, और हमारी प्रयत्नशील दशा में हमारे समस्त अनुभवों को परिमार्जित करते रहते हैं। यदि हम अन्तःप्रेक्षण करें तो उन्हें मालूम कर सकते हैं। "यदि मूलप्रवृत्यात्मक मनःव्यवस्था (instinctive disposition) इस प्रकार निर्मित है कि आवेग को तुरन्त सन्तुष्टि न मिलने पर वह उचित संवेग को उत्पन्न कर सकती है, तब उसकी प्रक्रिया को रुकावट न मिलने पर किसी सैद्धान्तिक आधार पर उसके इस रूप को अस्वीकार करना कठिन है; और न तथ्यों के निरीक्षण से इस मत की पुष्टि में सिवाय सम्भावनाओं के सैद्धान्तिक विचार के कोई अधिक प्रमाण मिलता है। अवश्य ही यह संवेगात्मक उत्तेजक की तीव्रता का परिमाण है।"[1]

नन (Nunn) वाद-विवाद को शान्त करता है और बताता है कि प्रश्न वास्तव में अधिक अथवा न्यून का है। वह कहता है कि "संवेग के स्थानीय भेदीकरण हैं जो संसार के प्रति जीवी (organism) के सभी प्रेरक (hormic) व्यवहारों पर आवरण डालती है।" वह कहता है कि वैज्ञानिक समस्या सुलझाने में अथवा भलाई का बदला चुकाने में, मैं उस समय केवल आश्चर्य अथवा आभार में नहीं डूबा रहता हूँ। फिर भी, इन प्रक्रियाओं में जो "औचित्य" (worthwhileness)

1 McDougall, An Introduction to Social Psychology, 14th Edition, Preface.

का अनुभव किया जाता है प्रत्येक दशा में उसी रंग में रँगा रहता है जिसमें संवेग।"[1]

ड्रैवर अपनी आलोचना में बहुत आगे बढ़ गया है, क्योंकि दोनों में भेद परिणाम का है न कि प्रकार का।

हमने मूलप्रवृत्ति और संवेग पर इतना लम्बा बाद-विवाद इसलिए किया कि विषय अत्यन्त महत्वपूर्ण है। मेकडूगल के सभी आलोचक उससे सहमत हैं कि व्यवहार के अध्ययन में मूल-प्रवृत्तियाँ और संवेग दोनों ही अ त आवश्यक हैं और इसलिए वह शिक्षा के सिद्धान्त और व्यवहार दोनों में गम्भीर प्रभाव रखते हैं। मूल प्रवृत्तियाँ चरित्र की आत्म-सामग्री (raw material) उपकरण सामग्री हैं, और अपने कार्य में शिक्षक का सम्बन्ध उनसे सदा रहेगा।

प्रथम, शिक्षक को कणों के साथ (with the grain) कार्य करना चाहिए न कि उनके विरुद्ध (जैसे कि लकड़ी पर रद्दा फेरने में किया जाता है), और मूल-प्रवृत्ति का वर्णन जो अभी दिया जा चुका है, यदि वह सत्य के निकट है, तो उसको बताथेगा कि कणों का विन्यास किस प्रकार है। उसको समझना चाहिए कि अल्पवयस्क बच्चा मूलप्रवृत्त्यात्मक धरातल पर कार्य कर रहा है और सबसे अधिक शक्तिशाली हेतु—और जो अन्य नहीं है—जिनसे वह सफलतापूर्वक प्रेरणा पा सकता है, मूल-प्रवृत्तियाँ ही हैं। आचरण के लिए नैतिकता की भावना की दुहाई देना व्यर्थ है जो वहाँ नहीं है; वरन् घृणा, पलायन, स्व-स्थापन और दैन्य की मूलप्रवृत्तियों की सहायता खोजनी चाहिए। भय और आत्मलघुता (self-abasement) के प्रति निरंतर अभ्याह्वान (appeal) निस्सन्देह बुद्धिमानी का कार्य नहीं है; एक सच्चा शिक्षक नहीं चाहेगा कि बार-बार इन प्रवृत्तियों को अना-

1 Education : its Data and First Principles, pp. 157, 158.

वश्यक रूप से उत्तेजित किया जाय। फिर भी, वे बच्चे की मानसिक रचना के भाग हैं, और उसकी प्रारम्भिक शिक्षा में उन्हें काम में लेना बिलकुल गलत नहीं हो सकता। एक ऐसे बच्चे के मार्ग में रुकावट डालना बुद्धिमानी का कार्य नहीं है जो शुद्ध हृदय से किसी मूलप्रवृत्त्यात्मक प्रक्रिया में भाग ले रहा है, और जैसा हम सबने देखा है यह परम क्रोध का कारण हो जाता है; एक मूलप्रवृत्त्यात्मक प्रक्रिया को छुड़ाने का सर्वोत्तम उपाय है उसके स्थान पर दूसरी प्रक्रिया स्थापित करना।

फिर बौद्धिक शिक्षा के प्रारम्भिक प्रक्रमों (stages) में मूलप्रवृत्तियों द्वारा ही आगे बढ़ना चाहिए; हमको उन प्रेरकों से आरम्भ करना चाहिए जो वहाँ प्रस्तुत हैं। कदाचित् सबसे अधिक उपयोगी उत्सुकता अथवा जिज्ञासा (curiosity) की मूलप्रवृत्ति है, जो अध्यापक का सबसे बड़ा सखा है। यदि वह पाठ को इस प्रकार प्रस्तुत कर सकता है कि इस मूलप्रवृत्ति को जाग्रत कर सके, तो रुचि को प्राप्त करने की समस्या दूर हो जाती है। परन्तु अवश्य ही अधूरी या कच्ची उत्सुकता अधिक सहायक नहीं होती—अटकल की प्रतियोगिताओं से उत्तम बौद्धिक फल नहीं प्राप्त होते किन्तु इससे प्रारम्भ-बिन्दु अवश्य प्राप्त होता है भले ही वह अविकसित दशा में हो। फिर, विधेयकता प्रवृत्ति का उपयोग अध्यापक को अवश्य करना चाहिए; प्रत्येक अनुभवी अध्यापक बालकों द्वारा वस्तुएँ बनाने के मूल्य को जानता है। हम इसी प्रकार सदाचार सम्बन्धी और बुद्धिमूलक शिक्षा में प्रत्येक मूल-प्रवृत्ति के स्थान के विषय में विचार कर सकते हैं, परन्तु हमारे पास इतना स्थान नहीं है; विद्यार्थी स्वयं इस अभ्यास को कर सकता है।

यह अवश्य जानना चाहिए कि मूलप्रवृत्तियाँ यद्यपि जन्म-जात या नैसर्गिक हैं, परन्तु वे जन्म के समय पूरी विकसित नहीं

होती। प्रत्येक उचित समय पर अवश्य उदय होती है। फिर ऐसा भी मालूम होता है कि प्रत्येक मूलप्रवृत्ति के विकास में अधिकतम प्रक्रिया की एक अवधि होती है; उदाहरणार्थ, संचय और समूह प्रवृत्तियाँ सामान्यत: किशोर अवस्था में परिपक्व होती है। जेम्स ने मूलप्रवृत्ति के सम्बन्ध में क्षणिकता की ओर ध्यान आकर्षित किया है, जिसे उसने इस प्रकार कहा है, "कई मूलप्रवृत्तियाँ एक विशेष अवस्था पर परिपक्व होती है और फिर क्षीण होकर नष्ट हो जाती है।"[1] आधुनिक मनोवैज्ञानिक इस 'नियम' के पिछले भाग से सहमत नही है; कोई प्रवृत्ति कभी नष्ट नही होती। परन्तु अध्यापक को जानना चाहिए कि कुछ उपयोगी अवसर मिलते है जो पुनः नही आते; अतएव उसको उनका प्रयोग यथा समय करना ही आवश्यक है।

परन्तु यह न समझ लेना चाहिए कि अध्यापक का कार्य केवल मूलप्रवृत्तियों (instincts) के साथ-साथ ही काम करना है। जैसा हम देख चुके हैं, ये प्रवृत्तियाँ ईंटें हैं जिनसे व्यक्ति का चरित्र निर्माण किया जाता है। शिक्षक को ये अपरिपक्व दशा में मिलती है, और यह उसका महान् कार्य है कि वह उन्हें परिवर्तित करे और शुद्ध करे। यह किस प्रकार किया जा सकता है? मनुष्य अपनी मूलप्रवृत्तियों का दास नही है। वरन् मूलप्रवृत्तियों की दासता चीटी और उद्योगशील मधुमक्खी के भाग्य मे है, जिनकी परम कार्य-क्षमता और कार्य-निपुणता प्रायः हमारे लिए उदाहरण बताई जाती है, परन्तु वे यदि कुछ अपरिवर्तनीय प्रक्रियाओं को न करें, तो उनके करने को कुछ रह ही न जाय। मनुष्य और इन जीवों में भेद इतना बड़ा है कि यह कहना पड़ता है कि पहला तो बुद्धि से प्रेरित होता है और पिछला मूलप्रवृत्ति से। परन्तु यह मान बैठना ठीक न होगा कि प्रकृति

1 The Principles of Psychology, vol. ii, p. 398

ने जीवन के स्तर में नीचे से ऊँचे जाने में किसी स्थान पर एक नया सिद्धान्त अपनाया है। मेकडूगल ने भली-भाँति दिखाया है कि कीड़ों का व्यवहार, यद्यपि अपेक्षाकृत रूढ़िवादी है, वास्तव में कुछ सीमा तक बुद्धि का सहयोग चाहता है। वास्तविक अन्तर इस तथ्य में है कि जब कि निम्न पशु केवल एक पदार्थ के प्रति प्रतिक्रिया कर सकते हैं और वह भी केवल एक ही प्रकार की, मनुष्य की प्रवृत्तियाँ अनिश्चित रूप से नम्य और स्थितिअनुकूलक (adaptable) हैं। निस्सन्देह कोई विशेष वस्तु अन्य किसी दूसरी वस्तु की अपेक्षा एक मूलप्रवृत्ति को जाग्रत कर देती है; और एक प्रतिक्रिया होती है जो दूसरी की अपेक्षा अधिक शीघ्र घटित होती है, परन्तु अन्य वस्तुएँ और दूसरी प्रतिक्रियाएँ उनके स्थान पर स्थापित की जा सकती हैं, और वास्तव में की जाती हैं। बोधन और चेष्टा दोनों दृष्टियों से मनुष्यों की मूलप्रवृत्तियाँ बहुत नम्य हैं, और इसीलिए वह शिक्षा प्राप्त करने योग्य है। निम्न पशु, समायोजन (adjustment) की पूर्णता के होते हुए भी, एक ही कार्य भली-भाँति सम्पादित कर सकते हैं। परन्तु मनुष्य अपने मूलप्रवृत्त्यात्मक उपकरणों व साधनों का प्रयोग करने में स्वतन्त्र है। यह कहना असम्बद्ध और असंगत है कि मनुष्य अपनी मूलप्रवृत्तियों का दास है, जब कि उसको अपनी चेतन-शक्ति (energies) का निर्देश करने का असीमित क्षेत्र है।

अपने प्रारम्भिक जैविक लक्ष्य से सामाजिक और व्यक्तिगत उत्थान की ओर किसी मूलप्रवृत्ति के निर्देशन की प्रक्रिया को वर्णन करने के लिए उदात्तीकरण या उत्कर्षण (sublimation) शब्द का प्रयोग किया जाता है। आरम्भ में फ्रॉयड की विचारधारा के लोगों ने इस शब्द का प्रयोग यौन-प्रवृत्ति (sex instinct) के सम्बन्ध में किया था, परन्तु इसके अधिक व्यापक अर्थ भी लगाये जा सकते हैं। उदाहरण के लिए, उत्सुकता या जिज्ञासा (curio-

sity) का उत्कर्षण निरर्थक और अवांछनीय वस्तुओं के देखने से लेकर विज्ञान की अनोखी बातों के लिए उत्साह तक के रूप में हो सकता है। समस्त विज्ञान का जन्म आश्चर्य में है, और आधुनिक विज्ञान उत्कर्षित उत्सुकता (sublimated curiosty) का स्मारक है। दैहिक कष्ट के भय का उत्कर्षण बुरा काम करने के डर से 'आत्मा को दुःख' पहुँचाने वाली बातों के डर के लिए हो सकता है। अपरिपक्व समूह-प्रवृत्ति का उत्कर्षण पैतृक प्रवृत्ति और स्व-स्थापन तथा दैन्य प्रवृत्ति (submission) के साथ सर्वोच्च सामाजिक व्यवहार (social behaviour) के लिए उत्कर्षित किया जा सकता है। इस पर अधिक लिखने की आवश्यकता नहीं प्रतीत होती है। शिक्षा का सम्पूर्ण कार्य मूलप्रवृत्तियों का उत्कर्षण है।

अध्यापक को जानना चाहिए कि मूलप्रवृत्तियाँ बालक की शिक्षा-प्रक्रिया में विशेष स्थान रखती हैं; उसे यह भी जानना आवश्यक है कि उनको दबाने के प्रयत्न में हानि अनिवार्य है। अवांछनीय मूलप्रवृत्तियाँ इस संक्षिप्त विधि से नहीं रोकी जा सकती हैं। यह समझना भूल है कि कोई मूलप्रवृत्ति दबाने से नष्ट हो जायगी; यदि उसे प्रत्यक्ष प्रकाशन का अवसर न दिया जायगा, तो उसकी प्रक्रिया अवांछनीय मार्गों द्वारा होगी जो संकल्प-शक्ति (will power) के नियन्त्रण से परे हैं। विषय के इस अंश का निरूपण आगे किसी अध्याय में किया जायगा।

मूलप्रवृत्तियों के भावनात्मक रूप अर्थात् संवेगों (emotions) के विषय में क्या कहा जा सकता है? निस्सन्देह लोकप्रिय शिक्षा की प्रथम अर्द्ध शताब्दी में जो थोड़े से परिणाम प्राप्त हुए उनका कारण मन के बौद्धिक पक्ष पर अतिबल देना था, और साथ ही संवेगों पर बहुत कम। परन्तु आधुनिक मनोविज्ञान में संवेगों का प्रमुख स्थान है, और शिक्षा-विधि में जो प्रगति आजकल हो रही

है उसका कारण अन्य किसी तथ्य की अपेक्षा यह अधिक है। हमारे कार्यों में संवेग सबसे अधिक गतिमान (dynamic चेतनिक) है और शिक्षक को उन पर ध्यान देना आवश्यक है। वह यह कैसे करेगा ? शिक्षा में रुचि के विषय में सामान्य वाद-विवाद न करते हुए, हमको कहना है कि बौद्धिक मामलों में भी संवेगों की अवहेलना नहीं की जा सकती। उदाहरण के लिए, गणित का सफल शिक्षण आश्चर्य और धन आत्मभावना (positive self-feeling) के संवेगों के बल पर ही किया जा सकता है। परन्तु, आधुनिक शिक्षा का एक मान्य कार्य यह भी है कि भावनाओं (feelings) से सीधा सम्पर्क किया जाय, सौन्दर्य के प्रति प्रेम उत्पन्न किया जाय, और कला, साहित्य व संगीत के प्रति यथार्थ अभिरुचि या स्वानुभूति (apperciation) के भाव पैदा किये जायें। यह उचित होगा कि इस आवश्यक विषय पर थोड़ा लिख कर इस अध्याय को समाप्त किया जाय।

'आक्सफोर्ड डिक्शनरी' नामक अंग्रेजी कोष में अभिरुचि (taste) को "सौन्दर्य अथवा अन्य श्रेष्ठता के पहचानने तथा उसका आनन्द लेने की मानस-शक्ति (faculty) कहा है, विशेषकर कला और साहित्य में।" अभिरुचि में भावना (feeling) सबसे अधिक महत्वपूर्ण तत्त्व है, यद्यपि ज्ञान और चेष्टा भी प्रस्तुत हैं। कदाचित् इसीलिए सौन्दर्य की कल्पना की परिभाषा करना इतना कठिन है। कुछ लोग कहेंगे कि सुन्दरता का भाव केवल रूढ़ि और लोकरीति पर निर्भर है, परन्तु अवश्य ही यह इससे अधिक है—कोई वस्तु हमसे परे, कोई वस्तु स्वाधीन (absolute) जिसे हम चाहें तो अनुभव कर सकते हैं। जब हम सुन्दरता को देखते हैं तो हम उसे पहचानने की शक्ति भी रखते है, और एक वस्तु जो एक बार सुन्दर है वह सदा सुन्दर है।

उदाहरण के लिए, जितना अधिक कोई मनुष्य संगीत को जानता है और उससे प्रेम करता है, उतना ही अधिक वह विश्वास के साथ कह सकता है कि इस क्षेत्र में क्या सुन्दर है और क्या सुन्दर नहीं है; और वास्तव में एक व्यक्ति की राय अन्य उतने ही योग्य आलोचकों से अवश्य मिलती है।

सौन्दर्य को जानने की इस शक्ति में हम बालकों को किस प्रकार शिक्षण दे सकते हैं? प्लेटो (Plato) ने कहा है कि "यह आवश्यक है कि तरुण अवस्था के आरम्भ से ही हम को उचित वस्तुओं के प्रति आनन्द और दुःख की अनुभूति होनी चाहिए। वास्तविक शिक्षा ठीक यही है।" हम इस प्रश्न पर संवेदन (affect मनःप्रवृत्ति), ज्ञान (cognition) और चेष्टा (conation) तीन दृष्टिकोणों से विचार कर सकते हैं।

अभिरुचि के शिक्षण में उसका भावात्मक पहलू (affective aspect) अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है; हमको अपने छात्रों को शिक्षण देना चाहिए कि वे उचित अनुभूति करें (feel)। इस दिशा में मुख्य कार्य है अनुभूति के उचित अभ्यास (exercise) के लिए अवसरों का आयोजन। उसे बालक के सामने ऐसी वस्तुओं को रखना चाहिए जो साहित्य, कला और संगीत में प्रशंसा के योग्य हों, और जहाँ तक सम्भव हो सके उसे बालक के सामने ऐसी वस्तु रखना उचित नहीं है जिसे उसे अस्वीकार करना अथवा उससे दूर रहना चाहिए। यदि बच्चा सुन्दर वस्तुओं का अभ्यस्त है तो उसकी अभिरुचि में अनायास ही अभिवृद्धि होती जायगी। "ये उसकी आत्मा में वृद्धि पायेंगी और वहाँ अनजाने ही श्रेष्ठता तथा सुन्दरता के मापदण्ड निर्माण होते जायेंगे, तथा स्वस्थ अभिरुचि की वृद्धि होगी जिससे निम्न स्तर की वस्तुएँ उसको अप्रिय लगने लगेंगी।"[1] अध्यापक को अपने शिष्य की सामर्थ्य का उसकी

1 Plato.

आयु के अनुसार अवश्य ध्यान रखना होगा। अभिरुचि में वृद्धि एक क्रमागत प्रक्रिया है, और प्राप्त फल विकास के प्रक्रम पर निर्भर है। प्रायोगिक मनोविज्ञान उसकी ही पुष्टि करता है जिसकी हम नैसर्गिक रूप से आशा करते हैं कि किशोरावस्था का आरम्भ अनुकूल काल है।

अभिरुचि (taste) में शिक्षण का बुद्धिमूलक पहलू (intellectual aspect) क्या है ? यहाँ अध्यापक को बहुत सावधान रहने की आवश्यकता है, क्योंकि प्रत्यक्ष-शिक्षा से कोई लाभ न होगा। उसे इस सम्बन्ध में नियम बनाने की आवश्यकता नहीं है, यह कह कर कि "यह सुन्दर है, वह कुरूप है। इसको पसन्द करो, उसको मत पसन्द करो।" परन्तु, याद रहे ज्ञान से पृथक् रहकर अभिरुचि कभी पूर्ण रूप से विकसित नहीं हो सकती। अभिरुचि के मापदण्ड होते हैं, जो एक से अधिक व्यक्तियों के लिए ठीक हैं और जिनका ज्ञान आवश्यक है। सौन्दर्य की अनुभूति के पश्चात् उसकी अवस्थाओं का विश्लेषण करना और कुछ सामान्य सिद्धान्तों पर पहुँचना आवश्यक है। सर एच० वॉलफर्ड डेवीज (Sir H. Walford Davies) ने अपनी संगीत की अतन्तुग (wireless बेतार-का-तार) वार्त्ताओं में इस कार्य को अत्यन्त सफलतापूर्वक पूरा किया है। हमारी बुद्धि हमको प्रोत्साहित करती है कि हम सौन्दर्य को देखकर उसके कारणों को ज्ञात करें। आदायक वृत्ति (receptive attitude) स्वभावतः विश्लेषणात्मक और आलोचनात्मक हो जाती है। किन्तु किसी अध्यापक को यह न विचार करना चाहिए कि आलोचना के मापदण्डों का ज्ञान भावना (feeling) का स्थान ले सकता है, क्योंकि यदि भाव नहीं है तो सौन्दर्य के विषय में समस्त वार्त्ता केवल छल और पाखण्ड है। परन्तु इस शर्त की पूर्ति होने पर अध्यापक, शिक्षक-वृत्ति को काम में न लाते

हुए, अपने शिष्यों को सौन्दर्य की दशाओं के प्रारम्भिक विश्लेषणों में बहुत सहायता पहुँचा सकता है। उसे कभी अभिरुचि की व्यंजना को दूसरों पर न लादना चाहिए; यदि वे प्राकृतिक ढङ्ग से आते हैं तो उन्हें स्वीकार कर लेना चाहिए, परन्तु उसे उन्हें मानने को बाध्य न करना चाहिए। यदि कोई बालक किसी कविता के सौन्दर्य की केवल अनुभूति करना चाहता है तो उसे इस बात के लिए विवश नहीं करना चाहिए कि वह उसके विषय में वार्त्ता करे अथवा कारण बताये। रसानुभूतिमूलक (appreciation) पाठों की सफलता प्रश्नोत्तर विधि से नहीं नापी जा सकती, यद्यपि यह रीति बुद्धिमूलक प्रकरणों में उत्तम हो सकती है।

यद्यपि प्रत्यक्ष शिक्षा की रीति का प्रयोग बहुत ही कम करना चाहिए, परन्तु अध्यापक के पास सहानुभूति (sympathy) और निर्देश (suggestion) के रूप में अधिक शक्तिशाली शस्त्र प्रस्तुत हैं। सहानुभूति द्वारा स्वयं उसकी अनुभूतियाँ वितरण की जा सकती हैं, और निर्देश द्वारा सौन्दर्य-सम्बन्धी स्वयं उसके भाव प्रत्यक्ष रूप से शिष्य तक पहुँचाये जा सकते हैं, और उसे इनका यथार्थ उद्गम भी न ज्ञात होगा। इससे यह परिणाम निकलता है कि स्वयं अध्यापक की अभिरुचि बहुत अच्छी होनी चाहिए, अन्यथा वह बालकों में उसे अंकुरित करने का साधन न बन सकेगा; छात्र वास्तविक उत्साह की प्रवृत्ति (attitude) को सदा अपनायेंगे। परन्तु ढोंगी उत्साह से कोई लाभ नहीं; अध्यापक की वास्तविक अभिवृत्ति ही प्रभावपूर्ण है, न कि वह जो कहता है।

अन्त में, हम पूछ सकते हैं कि अभिरुचि के अनुशीलन में करने (doing) और प्रयत्न (striving) का क्या स्थान है? यह सामान्य रूप से मान लिया गया है कि जो बाजा बजाना

जानते हैं उन्हें गायन के अच्छे परीक्षक भी होना आवश्यक है, और जो लेखक हैं उन्हें साहित्य के अच्छे समीक्षक भी होना चाहिए। परन्तु संगीत-सभाओं में जाने वाले तथा बहुत पढ़ने वाले, गाने-बजाने वाले और लेखकों को समीक्षरण का एकाकी अधिकार नहीं देते। फिर भी यह मानना पड़ेगा कि कला के कार्यों के सफल अनुकरण द्वारा, विशेषकर जब वह क्रियात्मक प्रयत्न का स्थान ले लेता है, समीक्षरण के लिए बुद्धि बढ़ती है और अनुभूति में उन्नति होती है। प्रयत्न करने पर हममें से प्रत्येक थोड़ा-सा बाजा बजा सकते हैं अथवा गा सकते हैं, थोड़ी-सी चित्रकारी कर सकते हैं, और कुछ लिख सकते हैं; और हमारे प्रयत्न, चाहे उनका वस्तुगत मूल्य कुछ भी हो, हमारी अभिरुचि के अनुशीलन में सहायक होते हैं। इस प्रकार हमें अपने शिष्यों को समस्त साधनों द्वारा प्रोत्साहन देना चाहिए कि वे तरुण संगीतज्ञ, निबन्ध-लेखक, कवि और कलाकार बनें, और उनके प्रयत्नों को हमें सहानुभूतिपूर्वक ही देखना चाहिए। परन्तु यह समझना भूल होगी कि ऐसा करने से हम सौन्दर्य के अनुशीलन की भावना बना ही रहे हैं। यह निश्चय है कि कलात्मक वस्तु की प्रशंसा तथा कोई कला की वस्तु तैयार कर सकने में असमर्थता दोनों बातें साथ-साथ रह सकती हैं; और यह भी उतना ही निश्चित है कि अभिरुचि के अनुशीलन में व्यावहारिक तथ्य पर अधिक बल केवल प्रविधि (technique) की प्रशंसा जाग्रत कर सकता है, जो अभिरुचि नहीं है। परन्तु सम्पादन के प्रयत्न अवश्य ही बुद्धिमूलक विश्लेषरण में सहायक होते हैं जिससे अभिरुचि के निर्माण में पथ-प्रदर्शन मिलता है।

वास्तव में आदर्श तो यह है कि एक व्यक्ति स्वयं कला की कृतियाँ तैयार करे; परन्तु व्यवहार में देखा गया है कि सफल कृति बहुत थोड़े से मनुष्यों तक सीमित है। यहाँ यह कहना

असंगत न होगा कि उचित परिस्थितियों में बालक इस दिशा में आशातीत उत्कृष्ट प्रयत्न करते हैं। परन्तु पाठशाला अमर कलाकार, कवि और लेखकों की शिक्षा के लिए व्यवस्था नहीं कर सकती; अधिक से अधिक वह यह कर सकती है कि ऐसी परिस्थितियाँ उपस्थित करे जिनसे किसी सम्भवनीय प्रतिभाशाली व्यक्ति के विकास में बाधा न पड़े। परन्तु सभी व्यक्ति कला की कृतियों को कुछ पूर्णता से अवश्य समझ सकते हैं, और मनोवैज्ञानिक दृष्टि से, वास्तविक रसानुभूति (appreciation) में सदा 'करने' (doing) का तथ्य निहित है। जब एक कविता पढ़ी जाती है और उसका आनन्द लूटा जाता है, तो वास्तविक आशय में पाठक उसका पुनः निर्माण करता है। भावपूर्ण लेखक कविता के पृष्ठ को पढ़ता है, जो केवल कवि की कृति का एक लेखा है न कि स्वयं कृति, और कविता की सम्भावना मात्र को उच्चतम काव्य में परिणत कर देता है, जिसमें उसे सम्भवतः तुलसी और सूर जैसे महाकवियों का सहयोग प्राप्त होता है। इस अर्थ में रसानुभूति में 'करने' का तत्त्व आवश्यक है।

विशेष अध्ययन के लिए

McDougal : An Outline of Psychology, chapters ii, iii, iv, v, xi and xii; An Introduction to Social Psychology, chapters ii and iii.
Drever : Instinct in Man; Introduction to the Psychology of Education, chapter iv.
Nunn : Education : its Data and First Principles, chapter xi.
Rivers : Instinct and the Unconscious.
Sandiford : Educational Psychology, chapters vi and xii.
James : The Principles of Psychology, chap ters xxiv and xxv.
Pritchard : Training in Literay Appreciation.
Hayward : The Lesson in Appreciation.
Clutton-Brock : The Ultimate Belief.

: ५ :

वंशपरम्परा और विकास

(Heredity and Evolution)

जब हम प्रश्न पूछते हैं कि, "मूलप्रवृत्तियाँ (instincts) किस प्रकार उत्पन्न होती हैं ?" तुरन्त ही हमारे सामने वंश-परम्परा और विकास की समस्याएँ उठ खड़ी होती हैं। हम देख चुके हैं कि प्रवृत्तियाँ जन्म-जात होती हैं अथवा वंशानुगत; फिर, क्योंकि उनका विकास सम्भवतः जाति के विकास के साथ-साथ हुआ था, वे विकास के परिणाम हैं। लेकिन हम ऐसे शब्दों का प्रयोग करके ही सन्तुष्ट नहीं हो सकते जब तक कि उनका यथार्थ अर्थ न समझ लें, क्योंकि विद्वत्तापूर्ण शब्द प्रायः केवल अज्ञानता को छिपाने के साधन हुआ करते हैं। अतएव इन शब्दों को समझने का प्रयत्न करना चाहिए, यद्यपि हम अपने प्रश्नों का ठीक उत्तर न भी पा सकें। हमको अपनी खोज में सम्भवतः जीव-शास्त्र (biology) की देन से सहायता मिलेगी। इसके साथ-ही साथ, मनोविज्ञान के समस्त विषय पर प्रकाश डाला जा सकेगा, और शैक्षिक रुचि और महत्व के अनेक प्रश्नों पर भी।

'वंशपरम्परा' (heredity) शब्द का प्रयोग अनेक परिचित तथ्यों के लिए किया जाता है, जो निम्न सिद्धान्त को प्रतिपादित करते हैं कि "समान में समान उत्पन्न करने की प्रवृत्ति है" (like tends to beget like[1])। यह कहना अनुभव का सामान्यन

1 Thomson and Geddes, Evolution, p. 114.

(generalisation) है कि बच्चे मानसिक और शारीरिक गुणविशेष अपने माता-पिता से प्राप्त कर सकते हैं। हम साधारण बातचीत में कहते है कि "एक युवक अपनी माँ या मामा को गया है।" जैसे जाके माई बाप वैसे वाके लरिका—पुरानी कहावत है। सामान्य मनुष्य अच्छे खानदान (परिवार) में विश्वास करता है, और आनन्द या दु:ख के लिए वंशपरम्परा की शक्ति में।

हम अनेक बातों को कृतक वंशानुगत (seeming inheritence) कहने लगते है परन्तु इनमें बहुत-सी वातावरण के कारण होती हैं, क्योंकि पुत्र द्वारा पिता के अनेक वंशानुगत लक्षणों का कारण यह हो सकता है कि उसका लालन-पालन पिता ने किया हो परन्तु वंशपरम्परा के सम्बन्ध में ऐसी अत्योक्तियों के लिए स्थान छोड़ते हुए भी हमको कहना पड़ेगा कि वंशपरम्परा का तथ्य एक महान् चमत्कार है। हमको जानना चाहिए कि वंशपरम्परा, जैसा आचार्य मेकब्राइड (MacBride) ने कहा है,[1] भ्रमात्मक रूपक है जो जायदाद में उत्तराधिकार के नियमों से लिया गया है। हम अपने माता-पिता से अपने शरीर नहीं प्राप्त करते है, वरन् केवल एक जीवाणु (germ) जो किसी रहस्यपूर्ण रीति से बढ़ कर मनुष्य हो जाता है। यह विचार कि मौलिक जीवाणु में हमारे शरीर के समस्त अंगों की सूक्ष्म प्रतिलिपियाँ रहती हैं, जिनको केवल बढ़ना शेष रह जाता है, अब मान्य नही है। फिर, उदाहरण के लिए, वह जीवाणु जिससे कुत्ता अपना जीवन आरम्भ करता है, प्रायः मानवीय जीवाणु के एकसम है। फिर भी, एक विकसित होकर कुत्ता बन जाता है और दूसरा मनुष्य, जिनमें से प्रत्येक अपने माता-पिता के लक्षणों को लाखों की संख्या में दोहराता है। ऐसा क्यों होता है ?

1 Evolution, p. 11.

एक के माता-पिता कुत्ते हैं, जब कि दूसरे के मनुष्य। परन्तु दो एक-से कीटाणु-कोशाओं (germ-cells) के विकास में इतना महान् अन्तर क्यों होना चाहिए ?

यह विचार किया जाता था कि वीजमेन (Weismann) के बीज-कोष (germ-plasm) के सिद्धान्त की निरन्तरता (continuity) इस मामले को स्पष्ट कर देगी। यह सिद्धान्त क्या है ? सन् १८७५ में गॉल्टन (Galton) ने बताया कि एक अर्थ में बच्चा उतना ही बड़ा है जितने उसके माता-पिता, वस्तुतः इतना बड़ा जितने उसके सब से प्रथम पूर्वज। पाठक को ज्ञात होगा कि जीवाणु-कोशा से कोशाओं की वृद्धि द्वारा शरीर बढ़ता है। इस प्रक्रिया के आरम्भ ही में कुछ कोशा अपरवर्तित रूप में ही अलग कर दिये जाते हैं और जो नये व्यक्ति में पुनः उत्पादन के कोशा बन जाते हैं, और उनमें एक किसी दूसरे मनुष्य के निर्माण का अग्र-बिन्दु बन सकता है। ये पुनः उत्पादक कोशा शरीर के विकास में कोई भाग नहीं लेते और एक पीढ़ी से दूसरी पीढ़ी तक ये निरन्तर रहते हैं। "इस प्रकार माता-पिता बच्चे के उत्पादक होने की अपेक्षा जीवाणु-कोश के रक्षक हैं।"[1] वीजमेन ने इस भाव का विकास किया, और यह सिद्धान्त अब उसके नाम के साथ जोड़ा जाता है।

कुछ लोग ऐसा समझेंगे कि पित्र्य-द्रव्य या बीज-कोष (germ-plasm) की इस निरन्तरता (continuity) में हमको इस बात का समाधान मिलता है कि समान समान को क्यों उत्पन्न करता है। परन्तु यह समाधान इतना आनुमानिक है कि इसको सन्तोषजनक नहीं कहा जा सकता। बीज-कोष में केवल आपेक्षिक निरन्तरता है, वह वहाँ विकास के

1 Thomson and Geddes, Evolution, p. 116.

बिलकुल आरम्भ में शेष व्यक्ति से पृथक् नहीं है। फिर, यह कहना कि यद्यपि वह सदा परिमाण में बढ़ता जा रहा है तथापि वृद्धि की प्रक्रिया निरन्तर है, वंशपरम्परा का कथन मात्र है उसका समाधान नहीं है। हम यह कह सकते हैं कि क्रमागत पीढ़ियों के रूप एक-से ही होते हैं क्योंकि वे समान, एक-ही नहीं, बीज-कोष से उत्पन्न होते हैं; परन्तु यदि हम वंशपरम्परा का समाधान इस प्रकार करेंगे तो हमको पहले यह बतलाना पड़ेगा कि बीजकोष समान क्यों रहा आता है। फिर, मेकब्राइड (MacBride) ने अनेक अल्प जीवी छोटे पशुओं के सम्बन्ध में यह तो मान लिया है कि जीवाणु-विश्लेषण (germinal segregation) का सिद्धान्त ठीक है; परन्तु वह कहता है सपृष्ठप्राणी अर्थात् मेरुदण्ड वाले प्राणियों (vertebrata) में जीवाणु-कोशा भ्रूण में बहुत शीघ्र आकर मन्द हो जाते हैं और पशु के बड़े होने से पहले ही उनका शोषण हो जाता है। वे जीवाणु-कोशा जो सन्तान के प्रारम्भ-बिन्दु होते हैं वास्तव में कुछ काल पीछे विकसित होते है। वीजमेन का सिद्धान्त, यद्यपि मुख्य अंशों में सत्य भी हो, तो भी वह परम्परा का समाधान नहीं करता। जीव-शास्त्र वंशपरम्परा-सम्बन्ध की कल्पना के लिए उसका बहुत आभारी है "न कि माता-पिता और सन्तान के शरीरों के मध्य, वरन् पैतृक (parental) और पुत्रीय (filial) जीवाणु-कोशाओं के अन्तर्गत।"[1]

हम सत्य के अधिक निकट हैं जब हम मेंडल (Mendel) के प्रसिद्ध नियम का परीक्षण करते हैं जो वंशपरम्परा की रूढ़ि-मूलक प्रवृत्ति पर अधिक प्रकाश डालता है। सन् १८६५ ई० में ग्रेगर जोहेन मेंडल (Gregor Johann Mendel) ने, जो

1 Thomson and Geddes, Evolution, p. 138.

आस्ट्रिया-साइलिशिया का साधु था, ब्रन (Brunn) के प्राकृतिक इतिहास परिषद् में एक लेख पढ़ा जो १६०० ई० तक प्रकाश में नहीं आया, जब कि दूसरे खोज करने वाले भी स्वतन्त्र रूप से उसी निष्कर्ष पर पहुँचे। मेंडल का प्रयोग था बड़ी मटरों का छोटी मटरों के साथ संकरण (crossing), और कई पीढ़ियों तक उनकी संतति का परीक्षण। ये मटरें स्वभावतः स्व-निषक्त (self-fertilized) थीं, और यह तथ्य दशाओं को बहुत सरल कर देता है। फलतः पहली संकर पीढ़ी की सब मटरें लम्बी थीं; अतएव लम्बाई प्रधान या व्यक्त (dominant) लक्षण समझा गया और छोटेपन को अपगामी या सुप्त (recessive) कहा गया। जब इस संकर पीढ़ी की लम्बी अथवा प्रधान मटरें स्व-निषिक्त होने के लिए छोड़ दी गई तो उन्होंने अगली पीढ़ी में लम्बी और छोटी मटरों को तीन और एक के अनुपात में उत्पन्न किया। इस पीढ़ी के वामनों (छोटी मटरों) को स्व-निषिक्त होने दिया गया; अगली समस्त संतति तथा शेष पीढ़ियों की संतति छोटी थी। इस प्रकार दूसरी संकर पीढ़ी के वामन शुद्ध अपगामी थे। दूसरी पीढ़ी की लम्बी मटरों को भी स्व-निषिक्त होने दिया गया, और उनकी संतति दो प्रकार की थी। उनमें से एक-तिहाई शुद्ध प्रधान थीं जिन्होंने आगे केवल लम्बी मटरें ही उत्पन्न कीं; अन्य दो-तिहाई, क्योंकि उन्होंने लम्बी तथा छोटी (वामन) मटरें तीन और एक के अनुपात में उत्पन्न की थीं, अशुद्ध प्रधान थीं जो प्रथम संकर पीढ़ी के सम्पूर्ण मटरों के समान थीं। इस प्रकार दूसरी पीढ़ी की समस्त मटरों में २५ प्रतिशत शुद्ध अपगामी थीं, २५ प्रतिशत शुद्ध प्रधान थीं और ५० प्रतिशत अशुद्ध प्रधान थीं। ये कृतक (जाहिरा) जटिल फल निम्न प्रकार की सारिणी[1] द्वारा प्रकट किये जा सकते हैं—

1 Thomson and Geddes, Evolution, p. 138.
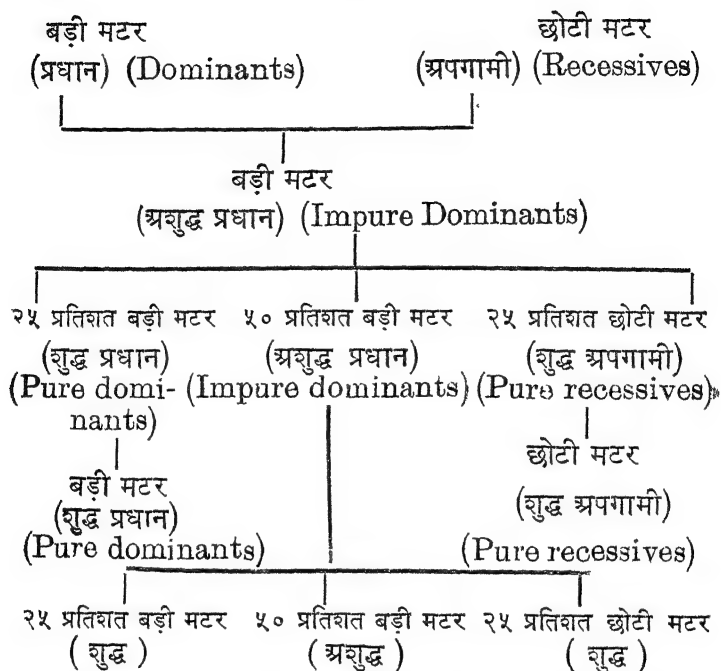
जब से ये परिणाम ज्ञात किये गये हैं, इनका परीक्षण वनस्पति-जीवन और पशु-जीवन दोनों में बार-बार हो चुका है, पशुओं में दृढ़ अंतर्प्रजनन (inbreeding) से और पौधों में समानुकूल स्वयं-निषेचन (self-fertilization) द्वारा। कुछ लक्षण मिश्रीकृत हो जाते हैं, जब कि दूसरे नहीं। मेंडल का नियम उसी दशा में लागू है जब कि माता-पिता में विपरीत लक्षण होते हैं जो मिश्रीकृत नहीं होते। उदाहरण के लिए, नियम वहीं लागू हुआ है जहाँ साधारण चूहों का संकर लोटन चूहों (waltzing mice) के साथ किया गया है, सामान्यता (normality) प्रधान लक्षण रहा और लोटन (waltzing) अपगामी लक्षण।

मेंडल ने स्वयं "शुद्ध जन्यु (gametes) के वियोजन (segregation)" की परिकल्पना इन आश्चर्यजकनक तथ्यों का समाधान करने के लिए बताई है। उसकी धारणा थी कि उत्पादक कोशा अथवा जन्यु, जिनको प्रथम संकर पीढ़ी ने उत्पन्न किया था दो प्रकार के थे, शुद्ध प्रधान अथवा अशुद्ध अपवर्ती (छोटे), परन्तु दोनों के मिश्रण नहीं, और दोनों प्रकार के लगभग बराबर संख्याओं में उत्पन्न किये गये और फिर पीछे की निषिक्त (fertili zation) आकस्मिक थी। अब यह स्मरण करते हुए कि नर कोशा का मादा कोशा के संयोग से एक नवीन व्यक्ति उत्पन्न होता है, हम देखते हैं कि नर प्रधान जन्यु और मादा प्रधान जन्यु एक शुद्ध प्रधान को उत्पन्न करेंगे; एक नर वामन और एक मादा वामन शुद्ध वामन को पैदा करेंगे; एक नर प्रधान और एक मादा वामन एक अशुद्ध प्रधान को जन्म देंगे; और एक वामन नर तथा एक मादा प्रधान भी अशुद्ध प्रधान को जन्म देंगे। इस प्रकार एक शुद्ध प्रधान के पैदा होने का अवसर एक और चार के अनुपात में होगा; शुद्ध वामन का अवसर भी चार में एक ही होगा; जब कि अशुद्ध प्रधान का अवसर दो में एक रहेगा। परिकल्पनाओं के ये फल ठीक वे ही हैं जो परिणाम प्रयोग द्वारा प्राप्त हुए हैं। निम्न चित्र[1] से इस समाधान का स्पष्टीकरण हो जायगा।
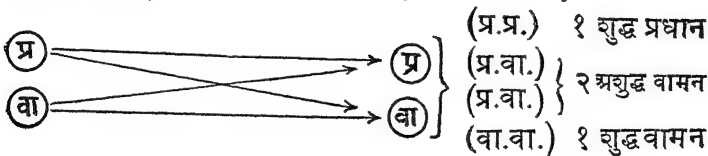
1 Thomson and Geddes, Evolution, p.135.

इस सिद्धान्त को मेंडलवाद (Mendelism) का प्रधान आधार बतलाया जाता है कि संकरों द्वारा उत्पादित जीवाणु-कोशा शुद्ध पैतृक प्रकार के होते हैं और इसलिए विपरीत लक्षण अंतरित नहीं कर सकते। यह सम्भव हो सकता है कि संतति में संकरता के लक्षण बिलकुल न मिलते हों। हम यह भी देखते हैं कि जब मेंडल का नियम पूर्ण होता है तो हम दोनों दिशाओं में निरन्तर परागमन (reversion) पाते हैं।

वंशपरम्परा के इस संक्षिप्त और अधूरे अध्ययन में हमको केवल एक या दो तथ्य मिलते हैं, परन्तु पूरे विषय का कोई समाधान नहीं होता। क्या विकास की कल्पना का समाधान इसके द्वारा कुछ अच्छा हो जाता है ?

विकास का सिद्धान्त (doctrine of evolution) थोड़े से शब्दों में इस प्रकार कहा जा सकता है—पशुओं की भिन्न-भिन्न जातियों का विकास एक-ही पूर्वजों से हुआ है, और जीवन के उच्च रूप क्रमिक और व्यवस्थित प्रक्रिया द्वारा निम्न रूपों से विकसित हुए हैं। श्री बर्नर्ड शॉ (Mr. Benard Shaw) ने इस प्रकार लिखा है, "यदि आप यह विश्वास करते हैं कि कुत्ते, बिल्लियाँ, साँप, चिड़ियाँ, गुबरीले, सीपीयाँ, ह्वेल आदि सबकी परिकल्पना, निर्माण और नामकरण ईडन (Eden) के बाग में पृथक्-पृथक् हुए; और उनके जीवित रहने का एक-मात्र कारण अपनी जाति का संवर्द्धन रहा, तब आप विकासवादी नहीं हैं। परन्तु इसके विपरीत, यदि आपकी यह धारणा है कि समस्त भिन्न-भिन्न जातियाँ एक-एक प्रारम्भिक जाति का (Primal stock) अथवा थोड़े-से प्रारम्भिक जातिकाओं के समपरिवर्तन (modifications), परिवर्तन (variations) और परिवर्द्धन (elaborations) हैं तब आप विकासवादी हैं।"[1]

1 Back to Methuselah, p. xix.

विकास के तथ्य के विषय में तीव्र वाद-विवाद अब समाप्त हो गये हैं, और जो प्रमेय (proposition) हमने बतलाया है। उसकी यथार्थता पर कोई सन्देह नहीं करेगा। वास्तव में सामान्य मनुष्य की आजकल यही धारणा है। यद्यपि इस सिद्धान्त का घनिष्ट सम्बन्ध डार्विन के नाम से बतलाया जाता है, किन्तु इसकी कुछ सम्भावना अरस्तू (Aristotle) तथा अन्य यूनानी दार्शनिकों ने ज्ञात कर ली थी; और डार्विन से कुछ समय पहले ही कई विद्वान् हो चुके थे जैसे—गेटे (Goethe), बफन (Buffon), लेमार्क (Lamarck) और स्वयं डार्विन के बाबा इरेसमस डार्विन (Erasmus Darwin)।

ऐसा सिद्धान्त मनोवैज्ञानिकों और शिक्षाशास्त्रियों के लिए अवश्य ही महत्वपूर्ण है। वास्तव में, मनोविज्ञान और शिक्षा-शास्त्र के लिए जीव-शास्त्र की यह मुख्य देन है। उसके दूरगामी परिणाम अब मान्य हैं, परन्तु पूर्ण रूप से व्यवहार में लाने के लिए अभी अनेक वर्ष अपेक्षित है। स्पष्ट है कि यदि विकास मनुष्य के शरीर के लिए लागू है तो वह अवश्य ही उसके मन पर लागू है। हम निश्चित रूप से जानते है कि उच्च मानसिक प्रक्रियाओं का घनिष्ट सम्बन्ध प्रमस्तिष्क (cerebrum बड़ा मस्तिष्क) की क्रिया से है, यदि वास्तव में दोनों में बिलकुल दात्म्य ("one to one correspondence") न हो। यदि हम यह मान लें कि प्रमस्तिष्क स्वयं विकास का परिणाम है तो इसको अस्वीकार करना कठिन होगा कि मन भी उसी प्रकार निम्न प्रारूपों (forms) से विकसित हुआ है।

यद्यपि विकास का तथ्य सामान्यतः मान लिया गया है, परन्तु इस विषय पर घोर विवाद है कि वह किस रीति से हुआ। प्राणधारी जीवाणु और उसके वातावरण की अन्तःक्रिया की व्याख्या करने में सब सहमत हैं, परन्तु प्रक्रिया में दोनों तथ्यों के स्थान

के विषय में जीव-शास्त्रियों में मतभेद है। लेमार्क (Lamarck) और डार्विन (Darwin) के नाम के साथ दो अत्यन्त विरोधी मत संलग्न किये जाते हैं। इसलिए उन मतों को लेमार्कवाद तथा डार्विनवाद कह सकते हैं, अथवा पिछला मत नवीन-डार्विनवाद के नाम से पुकारा जा सकता है, क्योंकि डार्विन उन सब टीकाओं के लिए उत्तरदायी नहीं है जो उसके उत्साही शिष्यों ने उसकी पुस्तकों पर की हैं।

लेमार्क (१७४४-१८२९) एक फ्रांसीसी प्राणि-विज्ञ (naturalist) था, जिसने महान् जर्मन विकासवादी हेकल के अनुसार "अवरोह (descent) के सिद्धान्त की प्रथम सम्बद्ध और तर्कयुक्त व्याख्या" की। जीवी (living organism) के कार्य पर उसने बल दिया और विकास की सरल और नैसर्गिक व्याख्या की कि जीव, जिसमें अपनी आवश्यकताओं के समझने की और अपने वातावरण के अनुकूल बनने की आन्तरिक प्रेरणा है, ऐसा करने के लिए अपने प्राकृतिक स्वभाव को बदल देता है और अपनी शारीरिक रचना से भी संपरिवर्तन कर देता है। ऐसे संपरिवर्तन (modifications), विशेषकर किसी शारीरिक अंग का विशिष्ट उपयोग अथवा दुरुपयोग, संतति को हस्तान्तरित कर दिये जाते हैं, जो फिर उसी दिशा में उन्नति करते हैं। इस प्रकार नई जातियाँ क्रमशः पुरानी जातियों में प्रस्फुटित होती रहती हैं।

हम जिराफ के सुप्रसिद्ध उदाहरण द्वारा लेमार्क के सिद्धान्त का निरूपण कर सकते हैं। पत्तियों तक पहुँचने के लिए अश्व-तुल्य पशु को स्वभावतः अपनी गर्दन बढ़ानी पड़ती थी, और इस प्रकार क्रमशः वह अपनी शारीरिक रचना में संपरिवर्तन करता रहा। उसकी संतति की ग्रीवा अपने माता-पिता की अपेक्षा कुछ लम्बी होने लगी, और उसी वातावरण-सम्बन्धी उद्दीपक के रहने से उसी दिशा में अधिक संपरिवर्तन होने लगा।

उन्होंने भी अपने लाभों को अपनी सन्तति को हस्तान्तरित किया और धीरे-धीरे बहुत ही लम्बी गर्दन विकसित हो गई। संक्षेप में, लेमार्क का विचार है कि विशेष वातावरण के कारण क्रमागत पीढ़ियों को भी अपनी ग्रीवाएँ लम्बी करने की आवश्यकता प्रतीत हुई और अपने लाभों को उन्होंने अपनी सन्तति को हस्तान्तरित कर दिया।

लेमार्क का सिद्धान्त दो मुख्य पूर्वानुमानों (assumptions) पर अवलम्बित है। पहले तो आन्तरिक प्रेरणा की वास्तविकता है जिसको हमने पिछले अध्यायों में प्रयोजन या प्रेरणा (horme) कहा है, दूसरी धारणा यह है कि माता-पिता अपने जीवन-काल में अर्जित संपरिवर्तनों को अपनी सन्तति को हस्तान्तरित कर देते हैं। दूसरे पूर्वानुमान ने बहुत बड़ा वाद-विवाद खड़ा कर दिया है जो अभी तक अन्तिम रूप से तय नहीं हुआ है। हम शीघ्र ही उसकी ओर लौटेंगे।

डार्विन (१८०९-१८८२) को ही इसका श्रेय प्राप्त है कि उसने संसार को "विकास की दृष्टि से विचार करना" सिखलाया। न केवल उसने विकास के तथ्य का अद्भुत स्पष्टीकरण, बल और तर्क के साथ बताया, वरन् उसने एक व्याख्या (explanation) दी जिसने एक पीढ़ी तक मनुष्य के विचारों पर प्रभाव डाला। यह विचार किया जाता था कि उसने अपने समय में विकास को समझा दिया। परन्तु यह ठीक नहीं है। उसने प्रक्रिया में एक या दो आवश्यक तथ्यों पर अधिक बल दिया, और जैसा कि प्रत्येक महापुरुष के कार्य के साथ होता है उसके अनुयायियों ने अन्य तथ्यों को छोड़ कर उन्हीं पर अत्याधिक बल दिया। यद्यपि वर्त्तमान युग में डार्विनवाद की अवहेलना की गई है, परन्तु इसमें

स्वयं डार्विन का दोष नहीं है जो धीर, परिश्रमी, स्पष्ट-द्रष्टा प्राणि-विज्ञ (naturalist) और एक यथार्थ आदर्श विज्ञानवेत्ता था।

उसके सिद्धान्त की मुख्य बातें क्या हैं ? लेमार्क की विपरीतता में डार्विन ने जीवाणु (organism) को प्रभावित करने वाली वातावरण-की-क्रिया पर बल दिया। उसने बताया कि अधिकांश पशु अत्यधिक बहुप्रज (prolific) होते हैं, सबके लिए न स्थान है और न भोजन, और इसके फल हैं जीवन-संघर्ष (struggle for existence) और बलिष्ठ अति जीविता (survial of the fittest)। परन्तु एक व्यक्ति दूसरे की अपेक्षा जीवित रहने के लिए क्यों अधिक उपयुक्त है ? डार्विन ने इस प्रश्न का उत्तर जन्मजात विभेदों द्वारा दिया, जो एक व्यक्ति और दूसरे व्यक्ति में पाये जाते हैं। जीवन का ताना-बाना इतना जटिल बुना गया है कि तनिक-सी आकस्मिक विभिन्नताएँ भी अपने स्वामियों के लिए अति-जीवन का मूल्य (survival value) रख सकती हैं, जो फलस्वरूप अपने कम भाग्यशाली भाइयों की अपेक्षा अधिक दीर्घ जीवन और अधिक बड़ा परिवार प्राप्त कर सकेंगे। ये अनुकूल विभिन्नताएँ दूसरी पीढ़ी को अन्तरित हो जाती हैं, जो एक नवीन मध्यक (mean) पर परिवर्तित (vary) होती हैं। फिर, अति अनुकूल परिस्थितियों वाले जीवित रहते हैं, विस्तृत होते हैं और परिवर्तनोंको अपनी सन्तति को अन्तरित(transmit) कर देते हैं। धीरे-धीरे इस प्रकार नई पीढ़ियाँ उत्पन्न हो जाती हैं और इस कार्य में पृथक्करण बहुत सहायक होता है। समस्त लक्षण जो एक पशु और दूसरे में भेद बताते हैं उनका कारण प्रारम्भिक जातिका (stock वंश) अथवा जातिकाओं में न्यून अन्तर ही बताया जाता है।

उदाहरण के लिए जिराफ में हम कल्पना कर सकते हैं कि विकास में एक प्रक्रम पर, वह चार फुट ऊँचा था। जैसे कि वह

संख्या में बढ़ता गया इस ऊँचाई के पशुओं की पहुँच के भीतर पेड़ों की पत्तियाँ शीघ्र समाप्त हो गईं और केवल उनके ही अति-जीवन की आशा रह गई जो साधारण से अधिक लम्बे थे। यह चुनाव और लोप (elimination) अगणित क्रमानुगत पीढ़ियों तक रहा और अन्तिम परिणाम आधुनिक जिराफ हुआ जैसा हम उसे आज के दिन देखते हैं।

इस प्रकार डार्विन का सिद्धान्त कुछ पूर्वानुमानों पर आधारित है कि जीवित प्राणी अत्यन्त बहुप्रज हैं, उनको भोजन के लिए संघर्ष करना पड़ता है, विभिन्नताएँ हो जाती हैं और वे अन्तरित की जा सकती हैं और इन सबका परिणाम होता है योग्य व्यक्तियों का अतिजीवन और अयोग्यों का लोप। इस प्रक्रिया को प्राकृतिक चुनाव (natural selection) कह सकते हैं और इस परिणाम को बलिष्ठ अति जीविता (survival of the fittest)।

डार्विन दो जन्मजात विभिन्नताओं को मानता था—प्रथम वे क्षुद्र विभिन्नताएँ जो निम्न प्रकार के प्राणियों में प्रचुरता से पाई जाती हैं और दूसरे वे प्लवन (salatory) विभिन्नताएँ या क्रीड़ाएँ (sports) जो साधारण से बहुत दूर हैं। उसने यह अनुमान नहीं किया था कि विभिन्नताएँ आकस्मिक नहीं हैं वरन् उसने स्पष्ट रूप से उनकी उत्पत्ति के विषय में अपनी घोर अज्ञानता मान ली थी। उसको विश्वास था कि दोनों प्रकार अन्तरित किये जा सकते हैं, परन्तु अन्य विभिन्नताओं के संग्रह के कारण ही नयी जातियाँ प्रस्फुटित हुई थीं।

अन्य विद्वानों ने आकस्मिक, खंडित (discontinuous) विभिन्नताओं पर सकेन्द्रित (concentrated) किया है जिनको अब उत्परिवर्तन (mutations) कहते हैं। गॉल्टन (Galton) ने आंगिक रचना (organic structure) की तुलना एक बहुभुजीय प्रतिमान (polygonal model) से की है जो

अकस्मात् ही समतोल (equilibrium) स्थिति में आ सकता है। एम्सटरडम के आचार्य ह्यु गो डि व्राई (Hugo de Vries) ने १६०० ईसवी में 'उत्परिवर्तन सिद्धान्त' (The Mutation Theory) नामक पुस्तक प्रकाशित की जिसमें उसने संध्या पीतसेवती (primrose बसन्ती गुलाब) के अध्ययन का वर्णन दिया है। उसने मालूम किया है कि नये प्रकार अकस्मात् ही प्रस्फुटित हो गये और इन उत्परिवर्तनों की सन्तति मूल की ओर प्रतिवर्तित (reverse) नहीं हुई। उसका तर्क था कि विकास का आम-द्रव्य (raw material) इसलिए इन उत्परिवर्तनों में मिलता है, जिनके विषय में उसका विचार था कि उनकी पूर्व कल्पना नहीं की जा सकती थी और जिनके वातावरणीय कारण न थे। परन्तु आचार्य मेकब्राइड ने इस सिद्धान्त के विरुद्ध अकाट्य आपत्तियाँ प्रस्तुत कीं। उसने बताया कि उत्परिवर्तन यदा-कदा ही होते हैं और उसने तर्क दिया कि क्योंकि वे जीवाणु-दुर्बलता के कारण हैं, वे सामान्य प्रकार के व्यक्तियों की अपेक्षा अतिजीवन के लिए कम अनुकूल हैं। उसके अनुसार, प्रगतिशील विकास के लिए उत्परिवर्तन (mutations) अनुपयुक्त द्रव्य हैं।

प्रतिस्पर्धी सिद्धान्तों का आपेक्षिक मूल्य आँकने से पहले हम को अर्जित संपरिवर्तनों (acquired modifications) के संचरण के प्रश्न का संक्षिप्त परीक्षण करना आवश्यक है, जो, जैसा हम पहले देख चुके हैं, लेमार्क के सिद्धान्त के लिए मूलभूत हैं। अर्जित संपरिवर्तन (acquired modifications) लघु जन्मजात परिवर्तनों (innate variations) और प्लवन उत्परिवर्तनों (salatory mutations) दोनों से पृथक् हैं, जिनको डार्विन तथा डि व्राई (de Vries) क्रमशः प्राकृतिक चुनाव की छटनी के लिए उपयुक्त समझते थे। ये संपरिवर्तन

जिनकी चर्चा की जा रही है वे परिवर्तन हैं जो किसी व्यक्ति के जीवन में उसके भिन्न-भिन्न शारीरिक अंगों के व्यवहार अथवा अव्यवहार की विलक्षणताओं द्वारा, वातावरण द्वारा, अथवा पोषण में परिवर्तन द्वारा प्रेरित होते हैं। प्रश्न यह है कि, क्या ये अर्जित संपरिवर्तन (acquired modifications) संचारित किये जाते हैं? सामान्य मनुष्य का विचार है कि संचारण (transmission) अवश्य होता है। उसका कथन है कि सदाचारी माता-पिता की सन्तान भी सदाचारी होती है, और, यह सिद्ध करने के लिए कि जीवन के अच्छे या बुरे ढंग वंशानुगत हैं, वह अनेक उदाहरण प्रस्तुत करता है। परन्तु यह बताने से वह सोच में पड़ जायगा कि एक भुजा वाले पिताओं के दो भुजा वाले पुत्र जन्मते हैं, और इसलिए एक भुजा का तथ्य अर्जित विशेषता है जिसका संचालन नहीं होता। सर जॉन आदम्स ने पैगम्बर जेरिमिआ (Jeremiah) का उद्धरण दिया है कि "पिताओं ने खट्टे अंगूर खाये थे, अतएव उनकी सन्तानों के दाँत खट्टेपन की अनुभूति कर रहे हैं",[1] और इससे यह निष्कर्ष निकाला है कि यह आवश्यक नहीं है कि हम यहाँ कारण और परिणाम पर ही विचार कर रहे हों और यह कि बच्चों के दाँतों का खट्टापन उनके वातावरण में खट्टे अंगूरों के कारण हो सकता है। थोड़ा विचार करने के पश्चात् पाठक को विश्वास हो जायगा कि माता-पिता के विशेष लक्षणों का उनकी सन्तान में उदय होने का कारण, वंशपरम्परा न होकर, अपने माता-पिता के सहवास में उनका पालन-पोषण हो सकता है। यह परिणाम वंशपरम्परा से इतना मिलता-जुलता है कि इसको व्यक्त करने के लिए 'सामाजिक वंशपरम्परा' (social heredity) शब्द बना लिया गया है। शारीरिक वंशपरम्परा और सामाजिक वंशपरम्परा के

1 Jeremiah xxxi, 29.

परिणामों को एक-दूसरे से अलग करना अत्यन्त कठिन है, और सामान्य अनुभव द्वारा अर्जित लक्षणों के संचारण की समस्या नहीं सुलझाई जा सकती।

इस प्रश्न पर घोर वाद-विवाद किया गया और एक बार ऐसा प्रतीत हुआ कि इसका निर्णय हो गया। संचालन के विरुद्ध वीजमेन (Weismann) का निर्णय वैज्ञानिकों ने प्रायः स्वीकार कर लिया, और ऐसा विचार किया गया कि लेमार्कवाद (Lamarckism) का अन्त हो गया। अवश्य ही इसका कारण बताना कठिन था कि किस प्रकार अर्जित संपरिवर्तन बीज-कोष (germ-plasm) पर प्रभाव डाल सकते हैं, यदि वह बीज-कोष बहुत आरम्भ में ही पृथक् कर दिया गया था और शरीर के विकास में उसने कोई भाग नहीं लिया था। प्रयोग द्वारा भी इसका परीक्षण किया गया और इसका कोई प्रमाण नहीं मिला कि संचारण हुआ। स्वयं वीजमेन का सूक्ष्म प्रयोग था कि चूहों की पूँछें कई पीढ़ियों तक लगातार काटी गईं, परन्तु उनके बच्चे पूँछदार ही उत्पन्न हुए। इस प्रकार यह सिद्ध करके कि पुच्छविहीनता एक वंशानुगत लक्षण नहीं है, उसने उल्लास-पूर्वक यह परिणाम निकाला कि अर्जित लक्षण संचारित नहीं किये जा सकते।

कुछ लोगों ने इस नास्ति-निर्णय (negative verdict) को अस्वीकार किया, और प्रश्न पर फिर वाद-विवाद होने लगा। वर्त्तमान समय में प्राणिशास्त्र-वेत्ताओं को पूरा विश्वास नहीं है कि अर्जित संपरिवर्तन बीज-कोष को प्रभावित नहीं करते। "एक बार-बार होने वाले उद्दीपक के प्रभाव स्नायु-मार्गों जीवसत्वीय (protoplasmic) सेतुओं और द्रुत रक्त के द्वारा जीवी (organism) में अनुविद्ध (saturated) हो सकते हैं; तो

उन्हें, अवश्य ही कुछ दशाओं में, जीवाणु-कोशाओं (germ-cells) के गुप्त स्थानों में पहुँचने से कौन रोक सकता है ?"[1]

फिर, वीजमेन का प्रयोग मूर्खतापूर्ण था। वह लेमार्कवाद के पक्ष और विपक्ष दोनों ओर प्रयोग किया जा सकता है। जैसा बर्नार्ड शॉ (Bernard Shaw) ने कहा है, चूहों ने पूँछें नहीं खोईं, क्योंकि वे उन्हें खोना नहीं चाहते थे। उसने कहा है कि "विकासवाद की एक जीवनावश्यक अवधारणा से वीजमेन को सीख लेना था कि जीवशास्त्रीय समस्याएँ चूहों पर आक्रमण करने से नहीं सुलझाई जा सकतीं।"[2]

इस वादविवाद में सबसे पीछे का प्रकरण इस बात को सिद्ध करने का प्रयत्न है कि अर्जित आदतें कुछ अंश तक संचारित की जा सकती हैं। इसमें कोई सन्देह नहीं कि न्यून अवस्था पर बनने वाली और जीवन भर रहने वाली आदतें एक व्यक्ति की शारीरिक रचना में अवश्य संपरिवर्तन करती हैं। उदाहरण के लिए, हम लोहार के पुट्ठों के विषय में विचार कर सकते हैं। ऐसे व्यक्तियों की सन्तति, यदि उनको वही उद्दीपन मिलता रहे, तो अपने माता-पिता की अपेक्षा आदतों को अधिक शीघ्र प्राप्त करती है, और रचनासम्बन्धी परिवर्तन बढ़ जाते हैं। यदि उद्दीपन पीढ़ी दर पीढ़ी बना रहता है तो आदतें और रचना के अनुवर्ती संपरिवर्तन और उत्तेजन से ही दिखाई पड़ने लगते हैं; अन्त में वे बिना उद्दीपक के ही देख पड़ते हैं।

उपर्युक्त प्रस्थापना (proposition) की सत्यता का थोड़ा-सा प्रमाण अब मिलता है। हम केवल एक प्रयोग का फल बतायेंगे। मेकडूगल[3] ने शुद्ध नस्ल के सफेद चूहों को बार-बार पानी के एक

1 Thomson and Geddes, Evolution, pp. 195, 196.
2 Back to Methuselah, p. 1.
3 British Journal of Psychology, April 1927 and January 1930.

तालाब में डाल दिया, जिससे वे दो में से किसी एक संकुचित मार्ग द्वारा निकल कर एक चबूतरे पर पहुँच सकते थे। दोनों में एक मार्ग सदा पीछे से प्रकाशमान कर दिया जाता था और उसमें इस प्रकार एक बिजली का तार डाल दिया जाता था कि वहाँ से निकलने पर चूहे के पैर में बिजली का धक्का लगता था। इस प्रकार कटु अनुभव से बचने के लिए उसको अँधेरे मार्ग से तालाब को छोड़ना पड़ता था। मेकडूगल ने ज्ञात किया कि आरम्भ में अँधेरे मार्ग द्वारा जाने से पहले चूहों ने औसतन १६५ भूलें कीं, और इसलिए इतने ही बिजली के धक्के अनुभव किये। अपने प्रयोग को उसने इन चूहों की संतति के साथ जारी रखा, और ज्ञात किया कि इच्छित अभ्यास डालने से पूर्व तीसरी पीढ़ी में केवल २५ भूलें हुईं। इस प्रकार बच्चे अपने माता-पिता की अपेक्षा लाभदायक आदतों को अधिक सुगमता से अर्जित कर लेते हैं, यद्यपि इन आदतों तथा इनसे सम्बद्ध रचनामूलक परिवर्तनों को, 'पाठों' से पृथक् प्राप्त करने ने लिए, सहस्रों पीढ़ियों का काल व्यतीत हो जाता है।

हम कुछ टेढ़े मार्ग से अपने मौलिक प्रश्न के अल्पकालीन उत्तर पर पहुँचे हैं। वह प्रश्न था, "मूलप्रवृत्तियाँ किस प्रकार उत्पन्न होती हैं?" मूलप्रवृत्तियाँ जातिगत (racial) आदतें हैं जो सम्भवत: धीरे-धीरे ऊपर दिखाये गये मार्ग द्वारा संचारित होती हैं। पशुओं की एक विशेष जाति अपने को ऐसी परिस्थितियों में पाती है जिसमें स्व-तथा-जाति-रक्षा के लिए कुछ आदतों को अर्जित करना पड़ता है। यदि वे ही परिस्थितियाँ रही आयें, तो उनकी सन्तान लाभदायक आदत को अधिक सुगमता से प्राप्त कर लेती है। उत्तरोत्तर पीढ़ियों में इस आदत के प्राप्त करने की प्रवृत्ति अधिकाधिक बलवती होती जायगी, और अन्त में इस आदत के सीखने की आवश्यकता न रहेगी। फिर, हमको यह भी

कल्पना करनी पड़ेगी कि इन आदतों के पीछे कतिपय मस्तिष्क-सम्बन्धी तथा मानसिक रचनाएँ बन जायेंगी और वंशानुगत चलती रहेंगी।

उदाहरण के लिए, भय के समय पशु भाग जाने की आदत अर्जित कर लेते हैं, क्योंकि यह प्रतिक्रिया परिस्थिति के लिए सबसे अधिक अनुकूल है। कार्य को निश्चित करने वाली संस्कार-भाव-ग्रन्थि (engram complex) उसके अनुभव से अनाश्रित ही उस व्यक्ति में विकसित होगी। निस्सन्देह यह प्रक्रिया अत्यन्त मन्द रही होगी, क्योंकि हमारी सब मूलप्रवृत्तियाँ जाति के दूरस्थ भूतकाल से और असभ्य जीवन से सम्बद्ध हैं। परन्तु आशा यह की जा सकती है कि विशेषकर जब मनुष्य अपने को सँभाल रहा है, एक दिन सभ्य जीवन से सम्बन्धित मूलप्रवृत्तियाँ भी उसमें आ जायेंगी।

विकास के तथ्यों पर उपर्युक्त वाद-विवाद के मनोविज्ञान और शिक्षा-सिद्धान्त पर, अनेक व्यवहरण (applications) हैं। सर्वप्रथम हम इसका सम्बन्ध शिक्षा-दर्शन से देखेंगे। यद्यपि स्वयं डार्विन ने वातावरण के संकलित्त कार्य पर बल दिया, परन्तु जीवधारी के कार्य की उसने बिलकुल उपेक्षा नहीं की, किन्तु उसके अनुगामी इस सन्तुलन को नितान्त सुरक्षित नहीं रख सके और उन्होंने 'बलिष्ठ अति जीविता' (survival of the fittest) के सिद्धान्त को जीवन के दर्शन के स्तर पर शीघ्र उठा दिया। उसके समय के कुछ कुशाग्र बुद्धि विचारकों ने बताया भी कि इस अत्युक्ति का क्या परिणाम होगा। सेमुएल बटलर (Samuel Butler) का इस विषय में इतना प्रबल मत था कि वह महान् प्राणिविज्ञ के निजी चरित्र पर आक्षेप करने से न चूका। उसने कदाचित् अधिक न्यायपूर्वक यह बतलाया कि डार्विन ने "विश्व से मन को निकाल दिया" है। हक्सले (Huxley) ने

घोषणा की कि डार्बिनवाद ने प्रकृति को "विवादास्पद दिखावे" (nature as a gladiational show) का रूप दे दिया है। जब हम प्रथम महायुद्ध और उन घटनाओं का स्मरण करते हैं जिनके फलस्वरूप युद्ध हुआ और वर्त्तमान उद्योग-धन्धों में गलाकाट प्रतियोगिता देखते हैं, तो ऐसे सिद्धान्त के विनाशकारी प्रभाव के विषय में कोई सन्देह नहीं रह जाता, जब कि वह स्वयं मनुष्य पर लागू किया जाता है और प्राप्ति तथा घृणा के हेतु प्रमाण समझा जाता है। किसी अन्य वस्तु की अपेक्षा महायुद्धों ने हमारी धारणा दृढ़ कर दी है कि "बलिष्ठ अति जीविता" या "योग्यतम अवशेष" जीवन का मुख्य सिद्धान्त न हो सकता है और न होना चाहिए। अवश्य ही हम इसके अनुसार कार्य नहीं करते, जैसा कि अस्पतालों और पागलखानों से विदित है, और जैसा युद्धों में और उनके उपरान्त घायलों की सेवा-शुश्रूषा से स्पष्ट है।

इस प्रकार हम आवश्यक लेमार्कवाद के स्वस्थ पुनर्जीवन के मध्य में हैं कि जीने-की-चेष्टा ही प्रक्रिया में मुख्यतत्त्व है और यह स्वयं प्रयोजन या प्रेरणा (horme) ही है जिसने आदत में वे परिवर्तन और उनके फलस्वरूप रचना में परिवर्तन किये हैं जो विकास के द्रव्य हैं। बर्गसन (Bergson) का उत्पादक विकास (Creative Evolutin) ही वास्तव में लेमार्कवाद है जिससे रूक्षताएं हटा ली गई हैं, और जो नवीन और बलपूर्वक रीति से कहा गया है। फिर, जैसा हम देख चुके हैं, अर्जित लक्षणों के अप्रेषण (non-transmissibility) की कठिनाइयाँ भी समाप्त होती जा रही हैं। कुछ जीव-शास्त्रवेत्ता प्राकृतिक चुनाव के महत्त्व के विषय में संदिग्ध हैं। उदाहरण के लिए, मेकब्राइड (MacBride) कहता है कि "इस विचार को सरल अनुभवों ने समाप्त कर दिया है कि प्राकृतिक चुनाव विकास की क्रिया में

प्रमुख कारण है।"[1] परन्तु डार्विन के प्रति न्याय होगा यदि हम यह मान लें कि उसका मुख्य सिद्धान्त प्रक्रिया में अत्यन्त आवश्यक तत्त्व रहा होगा, यदि वातावरण सम्भवतः विकास का "आवश्यक कारण होने की अपेक्षा उद्दीपक" है। अब साधारणतया यह विचार किया जाता है कि प्राकृतिक चुनाव के कारण विकास नहीं हुआ; वह "प्रक्रिया की केवल गति बढ़ाने, विलम्बित करने और समाप्त करने की अधिक विनम्र स्थिति है, जो प्रक्रिया अन्यथा निश्चित परिवर्तन की थी।" [2]

शिक्षा में आदर्शवादी के लिए नवीन-डार्विनवाद (Noe-Darwinism) एक असम्भव मत है। हमारे लिए इसके और लेमार्कवाद के किसी रूप में पसन्द, "अन्त में हेरोड व मेगसन की राय और बच्चे के प्रति व्यवहार के मध्य"[3] है। 'बलिष्ठ अति जीविता' द्वारा केवल प्रिय बच्चे ही चुन लिये जायेंगे और शेष की उपेक्षा कर दी जायगी, और यदि अप्रिय बच्चों को योग्य बनाने का प्रयत्न किया जायगा तो उनकी सफलता औरों की असफलता होगी। संक्षेप में, शैक्षिक प्रयत्न प्रकृति की चुनाव-विधि में सहायता मात्र होगा। परन्तु हमारी शिक्षा-सम्बन्धी नीति इससे भिन्न है। हमारी धारणा है कि प्रत्येक बच्चे को जो इस संसार में जन्म लेता है सम्पूर्ण मानव-जाति के लिए अपना विशेष अंशदान (contribution) करना है और यह शिक्षा का मुख्य कार्य है कि वह उसे इस योग्य बनाये कि वह कुछ अंसदान कर सके। इस प्रकार हमारा उद्देश्य यह है कि प्रत्येक व्यक्ति को अवसर दिया जाये कि वह स्वयं अपने को ज्ञात कर सके, अपने अनन्य व्यक्तित्व को प्राप्त कर सके। हमारा कुछ-

1 MacBride, Evolution, p. 23.
2 Thomson and Geddes, Evolution, p. 248.
3 Thomson and Geddes, Evolution, p. 176.

कुछ आशय इस नारे से प्रकट होगा, जो यथेष्ट नहीं है, कि "नाली से विश्वविद्यालय तक" एक सीढ़ी बनाना है जिस पर कोई भी व्यक्ति इच्छानुसार चढ़ सकता है। और यह शुद्ध लेमार्कवाद है।

नवीन-डार्विनवादी दर्शन की मुख्य भूल का मूल कारण है मनुष्य का अपने ऊपर नियन्त्रण कर सकने की शक्ति को न मानना। एक उदाहरण लीजिए। मनुष्य को युद्ध की अधीनता भद्रतापूर्वक स्वीकार करने की आवश्यकता नहीं है और फिर हाथ जोड़ कर कहना कि जीवन-संघर्ष (struggle for existence) अवश्यम्भावी है और वह प्रकृति के विरुद्ध नहीं लड़ सकता। वरन् उसको कहना चाहिए कि मानव-प्रकृति ऐसे स्तरों से ऊपर उठ सकती है और उठनी चाहिए। मनुष्य अपने वातावरण का दास नही है; वह न केवल अपने को उसके अनुकूल बना सकता है, वरन् वह उसको अपने अनुकूल समायोजित कर सकता है, और यह कार्य उसने सहस्रों दशाओं में किया है जिनके विषय में सभी जानते हैं। शिक्षा को "वातावरण का समायोजन" (adaptaption to environment) कहना केवल आंशिक सत्य है, क्योंकि किसी सन्तोषप्रद शैक्षिक प्रक्रिया का फल व्यक्ति में और जाति में बढ़ी हुई शक्ति होगा, जिससे वह उस वातावरण को अपने हृदय की इच्छा के बहुत-कुछ अनुकूल बना लेगा।

यह वाद-विवाद लक्ष्य के केन्द्रीय विन्दु के अतिरिक्त अन्य बिन्दुओं पर शिक्षा-सिद्धान्त को स्पर्श करता है। लोकप्रिय शिक्षा के प्रारम्भ में यह आशा की जाती थी और विश्वास भी किया जाता था कि शिक्षा, यदि कुछ पीढ़ियों तक बराबर रहे, तो वह मानव-प्रकृति को इतनी महान् और श्रेष्ठ बना देगी जैसी कि वह कभी न थी। ऐसी आशाओं में अर्जित लक्षणों के संचारण में विश्वास निहित था, और वीजमेन का निर्णय शिक्षाशास्त्रियों

और समाजशास्त्रियों के लिए कुठाराघात के रूप में था। शिक्षा के आलोचकों ने इसकी खिल्ली उड़ाई और वे कहने लगे कि शिक्षक के पर कतर डाले गये। उन्होंने कहा कि शिक्षा व्यर्थ है, क्योंकि प्रत्येक पीढ़ी को फिर आरम्भ से ही चलना पड़ेगा और उसके जन्मदाताओं के प्रति सब प्रयत्न निष्फल रहेंगे। इस धक्के से भी शिक्षा-शास्त्री विचलित नहीं हुए और वे विवेकशील बने रहे; उन्होंने तुरन्त उत्तर दिया कि यदि वीजमेन का कथन ठीक है तो शिक्षा का कार्य और भी गुरुतर हो जाता है, और वह है प्रत्येक पीढ़ी को बर्बरता से बचाना। कुछ लोग और आगे बढ़ गये, और उन्होंने आलोचकों के पैर उखाड़ दिये। डा० एफ. एच. हेवर्ड (Dr. F. H. Hayward) ने अपनी पुस्तक 'शिक्षा और वंशपरम्परा प्रेत' (Education and the Heredity Spectre) में अर्जित लक्षणों की संचालनहीनता पर तनिक भी खेद नहीं प्रकट किया; उसका तर्क था कि शिक्षाविज्ञ को प्रसन्न होना चाहिए कि बुरी आदतें वंशानुगत नहीं चलतीं, क्योंकि उसे निश्चय है कि वह अपना कार्य प्रतिकूल पक्ष में बिना किसी शेष आधिक्य (balance on the adverse side) के आरम्भ कर सकेगा।

वर्त्तमान अनिश्चित परिस्थिति में अर्जित लक्षणों के संचालन का प्रश्न अभी तक तय न होने के कारण अधिक कहना बुद्धि-मूलक न होगा। यदि मेकडूगल और अन्य विद्वानों के कार्यों का प्रमाणीकरण हो जाता है तो हम कह सकेंगे कि हमको आशा है कि एक पीढ़ी की आदतों को दूसरी पीढ़ी शीघ्र अर्जित कर लेगी और यह कि निश्चलता (inertia) के बल का धीरे-धीरे ह्रास हो जायगा, जिस पर प्रत्येक शिक्षक को विजय प्राप्त करना है। यदि ऐसा ही है तो हमारा उत्तरदायित्व और भी अधिक बढ़ जाता है कि हम देखें कि अर्जित आदतें अच्छी ही हों।

कदाचित् डा० हेवर्ड (Dr. Hayward) और हर्बार्टवाद (Herbartian doctrine) के अन्य प्रबल समर्थकों का मत कि शिक्षा सर्वशक्तिशाली है, किसी बच्चे के बौद्धिक और मानसिक विकास में काम करने वाले वंशानुगत प्रभावों की अवहेलना कर देता है। अपने पक्ष में वे बर्नार्डो होम्ज (Barnardo Homes) जैसी संस्थाओं का उदाहरण देते हैं कि उत्तम पालन और शिक्षा अ-होनहार बालक के लिए क्या कर सकती है। परन्तु वंशपरम्परा यह कहते हुए यहाँ फिर आ जाती है कि "तुम इतनी दूर जाना, इससे अधिक नहीं।" गॉल्टन और उसके अनुयायियों ने हर्बार्टवादियों से भिन्न मत प्रकट किया और वंशपरम्परा के महत्त्व पर बल दिया। हमारे सामने अमरीका के कई परिवारों के अरोचक इतिहास रखे जाते हैं, जिनके द्वारा हमको यह विश्वास दिलाया जाता है कि हमारे समस्त शैक्षिक प्रयत्न उस भाग्य को किंचितमात्र नहीं बदल सकते जिसको वंशपरम्परा ने निश्चित किया है। परन्तु नन (Nunn) बताता है कि हर्बार्ट और गॉल्टन दोनों के अनुयायी इस बात में भूल कर रहे हैं कि उनके विचार में बच्चा एक ऐसी वस्तु है जिसको साँचे में ढालना है, शिक्षा द्वारा अथवा वंशपरम्परा द्वारा। वह लेमार्कवाद पर फिर बल देता है कि बच्चे के विकास में मुख्य अंग बच्चा स्वयं है, और वह अपने वंशानुगत गुणों तथा शैक्षिक अवसरों का यथासम्भव प्रयोग कर सकता है। पालन-पोषण उसके विकास को निर्धारित नहीं करता, जिस प्रकार वंशपरम्परा विकास का निर्णय नहीं करती; वंशपरम्परा बच्चे के बाहर कोई शक्ति नहीं है, क्योंकि "जीवी (organism) और उसकी वंशपरम्परा (inheritence) दोनों आरम्भ में एक ही वस्तु हैं।"[1]

1 Thomson and Geddes, Evolution, p. 114.

विकास के तथ्य के शैक्षिक सिद्धान्त और अभ्यास का अत्यन्त महत्त्वपूर्ण उपयोग पुनरावर्त्तन (recapitulation) का मत है, जिसको हम संक्षेप में एक चकित कथन द्वारा इस प्रकार कह सकते हैं कि व्यक्ति अपने जीवन में ही अपने जातिगत विकास का पुनरावर्त्तन करता है। जैसा कि मेकब्राइड (MacBride) ने कहा है, "ऐसा प्रतीत होता है मानो कतिपय पशु अपने वास्तविक स्वरूप में आने से पहले अन्य पशुओं की योनियों में होकर निकले।"[1] यह साहसपूर्ण पूर्वकल्पना है, परन्तु सभी प्राणिविज्ञों ने इसे स्वीकार कर लिया है। उसके पक्ष में प्रमाण (evidence) विकास के तथ्य के लिए ही प्रमाण समझा जाता है; और पुनरावर्त्तन का तथ्य मनुष्य के भूतकालीन इतिहास के ज्ञान का मुख्य स्रोत समझा जाता है।

पुनरावर्त्तन (recapitulation) ही एक ऐसी परिकल्पना है जो विकास (development) के विचित्र तथ्य को पशु-जीवन के समस्त स्तरों पर समझा सकता है। उदाहरण के लिए, हम कल्पना कर सकते हैं कि अपने जातीय विकास के एक प्रक्रम पर मेंढक केवल एक प्रवृद्ध भेकशिशु (grown-up tadpole) था। अब मानो उसे अपने विकास में स्मरण है कि वह भेकशिशु के स्तर से मेंढक बन गया। पशु-संसार में ऐसे अनेक उदाहरण हैं, और भ्रूणशास्त्रज्ञ (embryologists) बताते हैं कि स्वयं मनुष्य पुनरावर्त्तन के इस सामान्य नियम का अपवाद नहीं है, कम से कम अपने शारीरिक स्वभाव के सम्बन्ध में। जीवी अपने जन्म के पूर्व-महीनों में एक अस्पष्ट और छोटे रूप में जीवन के निम्नतम रूप से आगे मनुष्य के आरोहण का पुनरावर्त्तन करता है। आचार्य स्टेनले हॉल (Stanly Hall) का, जो मानसिक

---

1 Evolution, p. 37.

विकास के विषय पर अधिकारी समझा जाता है, मत है कि जन्म के पश्चात् पुनरावर्त्तन जारी रहता है। हम उसके तर्क के विषय में किसी आगे के अध्याय में विचार करेंगे।

अब, क्योंकि शरीर और मस्तिष्क दोनों का विकास एक साथ हुआ है, हमको आशा करनी चाहिए कि यदि पुनराबर्त्तन शरीर की दृष्टि से ठीक है तो वह मन की दृष्टि से भी उचित होगा। अपने तत्कालोपयुक्त परिणाम को स्मरण रखते हुए कि आदतों को पुनः अर्जित करने की प्रवृत्ति संचालित हो जाती हैं, और रचना के परिवर्तन सम्भवतः इससे गौण हैं, हम यह भी विश्वास कर सकते हैं कि मानसिक पुनरावर्त्तन दैहिक पुनरावर्त्तन की अपेक्षा अधिक उपयोगी हो सकते हैं। वहुत से प्रमाण (evidence) हैं कि बच्चा अपने मानसिक विकास में अपने पूर्वजों के इतिहास के कुछ अंश का पुनरावर्त्तन कर देता है। मूलप्रवृत्तियों का धीरे-धीरे परिपक्व होना और जेम्स का "अस्थायित्व का नियम" (law of transitoriness)[1], अवश्य ही पुनरावर्त्तन द्वारा समझाये जा सकते है। स्टेनले हॉल (Stanley Hall) ने अपने प्रसिद्ध ग्रन्थ किशोरावस्था ('Adolesence') का आधार जातिगत और व्यक्तिगत विकास में समान्तरता के इस सिद्धान्त को माना है। दूसरों ने, बच्चों के मानसिक जीवन और असभ्य मनुष्यों के मानसिक जीवन में, कई बातों में जैसे खिलौनों की चाह में, भड़कीले रंग तथा निजी चटक-मटक में, उनके आलेख्य (drawings) और सामान्यतः उनके संवेगपूर्ण जीवन में, समान्तरताएँ देखी है। ऐसी समान्तरताएँ कुछ नही सिद्ध करती, परन्तु वे प्रबोधक है, और पुनरावर्त्तन में विश्वास को दृढ़ करती हैं जिसका आधार अन्यत्र है। हम हर्बार्ट स्पेंसर

१ देखिए पृष्ठ ८१।

(Herbert Spencer) के साथ विश्वास कर सकते हैं कि "शरीर के समान, मन का भी, एक पूर्व-निश्चित विकास-का-मार्ग है;" यह मार्ग गौण रूप से जाति के पूर्व इतिहास द्वारा निश्चित किया जाता है।

ऐसा मत, यदि सत्य हो तो, शिक्षा में अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है। बहुतों ने कहा है और इस बचन को प्रयोग करने को कहा है कि बच्चे को उसी प्रकार सीखना चाहिए जैसे जाति ने सीखा है। कदाचित् गेटे (Goethe) ने इसको स्पष्ट रूप से व्यक्त किया था जब उसने कहा था कि, "यद्यपि संसार सामान्यतः उन्नति के पथ पर अग्रसर है, नवयुवक को सदा आरम्भ से ही चलना चाहिए और संसार की संस्कृति के युगों का पारगमन (traverse) एक व्यक्ति के रूप में करना चाहिए।" हेगल (Hegel) ने स्थिति का इस प्रकार समर्थन किया—"पाठशाला-कक्ष की उन्नति में हम रेखा-चित्रों के रूप में संसार की शिक्षा का मार्ग देख सकते हैं।" हर्बर्ट स्पेंसर (Herbert Spencer) की शिक्षासम्बन्धी मुख्य उक्ति यह थी—"बच्चे की शिक्षा रीति और व्यवस्था दोनों ऐतिहासिक दृष्टि से मानव-जाति की शिक्षा के अनुकूल होनी चाहिए।" यह स्पष्ट है कि इन दार्शनिकों और शिक्षा-शास्त्रियों का विश्वास था कि ऐसा मत शिक्षा का मूल सिद्धान्त है। न्याय के रूप की खोज के लिए जिस प्रकार प्लेटो को एक ऐसे राज्य का निर्माण करना पड़ा जिसमें उसे "बड़े रूप में" व्यक्तिगत न्याय के पाने की आशा थी, इसी प्रकार अनेक शिक्षा-शास्त्री आशा करते हैं कि इतिहास के विस्तृत प्रवाह में उनको व्यक्ति के विकास का "बड़ा रूप" मिलेगा।

हर्बार्ट के एक शिष्य जिलर (Ziller) ने इस मत को अपनी "संस्कृति-युग" (culture-epoch) योजना में शैक्षिक

क्रिया के प्रति अपने प्रथम स्पष्ट प्रयोग के रूप में प्रस्तुत किया; और उसकी आंशिक संकुचित और परलिखित व्याख्या (circumscribed interpretation) के कारण ही यह सिद्धान्त कुछ समय के लिए अमान्य हो गया। शिक्षा में पुनरावर्त्तन की आलोचनाएँ बहुत हैं; परन्तु वर्त्तमान लेखक को ऐसा प्रतीत होता है कि वे आलोचनाएँ स्वयं उस सिद्धान्त पर नहीं हैं जो अटल है, वरन् सिद्धान्त के मूर्खतापूर्ण प्रयोगों पर की गई हैं। वर्त्तमान मनोविज्ञान के आगमन पर, और पाठन-विधि पर गम्भीर विचार और जाँच-पड़ताल के कारण, जो आधुनिक शिक्षा-शास्त्र की विशेषता है, इस सिद्धान्त ने पुनः अपना स्थान प्राप्त कर लिया है और वह शिक्षा के मूल सिद्धान्त के रूप में सामान्यतः मान्य हो गया है।

उदाहरण के लिए, बेंशरा ब्रेनफर्ड (Benchara Branford) जो पुनरावर्त्तन में अटूट विश्वास रखता है, उस सिद्धान्त को दार्शनिक, मनोवैज्ञानिक अथवा प्राणिशास्त्र-मूलक सिद्धान्तों द्वारा अनुमनन न करके, कहता है कि वास्तविक व्यवहार में यह मत पुष्ट हो जायगा अथवा गिर जायगा। वह अध्यापकों से यह स्मरण रखने के लिए कहता है कि वास्तव में पाठन की सर्वोत्तम विधियाँ मानव-जाति के सीखने की रीतियों की प्रतिध्वनियाँ हैं। इस प्रकार वह समान्तरता को मनमूलक सिद्धान्त न मान कर स्वयं पाठन-अनुभव का विस्तृत और उचित संक्षेप मानता है। वह गणित के शिक्षण में कई उपयोग बताता है, और अपनी धारणा को इस प्रकार कहता है कि, "समान्तरवाद वास्तविक और अकाट्य हो अथवा न हो, यह देखा जा सकता है कि गणित की अधिकतम प्रभावशाली उपस्थापनाएँ (presentations) वे हैं जो ऐतिहासिक विकास की परम्परा के अनुकूल हैं।"

यह सिद्धान्त अपने अत्यन्त विस्तृत तथा व्यापक अर्थ में शिक्षा पर लागू है, परन्तु इसका व्यौरेवार व्यवहरण (applications) कदाचित् भिन्न-भिन्न विषयों के पाठन में प्राप्त किया जा सकता है। इस प्रकार साहित्य का अध्ययन परियों की कहानियों, कल्पित कथाओं तथा पौराणिक कथाओं से आरम्भ हो कर, साहसपूर्ण कहानियों से गुजर कर कविता और दार्शनिक साहित्य के अध्ययन की ओर जा सकता है। इसी प्रकार संगीत की अनुभूति की शिक्षा पुनरावर्त्तन के सिद्धान्त पर आधारित होगी। विज्ञान में आर्मस्ट्रोंग (Armstrong) की ह्य रिस्टिक (heuristic) विधि में इस सिद्धान्त की स्वीकृति निहित है—यह वह रीति है जिसके द्वारा बालक अन्वेषक की स्थिति में रखा जाता है और वह तथ्यों को स्वयं ढूँढ़ निकालने का प्रयत्न करता है। गणित में कार्य की योजनाओं तथा एकैक विषयों दोनों में इसका महत्त्वपूर्ण प्रयोग किया जा सकता है।[1] एक उदाहरण यथेष्ट होगा। सन् १६२३ में गणित परिषद् की रिपोर्ट 'पाठशालाओं में रेखागणित का शिक्षण' (The Teaching of Geometry in Schools) प्रकाशित हुई। यह अनेक विद्वान् और अनुभवी अध्यापकों के महत्त्वपूर्ण सुझावों का संग्रह था। उसकी मुख्य सिफारिशों में एक यह है कि पाठशालाओं में रेखागणित के पाठन को तीन प्रक्रमों में विभक्त कर देना चाहिए—(१) प्रयोगात्मक (experimental), (२) निगमनीय (deductive), (३) तार्किक (logical)। इस रिपोर्ट में इतिहास के विषय में कुछ नहीं कहा गया है, और उपर्युक्त परिणाम सिद्धान्त के क्रियात्मक रूप की अपेक्षा सामूहिक अनुभव का संक्षेप है। परन्तु यद्यपि ऐसा है, फिर भी विषय के इतिहास से इन प्रक्रमों को निगमित किया

1 See Nunn, The Teaching of Algebra, and B. Banford, A Study of Mathematical Education.

जा सकता है; वे निम्न प्रक्रमों से सम्बद्ध हैं—(१) मिस्री प्रक्रम, (२) थेल निवासियों और प्राचीन यूनानियों का प्रक्रम, (३) यूकलिड (Euclid) और महान् यूनानी रेखागणितज्ञों का प्रक्रम ।

अध्यापक के अधिकतम रुचि के विषय के सम्बन्ध में सिद्धान्त का ब्यौरेवार कार्यापन तथा अपने निजी अनुभव के ऐसे अध्ययन के परिणामों की तुलना करना हम पाठक पर छोड़ते हैं। उसे स्मरण रखना चाहिए कि जाति के सीखने में अनेक अंधी गलियाँ हैं और उसको इतिहास के मार्ग को आदर्श रूप करने की स्वतन्त्रता को सुरक्षित रखना चाहिए। उसको विस्तृत व्यवहरण (applications) करने चाहिए और यह समझ लेना चाहिए कि अनुभव के परिणाम तथा सामान्य बुद्धि का बलिदान किसी सिद्धान्त की वेदी पर नहीं किया जा सकता, चाहे वह कितनी ही सत्यभासक (plausible) क्यों न हो। यदि इस सिद्धान्त में निहित सुझाव द्वारा वह केवल अपने विषय के इतिहास पर ही पहुँच पाता है तो भी उसके कार्य का मूल्य बहुत होगा। परन्तु अध्यापक को सम्भवतः ज्ञात हो जायगा कि जातिगत सीखने का इतिहास व्यक्ति को सीखने में रुचि दिलाने की सर्वोत्तम विधियों का पोषण करेगा, और साथ ही स्पष्टीकरण की नयी और उपयोगी विधियों के लिए सुझाव भी देगा।

विशेष अध्ययन के लिए

Thomson and Geddes : Evolution.

MacBride : Evolution.

Sandiford : Educational Psychology, chapter i.

Shaw : Back to Methuselah.

Darwin : Origin of Species.
Butler : Life and Habit; Unconscious Memory.
Bergson : Creative Evolution.
Adams : The Evolution of Education Theory, chapter ii.
Hayward : Education and the Heredity Spectre.
Nunn : Education : its Data and First Principles, chapter ix.
Hall : Adolescence.
Branford : A Study of Mathematical Education.
Patrick : The World and its Meaning, chapter viii.

: ६ :

मानव व्यवहार की प्रमुख विशेषताएँ

(Broad Features of Human Behaviour)

मूलप्रवृत्तियों के अतिरिक्त, हमको मनुष्य के मन की कुछ सामान्य जन्मजात प्रवृत्तियां भी माननी पड़ेंगी और उनका अध्ययन करना पड़ेगा, जो विशिष्ट रूप की न होकर सामान्य रूप की हैं। हम उनको मूलप्रवृत्तियाँ (instincts) नही कह सकते क्योंकि वे मनःव्यवस्थाएँ (dispositions) नहीं हैं जो विशेष परिस्थति में कार्य के विशेष ढंग को निश्चित करती हैं, वरन् वे व्यवहार की सामान्य रीतियों के रूप में देख पड़ती है जिनमें विविध मूलप्रवृत्तियाँ प्रादुर्भूत होती हैं। ये सामान्य जन्मजात प्रवृत्तियां सहानुभूति, निर्देश (suggestion), अनुकरण (imitation), खेल और आदत या चर्या (routine) हैं। पहली तीन पर हम किसी अगले अध्याय में विचार करेंगे; यहाँ हम केवल परिचित या ज्ञात (familiar) को दोहराने की प्रवृत्ति और खेलने की प्रवृत्ति पर ही विचार करेंगे, जो दोनों ही शिक्षा के क्षेत्र में अत्यन्त महत्त्वपूर्ण हैं।

आचार्य सर टी. पर्सी नन (Sir T. Percy Nunn) ने बताया है कि मनुष्य की प्रक्रियाएँ सामान्यतः या तो रूढ़िवादी (conservative) अथवा उत्पादक (creative) रूप धारण करती हैं, और पहले का मुख्य प्रादुर्भाव है किसी ढर्रे के अनुसार कार्य करने की प्रवृत्ति। हम सब ऐसे कार्य करते हैं जिनका कारण सिवाय इसके और कोई

नही मालूम होता कि हम उन्हें पहले कर चुके हैं और हम उनमे परिचित है। मेकडूगल ने कहा है कि "प्रत्येक प्रक्रिया पहले हो चुकने के कारण और पूर्ण आवृत्तियों के अनुपात में दोबारा अधिक शीघ्रता से दोहराई जा सकती है।"[1] स्पीअरमेन (Spearman) के ज्ञान-के-सिद्धान्तों में से एक यह है कि, "किसी ज्ञानमूलक घटना का होना ऐसी प्रवृत्ति उत्पन्न करती है कि वह फिर दोहराई जाय।"[2] यह प्रवृत्ति, जिसका फल प्राय: निश्चलता (inertia) होता है, मानवी प्रकृति का शोचनीय लक्षण कदापि नहीं कही जा सकती, यद्यपि वह, अन्य किसी दूसरी प्रवृत्ति की भाँति, अव्यवस्थित हो सकती है और हमारी मानसिक मितव्ययिता (economy) में वह अपना उचित स्थान रखने में असमर्थ हो जाती है। वह हमारी प्रतिदिन की सैकड़ों क्रियाओं में काम करती है जिनको हम बिना सोचे हुए करते रहते हैं, जैसे जागना, सोना, कपड़े पहनना, भोजन करना, हमारा अधिकांश कार्य, और दूसरे काम। ऐसे कामों को सामान्य चर्या के अनुसार करने से हमारे मन अन्य उच्च बातों में लग जाने के लिए मुक्त हो जाते है।

ऐसा प्रतीत होता है मानो दोहराने की प्रवृत्ति जीवन के अत्यन्त मूल लक्षणों में एक है। हमारे शरीर अपने कार्य में लय-बद्ध है, जैसे हृदय की धड़कन में और श्वांस में; और लय-ताल-मय प्रकियाओं में हमारा आनन्द इतना ही पुराना है जितना स्वयं जीवन में। जैसा स्टेनले हॉल (Stanley Hall) का कथन है, "यह ऐसा है मानो आदिकाल के समुद्र की लहरें जहाँ से हम आये, अब भी उनमें धड़कन कर रही हैं।"[3] हम नृत्य में

---

1 An Introduction to Social Psychology, pp. 115, 116.

2 The Nature of "Intelligence" and the Principles of Cognition, p. 132.

3 Adolescence, vol. i, p. 211.

आनन्द लेते हैं और उसमें हमारे आह्लाद का हेतु वही मूल कारण है चाहे लय व ताल साधारण हों अथवा उच्चतम कोटि की हों, जैसे रूसी अभिनय (ballet) में। इसी प्रकार लय व ताल समस्त संगीत की जड़ में हैं, प्राचीन ढोलों के पीटने से, जहाँ संगीत और लय एक ही हैं, भगवान् कृष्ण की बाँसुरी की सुरीली व मनोहारिणी तान तक। और होली के हुल्लड़ के रागों में यदि कोई गुण है तो वह उसकी सुन्दर लय में है।

क्योंकि यह प्रवृत्ति हमारे भीतर इतनी गहरी जमी हुई है, इसमें कोई आश्चर्य नहीं है कि छोटे बालकों में इसका विशेष रूप से आविर्भाव है। एक छोटे बच्चे को खेलते हुए देखिए और आप देखेंगे कि वह उसी कार्य को बार-बार करने में नहीं ऊबता। गोरख-धन्धे का खेल बच्चा बार-बार खेलता है; एक खिलौना-रेल बार-बार उसी मार्ग पर चलायी जायगी जब तक उसके अथक स्वामी को नींद न आने लगेगी; बाजे पर एक छोटा स्वर बार-बार बजाया जायगा यहाँ तक कि वयस्क मनुष्य उससे बिलकुल ऊब जाते हैं। बच्चे के जीवन में प्रत्येक कार्य उसी प्रकार करना पड़ता है जिसका वह अभ्यस्त है, और मनमुटाव से बचने का सरलतम उपाय यह है कि नई बातें बहुत कम रखी जायें। यह केवल पुनरावर्त्तन का प्रेम है जिसके द्वारा वे प्राचीन खेल जीवित हैं जिनके साथ संगीत है। उन अर्थरहित शब्द-समूहों को दोहराना भी पुनरावर्त्तन के प्रति प्रेम ही है, जो यद्यपि प्राचीन हैं परन्तु आँखमिचौनी के खेल में इस कठिन समस्या को निर्णय करने के लिए दोहराये जाते हैं कि कौन छिपेगा और कौन ढूँढ़ेगा, जैसे "अक्कड़-बक्कड़ लोहे की टक्कर, ठाँय ठूँय ठस, मदार बाबा हस, शैतान के घर में चिड़िया बोली चाँय चूँय चस।" बच्चे ऐसी कहानियों को बहुत पसन्द करते हैं जिनकी लोकप्रियता का एक रहस्य यह है कि उनमें एक ही बात बार-बार दोहराई जाती है।

इसका उत्तम उदाहरण प्रसिद्ध राजा की कहानी है जिसे कहानी सुनने का बड़ा चाव था और जिसकी समाप्त न होने वाली कहानी में "चिड़िया आई और एक दाना लेकर फुर से उड़ गई" बार-बार दोहराया जाता है। 'कौआ और चने की दाल' की कहानी भी बड़े शौक से सुनी जाती है जिसमें अनेक शब्दों का निरन्तर पुनरावर्त्तन होता है; यदि आप चाहते हैं कि बच्चे इसे पसन्द करें तो यह प्रसिद्ध वर्णन संक्षेप में नहीं कहा जा सकता। अंग्रेजी के प्रसिद्ध लेखक किपलिंग (Kipling) ने अपनी 'जस्ट सो' (Just so) कहानियों में परिस्थितियों और शब्दों को बार-बार ज्यों का त्यों दोहराया है।

पुनरावर्त्तन के आकर्षण का मनोवैज्ञानिक समाधान प्रत्येक दशा में वही एक है, वह है आधिपत्य (mastery) का आनन्द। कहानियों अथवा गीतों या भजनों में श्रोतागण, चाहे वे बच्चे हों अथवा वयस्क, इसलिए भाग लेना चाहते हैं क्योंकि उनमें पुनरावृत्ति है, अथवा 'टेक' है जिसे बार-बार कहना पड़ता है। मनोवैज्ञानिक भाषा में हम कह सकते हैं कि स्व-स्थापन (self-assertion) की मूलप्रवृत्ति काम कर रही है। स्व-स्थापन का सरलतम मार्ग पुनरावृत्ति है, और जब कोई परिचित कार्य किया जाता है तब स्पष्ट आत्म-अनुभूति (self-feeling) की भावना होती है। निस्सन्देह स्व-स्थापन के सर्वोच्च रूप उत्पादक कार्य (creative work) में मिलते हैं, परन्तु औसत मनुष्य धीरे-धीरे ही चलना पसन्द करता है और बार-बार उस कार्य को करके जो उसने पहले किये थे, वह अपने वातावरण पर स्व-स्थापन प्राप्त करता है। हम उस कष्टकर मनुष्य के विषय में जानते हैं जो दावा करता है कि मैं प्रत्येक परिस्थिति का सामना कर सकता हूँ, और जिसका स्वभाव उसको किसी भी परिस्थिति में निराश नहीं होने देता। और छोटा बच्चा, चूँकि उसकी मानसिक और शारीरिक शक्तियाँ

सीमित हैं, परिचित बातों को दोहरा कर स्वभावतः अपना बहुत-सा स्व-स्थापन प्राप्त कर लेता है। इस प्रकार हमारी पुनरावृत्ति के झुकाव का पोषण स्व-स्थापन प्रवृत्ति के हेतु हुआ है।

परन्तु दोनों का सम्बन्ध इससे अधिक जटिल है, क्योंकि एक की प्रतिक्रिया दूसरे पर होती है। यह सत्य है कि जब हम स्व-स्थापन चाहते हैं हम परिचित बातों को दोहराने का प्रयत्न करते है, परन्तु ऐसा करते हुए हम अभ्यास द्वारा अपनी शक्तियों को बढ़ाते हैं। जो प्रक्रिया उस समय दोहराई जाती है स्व-स्थापन (self-assertion) का अच्छा मार्ग बन जाती है और पूर्णतर आत्म-साधन (fuller self-realization) के लिए मार्ग तैयार करती है। उदाहरण के लिए, सभी लोग नये खेल की अपेक्षा चिरपरिचित खेल खेलना ही पसन्द करते हैं। क्योंकि पहले में पिछले की अपेक्षा स्पष्ट आत्म-अनुभूति प्राप्त करने का अधिक अवसर प्राप्त होता है। परन्तु इस प्रकार जो अभ्यास प्राप्त किया जाता है उस खेल को खेलने में हमारी योग्यता बढ़ाता है, जो इसके फलस्वरूप हमारे महत्त्वपूर्ण अंश की व्यंजना के लिए अच्छा साधन हो जाता है। ऐसे मामलों में हमारी उत्कट रूढ़िवादिता का कारण पुनरावृत्ति की शक्ति है जिसके कारण स्व-स्थापन का मार्ग उन्नत होता है जिसे आरम्भ में स्व-स्थापन ने ही स्थापित किया था।

लेखक द्वारा देखे गये एक उदाहरण द्वारा यह बात स्पष्ट हो जायगी। पन्द्रह महीने का एक लड़का जब चारपाई पर लिटाया जाता था तो अपनी बढ़ती हुई शब्दावली को एक-एक कर के दोहराता था। निस्सन्देह स्पष्ट आत्म-अनुभूति (self-feeling) की इच्छा उसे प्रेरित करती थी कि वह उन शब्दों की पुनरावृत्ति करे जिनको वह पहले से ही जानता था, परन्तु दोहराने से अभ्यास होता था, और प्रतिदिन के लाभों का दृढ़ी-

करण हो जाता था। स्व-स्थापन का यह विशिष्ट मार्ग लड़के के लिए उसकी समस्त बाल्यावस्था में इतना महत्त्वपूर्ण हो गया कि उसकी भाषा सम्बन्धी शक्तियाँ मौखिक और लिखित दोनों ही, अद्भुत हो गईं।

इस प्रकार यह आवश्यक नहीं है कि पुनरावृत्ति बालक के बुद्धि के प्रवाह को रोक दे। प्रथम तो यह स्व-स्थापन का एक प्रस्तुत साधन देती है, और इसका परिणाम होता है संस्कार-ग्रन्थियों (engram-complexes) का निर्माण तथा दृढ़ीकरण जो आगे चलकर अधिक सफल स्व-स्थापन के आधार बन जाती हैं। चूँकि ऐसा है, इसलिए अध्यापक को इस प्रवृत्ति की उपेक्षा नहीं करनी चाहिए जो प्रकृति की विधियों के अनुसार कार्य करना चाहता है।

इस परिपाटी की प्रवृत्ति में अध्यापक को पुनरावृत्ति का संकेत मिलता है जो उसे अनुभव द्वारा ज्ञात हुआ है कि प्रभावपूर्ण अध्यापन के लिए अत्यन्त आवश्यक है। हम सब जानते हैं कि सीखने का मार्ग सदा सरल और नवीनता से पूर्ण नहीं हो सकता, और हम किसी ऐसे मनोवैज्ञानिक सिद्धान्त को उपेक्षा की दृष्टि से देखते हैं जो आवश्यक पुनरावृत्ति को अनुचित बताता है। थोड़ा ही काल हुआ जब ऐसे अध्यापक जो अपने को शिक्षा-विधियों में नवीनतम समझते थे, इस बात का गम्भीर प्रयत्न करते थे कि पुनरावृत्ति का बहिष्कार इस आधार पर कर दिया जाय कि वह बच्चे के लिए अति कष्टसाध्य है। परन्तु अनेक अध्यापकों ने यह ज्ञात किया कि रुचि के सिद्धान्त का यह अर्थ कदापि नहीं लगाया जा सकता। यह सन्तोषप्रद है कि हम अपनी शिक्षा-विधि का आधार स्वस्थ मनोविज्ञान को मानते हैं जब हम पहाड़े, सूत्र (formulæ), धातुरूपावली (conjugation) रटवाते हैं, और पुरानी प्रणाली के अनुसार

उनको सामूहिक रीति से कहलवाते हैं। परन्तु हमको समझ लेना चाहिए कि ऐसा सीखना स्वयं ध्येय नहीं है, वरन् प्रकृति की निजी विधि के अनुसार, भविष्य के उत्पादन कार्य (creative work) के लिए केवल दृढ़ीकरण का आधार है। फिर, कंठस्थ करना बुद्धिमूलक (intelligent) होना चाहिए। उदाहरण के लिए, कंठाग्र करने से पहले पहाड़ों को बालकों से ही तैयार कराना चाहिए, और किसी सूत्र (formula) का सीखना तर्क करने की प्रक्रिया का अन्त होना चाहिए न कि आरम्भ।

यहाँ अध्यापन के उन उदाहरणों को गिनाने की आवश्यकता नहीं है जहाँ पुनरावृत्ति की प्रवृत्ति प्रयोग में लायी जा सकती है, क्योंकि प्रत्येक अध्यापक जिसने पाठ्यक्रम के द्वारा कक्षा को पढ़ाया है उनसे भली-भाँति परिचित है। एक उदाहरण यथेष्ट होगा। अंकगणित में गति और शुद्धता प्राप्त करने की केवल एक विधि है, और वह है उसकी भिन्न-भिन्न क्रियाओं में निरन्तर अभ्यास। डा० बेलर्ड (Dr. Ballard) ने अपनी नवीन सुन्दर पुस्तक[1] में अपने को इस विश्वास पर रूढ़िवादी कहा है कि गणित के प्रश्न की क्रिया, कितनी ही बुद्धिमूलक क्यों न हो, व्यर्थ है, यदि उसका उत्तर शुद्ध नहीं है; और इस मत में अधिकांश मनुष्य उससे सहमत होंगे। अतएव एक गणित के अध्यापक को अपने शिष्यों को इतना अभ्यास देना चाहिए कि अनायास ही उनके उत्तर ठीक निकलते जायँ। ऐसा करने में उसको मालूम होगा कि यंत्रवत् प्रश्नों में सफलता स्व-स्थापन की यथेष्ट प्राप्ति है, जो छात्र की दृष्टि से श्रमसाध्यता (drudgery) का औचित्य है। यह समझ लेना भूल है कि सामान्य अंकगणित सदा ही सेव, नारंगी या हाथियों के विषय में 'रोचक' प्रश्नों में ही छिपी रहनी चाहिए।

---
1 Teaching the Essentials of Arithmetic.

फिर, चर्या या ढर्रे की प्रवृत्ति (routine tendency) से पाठशालाओं में व्यवस्था बनी रहती है, जिसकी आत्म-व्यंजना (self-expression) की वर्त्तमान काल में आवश्यकता है। प्रत्येक व्यावहारिक अध्यापक जानता है कि एक व्यवस्थित कार्यक्रम होने से कितने समय और शक्ति की बचत होती है; और मनोविज्ञान उसे बताता है कि प्रत्येक कार्य को उत्तम और व्यवस्थित रीति से करने की इच्छा बाल-प्रकृति के बिलकुल अनुकूल है। बच्चे स्वयं अव्यवस्था की अपेक्षा व्यवस्था को बहुत अधिक पसन्द करते हैं, और वे इसमें कोई क्लेश नहीं समझते यदि उनसे समस्त कार्य अपेक्षाकृत रूढ़ि के अनुरूप और परम्परा के अनुसार करने को कहे जायँ।

यहाँ हमको शिक्षा में आधुनिक विचारधाराओं के लोगों के लिए जो हौआ है, अर्थात् समय-सारिणी (time-table), उसके लिए भी तर्क मिलेगा। ऐसी प्राचीन प्रणाली का समर्थन बाल-प्रकृति की रूढ़िवादिता में है और इसलिए यह पूर्णरूप से दोषपूर्ण नहीं है। अवश्य ही समय-सारिणी उत्पादक या निर्माणक और मौलिक कार्य में बाधक नही होनी चाहिए। बुद्धिमान अध्यापक उसको अपना सेवक समझेगा न कि अपना स्वामी।

पाठशाला और कक्षा के प्रभावपूर्ण अनुशासन का मुख्य रहस्य एक सुन्दर क्रम के निर्माण और व्यवस्था में है। आचार्य नन (Nunn) ने कहा है कि "पाठशालाओं में परिपाटी को उसी भाँति चलने देना चाहिए जैसे विस्तृत समाज में; ठीक उसी प्रकार चलने देना चाहिए जैसे प्रचक्र या चक्का (fly-wheel) यंत्र, जिसकी गमता (momentum) यंत्र को नियंत्रित गति में रखती है, बाधाओं पर विजय प्राप्त करती है, 'मृत-बिन्दुओं' (dead points) पर रुकने नहीं देती जहाँ मुख्य गामक शक्तियाँ एक क्षण के लिए काम करने से रुक जाती हैं।"[1]

1. Education : Its Data and First Principles p. 70.

चर्या या परिपाटी के अपने संक्षिप्त अध्ययन में हमने रूढ़िमूलक प्रवृत्तियों का कार्य देखा और हम कुछ शैक्षिक परिणामों पर भी पहुँचे। ऐसे परिणाम स्वभावतः सावधान और रूढ़िमूलक होते हैं, और उत्पादक प्रवृत्तियों के विचार से उनको आपूरण (supplement) करने की आवश्यकता होती है जो खेल में स्पष्ट रूप से प्रस्फुटित होते हैं।[1] हम अभी खेल की परिभाषा निर्माण करने का प्रयत्न नहीं करेंगे, परन्तु पहले उस पर वाद-विवाद करेंगे यह मानते हुए कि जो हम कह रहे हैं उसे पाठक जानता है। तो भी, हम कह सकते हैं कि खेल कोई सरल घटना नहीं है और खेल तथा कार्य में भेद बताना सदा सुगम नहीं है। हमारा वाद-विवाद इन बातों का स्पष्टीकरण करेगा।

खेलने की नैसर्गिक प्रवृत्ति की व्याख्या करने के अनेक प्रयत्न किये गये हैं, जो सब महत्त्वपूर्ण और रोचक हैं। जर्मन कवि शिलर (Schiller) और बाद को इञ्जीनियर-दार्शनिक हरबर्ट स्पेंसर (Herbert Spencer) ने तर्क किया कि खेल अतिरिक्त चेतना-शक्ति (energy) की व्यंजना है। बालक, जिसे उसके माता-पिता भोजन देते हैं और जिसकी वे रक्षा करते हैं, अपने पालन तथा विकास के लिए आवश्यकता से अधिक चेतना-शक्ति रखता है। यह कुछ अंश तक सही हो सकता है, परन्तु यह इस तथ्य का अत्यन्त अपर्याप्त निरूपण है। एक बात तो यह है कि वह नहीं बताता कि खेल चेतना-शक्ति के प्रस्रव (discharge) में अनिश्चित आकार में रहने के बजाय निश्चित रूप क्यों धारण कर लेता है; दूसरी बात यह है कि वह यह नहीं बताता कि जब हम थक जाते हैं तो क्यों खेलते हैं। फिर, जैसा आचार्य नन ने एक अति सुन्दर उदाहरण[2] में कहा है कि हम

---

1 Education : Its Data and First Principles, p, 80.

2 Education : Its Data and First Principles, p. 80-81

यह तो कल्पना कर सकते हैं कि इञ्जिन की अतिरिक्त भाप अनेक चतुर विधियों से काम में लगाई जा सकती है, परन्तु यह नहीं सोच सकते कि वह स्वयं इंजिन को अच्छा इंजिन बनाने में प्रयोग की जा सकती है। परन्तु बढ़ते हुए बच्चे के लिए खेल ठीक यही काम करता है और इससे उसे अपनी शारीरिक, मानसिक और नैतिक शक्तियाँ ज्ञात होती हैं। फिर भी हम देखेंगे कि यदि हम अतिरिक्त चेतना-शक्ति को शारीरिक रूप के बजाय मनसम्बन्धी रूप में देखें, तो सिद्धान्त अधिक विश्वसनीय ढङ्ग से पुनः वर्णित किया जा सकता है।

खेल का व्यवहार-सिद्धान्त महान् शैक्षिक महत्त्व का है, जिसको सबसे पहले मेलब्रांश (Malebranche) ने बताया और फिर बाद को कार्ल ग्रूस (Karl Groos) ने 'पशुओं का खेल' और 'मनुष्य का खेल' नामक अपनी दो पुस्तकों में विकसित और सुरक्षित किया। पहले, पशु-संसार में खेल के कम जटिल तथ्य के सम्बन्ध में विचार करते हुए वह कहता है कि केवल उच्च श्रेणी के पशु ही खेलते हैं निम्न वर्ग के नहीं। उच्च वर्ग के पशु जैसे बिल्ली और कुत्ता जन्म के समय असहाय होते हैं, और उनके लिए अपरिपक्वता (immaturity) का काल होता है जिसमें वे संरक्षण तथा जीवन की आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए अपने माता-पिता पर निर्भर रहते हैं। इस काल को वे खेल में व्यतीत करते हैं। इसके विपरीत, निम्न पशु, जैसे चींटी और मधुमक्खी, आरम्भ से ही अपने वातावरण के अनुकूल होते हैं, वे स्वयं अपना पोषण करते हैं और आमोद-प्रमोद में समय बिलकुल नहीं नष्ट करते। ग्रूस आगे चलकर कहता है कि उच्च पशुओं में खेल का रूप अपने प्रौढ़ जीवन की गम्भीर प्रक्रियाओं का पूर्वकल्पन (anticipate) करता है; इस प्रकार बिल्ली का बच्चा अपने खेल में किसी गतिवान् पदार्थ का पीछा करता है और

इस भाँति चूहों के पकड़ने की कला में प्रवीण हो जाता है। पिल्ला भी खेल में लड़ाई सीखता है, और इस प्रकार ऐसी कला का अभ्यास करता है जो भविष्य जीवन में उसके लिए बहुत उपयोगी सिद्ध होगी। वह परिणाम निकालता है कि खेल का सार उसकी जैविकीय (biological) उपयोगिता है। वह उसमें मूल-प्रवृत्तियों का अभ्यास देखता है पहले इसके कि वे गम्भीर प्रयोग में काम में लाई जायँ, और इस अभ्यास से निपुणता प्राप्त होती है जो भविष्य में उसके लिए आवश्यक होगी। खेल दूरतार्किक (teleological) है, और पशु की भविष्य की आवश्यकताओं का सदा पूर्वकल्पन कर लेता है।

ऐसा सिद्धान्त अत्यन्त सत्याभास (plausible) है। ग्रूस जन्म के समय असहायता, अपरिपक्वता का काल, और एक ही तथ्य के विभिन्न पहलुओं के विषय में, खेलने की प्रवृत्ति के बारे में ठीक कहता है। इस अतिरिक्त विवेचन से उसका तर्क और भी पुष्ट हो जाता है कि बुद्धि के प्रक्रम में पशु जितनी ऊँची स्थिति पर पहुँचता है, उतना ही अधिक परिपक्वता का समय प्रकृति उसको प्रदान करती है और उतना ही अधिक खेलने का आवेग उसमें पाया जाता है। अब हमने देख लिया कि बुद्धि उस अंश पर निर्भर है जहाँ तक कि मूलप्रवृत्तियाँ नम्य (plastic) हैं; मधुमक्खी जैसे प्राणी, जो प्रतिक्रिया की स्थिर विधियों सहित जन्म लेते हैं, जिनके द्वारा वे जीवनपर्यन्त अपने वातावरण के अनुकूलक बने रहते हैं, बुद्धिमूलक स्तर की अपेक्षा मूलप्रवृत्त्यात्मक स्तर पर व्यवहार करते हैं। परन्तु नम्य मूल प्रवृत्तियों को, जो बुद्धिमूलक व्यवहार की आम-सामग्री (raw materials) हैं, प्रत्येक व्यक्ति के जीवन में अनुकूलन (adaptation) के काल की आवश्यकता पड़ती है और ऐसा समय अपरिपक्वता के महीनों या वर्षों में दिया जाता है। अर्थात्, वे पशु, जो बुद्धि के ऊँचे

स्तर के कारण जिस पर उन्हें पहुँचना है, जन्म के समय असहाय होते हैं और इसलिए उनको ऐसी शिक्षा की आवश्यकता है जिसमें खेलने का आवेग हो, और उनको जीवन में इतना समय मिलता है कि वे उस आवेग का अभ्यास कर सकें। फिर, हम इस परिणाम पर आते हैं—और इस निष्कर्ष को हम रोक भी नही सकते—कि परिस्थिति व वातावरण के अनुकूलन (adaptation to environment) के आशय में खेल प्रकृति की शिक्षा की रीति है। शिक्षा की आवश्यकता जन्म के समय असहाय होने के कारण है, उसकी सम्भावना मूलप्रवृत्तियों की नम्यता के कारण है, समय जो उसके लिए दिया जाता है वह अपरिपक्वता की अवधि है, और उसकी विधि खेल है; और पशु-संसार में ये सब घटनाएँ सहवर्ती हैं।

यह सिद्धान्त मनुष्य के खेल पर कहाँ तक प्रयुक्त किया जा सकता है? क्या उसका खेल यौवनावस्था के गम्भीर कार्यों के लिए उसे तैयार करने में जैविक दृष्टि से (biologically) सहायक है? यह अवश्य ही मानना पड़ेगा कि एक बालक जो अपने खेलों में सैनिकों जैसा व्यवहार करता है और एक लड़की जो गुड़िया का लालन-पालन कर रही है, दोनों ही गम्भीर प्रौढ़ प्रक्रियाओं की तैयारियाँ कर रहे है। निःसन्देह यह सिद्धान्त अपनी सुन्दर सरलता को खो देता है जब वह बच्चों के खेल के अनेक रूपों पर प्रयुक्त किया जाता है। परन्तु ग्रूस (Groos) का तर्क है कि ये अनेक रूप स्वयं उन क्रियाओं की जटिलताओं के पूर्वानुवर्ती हैं, जिनमें मनुष्य लगा रहता है, और अपने खेल में बच्चा अनजाने ही युवावस्था के विभिन्न सम्भावित व्यवसायों का अनुभव प्राप्त कर रहा है।

हमारी ऐसी भावना हो सकती है कि आचार्य स्टेनले हॉल

(Professor Stanley Hall) अत्यधिक कठोर है जब वह इस महत्त्वपूर्ण और विवेकपूर्ण तर्क को "अति पक्षपातपूर्ण, छिछला और विकृत" कहता है, क्योंकि "वह भूतकाल की उपेक्षा करता है जहाँ समस्त खेल की प्रक्रियाओं की कुञ्जियाँ हैं।"[१] परन्तु निस्सन्देह उसके आक्षेप में बहुत-कुछ सार है। उसके अनुसार, बच्चा अपने स्वयं प्रौढ़ जीवन की गम्भीर क्रियाओं का इतना पूर्वाभिनय नहीं करता है जितना कि वह अपने दूरस्थ पूर्वजों की क्रियाओं के प्रारम्भिक बिन्दु की ओर लौटता है और उनकी पुनरावृत्ति करता है। खेल पूर्वकाल्पनिक (anticipatory) न होकर अनुबोधक (reminicent) है, और वह "अनेक विपर्यनिक (antavistic) और प्रारम्भिक कार्यों को करता है, जिनमें से बहुत से परिपक्व होने से पूर्व निष्फल हो जाते हैं, परन्तु जो भेकशिशु (tadpole) की पूँछ की भाँति खेल में जीवित रहते हैं, जिनको विकसित भी करना पड़ता है और उत्तेजक की भाँति प्रयोग भी करना पड़ता है जिससे टाँगें निकल आयें जो अन्यथा कभी परिपक्व न होतीं।"[१] अब हम खेल के अनेक उदाहरण बता सकते हैं जो स्मृति के सामान्य सिद्धान्त के अन्तर्गत आ जायेंगे। स्पष्ट है कि बिल्ली के बच्चे और पिल्ले के खेल की व्याख्या इस सिद्धान्त से उतनी शीघ्र की जा सकती है जितनी जैविक उपयोगिता (biological utility) के सिद्धान्त द्वारा। आँखमिचौनी, पीछा करना, शिकार करना व मछली मारना, पत्थर फेंकना, मकान व रक्षा के स्थान बनाना विशेषकर पेड़ों पर, गुफाओं के आकर्षण सब हमको जाति के युवाओं की बहुत याद दिलाते हैं। स्टेनले हॉल का कथन है कि स्मृति के कारण ही "युवक का हृदय खेल में ऐसा लगता है

---

1 Adolescence, p. 202.

जैसा किसी भी अन्य कार्य में नहीं, मानो उसमें मनुष्य खोये हुए स्वर्ग को याद कर रहा हो।"[1] और क्योंकि, इसी लेखक के अनुसार, पूरा विकास जातिगत इतिहास का पुनरावर्तन है, हम तुरन्त विश्वास कर सकते हैं कि हम अपने खेल में आदिम मनुष्य की कुछ प्रक्रियाओं की पुनरावृत्ति करते हैं।

स्मृति के सिद्धान्त से सम्बन्धित, परन्तु विशेष व्याख्या तथा बल के योग्य, खेल का रेचक सिद्धान्त (cathartic theory of play) है। अंग्रेजी शब्द 'catharsis' अरस्तू (Aristotle) की रचनाओं से लिया गया है जो आरम्भ में डाक्टरी शब्द था और जिसका अर्थ था 'दस्तावर' या रेचक।[2] इस महान् दार्शनिक ने इस शब्द का प्रयोग दुःखान्त काव्य के प्रभाव के लिए किया, और कहा कि जैसे औषधि शरीर के विकारों को दूर कर देती है, उसी प्रकार दुःखान्त काव्य भी आत्मा के विकारों को हटा देता है। जब हम किसी दुःखान्त नाटक को देखते हैं तो हमारे अवरुद्ध संवेग मुक्त हो जाते हैं; हम नाटक के नायक के हृदय में प्रवेश करते हैं और कुछ सीमा तक उन भावों का अनुभव करते हैं जिनको वह प्रदर्शित करता है, और उसके साथ अन्त तक संवेगात्मक संघर्ष में वहन करते हैं। और चूँकि प्रत्येक वास्तविक दुःखान्त नाटक में यह संघर्ष निर्णीत है, अतएव उस दृश्य द्वारा दर्शक के संवेग पवित्र और उच्च हो जाते हैं। यह रेचक कार्य केवल दुःखान्त नाटक तक ही नहीं सीमित है; यह उतनी ही उत्तमतापूर्वक अच्छे प्रहसन पर भी लागू है। यदि हम यह पूछें कि हम किसी ऊँटपटाँग हँसोड़ के विचित्र रूप का आनन्द क्यों लूटते हैं जो चीनी मिट्टी के बर्तनों को तोड़ देता है, पुलिस के आदमी को ठोकर से गिरा देता है, और सामान्यतः

1 Adolescence, p. 203.
2 See Burnet, Aristotle on Education, pp. 124, 125.

मसखरे का अभिनय करता है, तो हम यही उत्तर देते हैं कि इसका कारण यह है कि दूसरों के ये विशिष्ट कार्य हम पसन्द करते हैं जिनको हम अपने को सुसभ्य समझ कर स्वयं करने में झिझकते हैं। कभी-कभी सभ्यता का व्यवहार हमारे लिए बोझ-सा हो जाता है, और इन कार्यों में मन ही मन अथवा प्रकल्पना (projection) द्वारा अनुभूति करना उसकी अपेक्षा कहीं अच्छा है कि अनुभूति बिलकुल न की जाय। प्रहसन में, जैसा कि दुःखान्त नाटक में, अपने को नायक के साथ एकसम करके और उसके द्वारा प्रदर्शित तीव्र संवेगों की कुछ अंश तक अनुभूति करके, हम अपने अवरुद्ध भावों को मुक्त करते हैं।

रेचकता का यह मत क्या हमको खेल के समझने में सहायक है? वर्तमान लेखक को भास होता है कि ऐसा विचार अत्यन्त व्यापक सूत्र है जो अब तक बताया जा सका है। खेल अपनी क्रिया में रेचक है; अर्थात्, यह कतिपय अवरुद्ध मूलप्रवृत्तियों और संवेगों के लिए निष्क्रमण का द्वार बताता है, जो बाल्यावस्था में अथवा प्रौढ़ जीवन में, यथेष्ट प्रत्यक्ष व्यंजना नहीं प्राप्त कर सकते हैं। उदाहरणार्थ, सभ्य जीवन में युद्ध-प्रियता या योधन (pugnacity) की मूलप्रवृत्ति के अभ्यास को पूरा क्षेत्र नहीं मिलता है। स्वभाव से ही हम लड़ने वाले हैं और हम लड़ेंगे अवश्य ही; इसलिए सभ्य मनुष्य खेल में लड़ता है। प्रत्येक खेल एक छद्म युद्ध है जिसमें रक्तपात नहीं होता है और न क्रोध का प्रदर्शन होता है, परन्तु फिर भी वह इस मूलप्रवृत्ति की चेतना-शक्ति को बन्धन-मुक्त करता है और उसकी व्यंजना के लिए प्रतिनिधिमूलक मार्ग (vicarious channel) देता है। यह कहना कि खेल अतिरिक्त चेतना-शक्ति के विसर्जन के लिए साधन है सत्य प्रतीत होगा यदि हम हॉल (Hall) से सहमत होकर कि "खेल में भी उतनी ही आत्मा है जितनी शरीर

में"[1], हम चेतना-शक्ति (enegry) का आशय उस आत्मिक चेतना-शक्ति से करें जिसकी उद्गम मूल-प्रवृत्तियाँ हैं। रेचकता का यह विचार, अर्थात् व्यंजना के प्रतिनिधि-रूपों द्वारा संवेगों का निकास, कृतक-श्रद्धा खेल (make-believe play) की घटना का तुरन्त समाधान करता है जैसा कि हम अभी बतलायेंगे।

यद्यपि हॉल ने ग्रूस के मत की निन्दा की है, तथापि हमको जानना चाहिए कि विभिन्न सिद्धान्त एक-दूसरे के पूरक हैं न कि विरोधी। हमने अतिरिक्त चेतना-शक्ति के सिद्धान्त को रेचकता के सिद्धान्त के साथ समन्वय करने का एक साधन अभी बताया है। फिर, रेचकता का सिद्धान्त स्मृति के सिद्धान्त के विस्तार के रूप में समझा जा सकता है, क्योंकि खेल में जिन संवेगों का निकास होता है वे प्रारम्भिक संवेग मात्र हैं जिनका मूलप्रवृत्तियों से अभिन्न सम्बन्ध है, जो हम देख चुके हैं कि पूर्वजों से प्राप्त कतिपय क्रियाओं की मनःव्यवस्थाएँ हैं। पूर्वस्मृतिशील खेल इन प्रवृत्तियों की चेतना-शक्ति को एक अ-हानिकारक ही नहीं वरन् लाभदायक रीति से विसर्जन करने का एक साधन है। संवेगों का यह निष्क्रमण जिनकी अन्यथा दब जाने की आशंका है, स्पष्टतया जैविकीय (biological) उपयोगिता रखता है, और हम को प्रौढ़ जीवन के सभ्य रूप के लिए तैयार करता है और बड़े होने पर हमको सभ्य रखने में सहायक होता है। इस प्रकार उपयोगी रेचकता की कल्पना में हम ग्रूस की अग्रिम-दृष्टि और हॉल की पृष्ठ-दृष्टि दोनों में समन्वय का प्रतीक देखते हैं। और हम यह भी कह सकते है कि दोनों ही ठीक हो सकते हैं यदि प्रौढ़ की क्रियाएँ जीवन की सरल और प्राचीन विधियाँ हैं। जब कि हॉल का यह कथन सम्भवतः सत्य है कि "सच्चा खेल उसका कभी नहीं अभ्यास

---

1 Adolescence, p 203.

करता जो जाति-दृष्टि से (phyletically) नवीन होता है,"[२] हम देखते है कि वह ऐसे अभ्यास कर सकता है जो जाति-दृष्टि से नवीन नही है। बच्चों का खेल, एक साथ ही पैतृ-प्रक्रियाओं का पुनरावर्तन और स्वयं व्यक्ति की प्रौढ़ प्रक्रियाओं की पूर्व-कल्पना दोनों हो सकती है, यदि पिछली वे हैं जो जाति ने अनगिनत पीढ़ियों तक की है। हम इसको स्पष्ट देखते हैं जब सभ्यता बर्बरता में पुनरावर्त हो जाती है, जैसा कि एक बार सन् १९१४ में हुआ और फिर सन् १९३९ में। निस्सन्देह जिन मनुष्यों ने बचपन में आँखमिचौनी खेली थी, रक्षा के स्थान बनाये थे और पत्थर फेंके थे, उन्होंने ऐसे कार्य करने के लिए अपने पूर्वजो से संवेग प्राप्त किये थे; परन्तु साथ ही साथ इस प्रकार के खेल ने ही खाई-के-युद्ध और बमबारी करने (bombing) में प्रवीणता उत्पन्न की।

किसी जटिल घटना का विस्तृत वर्णन करने के लिए और उनमें खेल के विभिन्न प्रकारों की व्याख्या करने के लिए सभी सिद्धान्तों की आवश्यकता होती है। यह ध्यान देने योग्य है कि जैविक उपयोगिता स्मृति और रेचकता के सिद्धान्त सभी मानते है कि खेल के समय मूल-प्रवृत्तियाँ कार्यरत देख पड़ती है। दैहिक चेतना-शक्ति की अतिरिक्तता का सिद्धान्त अत्यन्त अपर्याप्त है, इस दृष्टि से कि वह मूलप्रवृत्तियों को मानसिक-चेतना-शक्ति के स्रोत नही मानता। जैसा कि पहले कहा जा चुका है यह इस तथ्य का बिलकुल समाधान नहीं करता कि हम क्यों खेलते है जब हम थक जाते है, और यह खेल की क्रिया का एक अत्यन्त विचित्र और रोचक पहलू है। उदाहरण के लिए, एक व्यापारी घर लौटने पर दरी बिछाने के लिए बिलकुल थका हुआ हो सकता है, परन्तु फिर भी टेनिस खेलने अथवा बाग से फल

2 Adolescence, p. 203.

तोड़ने के लिए उसमें पर्याप्त चेतना-शक्ति हो सकती है। यह चेतना-शक्ति कहाँ से आती है ? इसका समाधान सम्भवतः इस तथ्य में है कि मूलप्रवृत्त्यात्मक चेतना-शक्ति द्वारा टेनिस और पेड़ से फल तोड़ना प्रतिपादित है, एक दशा में योधन प्रवृत्ति द्वारा, और दूसरी दशा में भोजन प्राप्त करने की प्रवृत्ति द्वारा; किन्तु दरी बिछाने के पीछे कोई ऐसा प्रेरक नही है। मूलप्रवृत्तियाँ मानसिक चेतना-शक्ति के भाण्डार है, जहाँ से वह ली जा सकती है जब कुछ कम स्थापित स्रोतों से वह नहीं प्राप्त हो सकती। परन्तु इसकी अधिक व्याख्या करने के प्रयत्न में मानस-शारीरिक समस्या (psycho-physical problem) उठ खड़ी होगी, जिसके विषय में हम पहले निश्चय कर चुके है कि हम उसे एक ओर छोड़ देंगे।[1]

यह प्रस्थापना कि खेल प्रकृति की शिक्षा की रीति है, ग्रूस (Groos) के तर्क का संक्षेप है और इसका अनुमोदन अन्य सिद्धान्त भी करते है, और शिक्षक इसको एक कामचलाऊ परिकल्पना के रूप में मान सकता है। कारण यह है कि शिक्षा के लिए पृष्ठ-दृष्टि होनी चाहिए जो मनुष्य के भूतकाल को सदा संग्रहीत करती है; और हॉल (Hall) का कथन है कि खेल ऐसा करने का प्रकृति-का-साधन है। फिर, शिक्षा का एक मुख्य उद्देश्य मूलप्रवृत्त्यात्मक चेतना-शक्ति का उत्कर्षण और पुनःनिर्देशन है; यह, रेचक सिद्धान्त के अनुसार, खेल का प्रभाव है। इस प्रकार, शिक्षक जो 'प्रकृति के अनुसार' बढ़ना चाहता है यदि वह खेल की अवहेलना करता है तो उसके प्रयत्न विफल हो जायँगे।

खेल का एक अत्यन्त रोचक और महत्त्वपूर्ण रूप कृतक-विश्वास (maek-believe) है। समस्त बालक अपने खेल में विभिन्न

---

1 See Nuun, Education : Its Data and First Principles, p. 73 and McDougall, An Outline of Abnormal Psychology, pp. 58 et seq.

भूमिकाओ मे अनेक रूप धारण करते है और वास्तविक जीवन के प्रति असीम श्रद्धा तथा एकाग्रता सहित इञ्जिन चालक, दूध वाला, डाक्टर, ट्राम-चालक, घुड़सवार, अध्यापक आदि का अभिनय करते है, जहाँ उनकी कल्पना उनको ले जाती है। बाल-व्यवहार से इस लक्षण का कारण यह बताना कि वह अनुकरण मात्र है केवल एक बहुत ही छिछला समाधान होगा। निस्सन्देह अनुकरण का संवेग कार्यरत है, परन्तु उससे केवल सामग्री और खेल की अवस्थिति (setting of the play) प्राप्त होते है। ग्रू स, जैसा हम देख चुके हैं, कृतक-विश्वास खेल की व्याख्या प्रौढ जीवन के लिए अचेतन तैयारी के रूप मे बताता है—मानो वह जीवन के साथ प्रयोग है; परन्तु कदाचित् अधिक सन्तोषप्रद और विश्वसनीय समाधान रेचक सिद्धान्त के रूप मे मिलता है। अपने सामान्य वातावरण मे, बच्चे को अपनी समस्त मूलप्रवृत्तियो के लिए, विशेपकर स्व-स्थापन (self-assertion) की प्रवृत्ति के लिए पर्याप्त क्षेत्र नही मिलता है। उसका वातावरण, भौतिक और सामाजिक, उसकी सीमित शक्तियो के लिए अति अधिक है, और वह अपनी इच्छा के अनुसार उन पर आधिपत्य नही जमा सकता। अपने कृतक-विश्वास खेल मे इस मूलप्रवृत्ति की रुकी हुई चेतना-शक्ति (energy) की मुक्ति के लिए उसे मार्ग मिल जाता है। एक काल्पनिक ट्राम-चालक अथवा अध्यापक के रूप मे वह धन आत्म-भावना (positive self-feeling) प्राप्त करता है जिसके लिए उसका गद्यात्मक वातावरण उसे अपर्याप्त अवसर देता है। अतएव समस्त कृतक-विश्वास खेल मे हम मूलप्रवृत्त्यात्मक चेतना-शक्ति (instinctive energy) का प्रयोग देखते है जो अन्यथा रुकी रहती।

कृतक-विश्वास की घटना का एक अधिक रोचक रूप बच्चे के द्वारा एक इतरेतर आत्मा (*alter ego*) तथा दूसरे काल्प-

निक साथी का निर्माण है। अधिकांश बच्चे, अपने विकास के एक प्रक्रम पर कल्पना के संसार में रहते हैं, जिसमें स्वयं उसके द्वारा निर्मित जीव निवास करते हैं। लेखक से परिचित एक बच्चे ने तीन-चार वर्ष की अवस्था पर ही स्वयं अपने छोटे बच्चे के विषय में बातचीत करना शुरू कर दिया, जो अनेक अलौकिक साहसपूर्ण कार्य करता था और कभी-कभी बहुत ही नटखट हो जाया करता था। वह तीव्रगामी मोटर-बसों के सामने होकर सड़क के आरपार दौड़ता था और बिना क्षति के बच जाता था। वह स्टेशन के निकट रहता था जहाँ सारे दिन रेलगाड़ियों को देखता था और अन्त में उसको ऐसे माता और पिता प्राप्त हो गये जो प्रत्येक सम्भावित अवसर पर उसकी इच्छाओं की पूर्ति करते रहते थे। यह बाल्य-जीवन की एक विचित्र और व्यापक तथ्य के उदाहरण की रूपरेखा मात्र है। यह स्पष्ट है कि काल्पनिक साथी बच्चा स्वयं ही है; इतरेतर आत्मा (*alter ego*) स्वयं उसके स्वरूप (image) में बन गई है, और उस पर ही स्वयं बच्चे की अपूर्ण इच्छाएँ बँधी हुई हैं। जो रूप वह लेता है और जिन कार्यों को वह करता है, अपने उत्पन्न करने वाले की वास्तविक परिस्थितियों के पूरक हैं। उसका साहस, सौभाग्य और नटखट-पन स्वयं बच्चे की कायरता, आलस्य और उत्तम चरित्र के प्रतिपूरण (compensation) के रूप में सोचे जा सकते हैं। इस प्रकार एक काल्पनिक साथी का निर्माण जो जीवन के मंच पर इतना सफल अभिनय करता है, बच्चे के संवेगों (emotions) पर रेचक प्रभाव डालता है; संचित संवेगात्मक चेतना-शक्ति का निष्क्रमण अन्य के द्वारा किया जाता है। फिर, एक काल्पनिक व्यक्ति के रूप में स्वयं अपने को उत्कल्पना (projection) बच्चे के स्वयं अपने विषय में स्व-चेतन होने के रूप में—ऐसे प्रतिनिधि के रूप में जो सोचता है, अनुभूति करता है,

कार्य करता है—अवश्य ही एक शक्तिशाली तत्त्व होना चाहिए।

बाल-मनोविज्ञान का कोई विद्यार्थी बाल-कल्पना के प्रत्यक्ष अध्ययन को नहीं छोड़ सकता, जो बालक के संवेगात्मक जीवन का इतना महत्त्वपूर्ण सूचक है और जो उसकी अपूर्ण इच्छाओं की पूर्ति को इतना स्पष्ट प्रदर्शित करता है। आधुनिक साहित्य में इन अध्ययनों के अनेक उदाहरण हैं जो बहुत ही रोचक रूप में रखे गये हैं। उदाहरण के लिए, अंग्रेजी साहित्य में पीटर पेन (Peter Pan) अतिरेक साहस का जीवन व्यतीत करता है और यही एक सामान्य बालक की अपूरित इच्छा है, और, इसीमें उसके लोकप्रिय होने का रहस्य है। वह उड़ सकता है, परियों से वार्त्तालाप कर सकता है, लाल इंडियनों (Red Indians) से मैत्री कर सकता है, समुद्री डाकुओं से सफल मुठभेड़ ले सकता है, और अपने साथियों पर प्रभुत्व जमा सकता है। फिर, वह कभी बड़ा नहीं होता, और इसलिए इस आनन्दमय संसार से विदा नहीं होता। यही कारण है कि युवा मनुष्य उससे इतना प्रेम करते हैं। हम सब अपने हृदयों की गहराई में अनुभूति करते हैं कि हमने बचपन का स्वर्ग छोड़ दिया है, और पीटर का दृश्य हमको सहायक होता है कि हम उस तक फिर वापस आ जायँ, चाहे एक घण्टे के लिए ही क्यों न हो। 'छोटी सफेद चिड़िया' (The Little White Bird) नामक पुस्तक पीटर की कहानी का वर्णन अपनी सच्ची अवस्थिति (setting) में करती है। यह एक काल्पनिक कहानी है जिसको एक छोटे बालक डेविड ने कल्पना में बुन दिया है और जिसकी प्रेरणा उसे एक मित्रवत् बूढ़े ब्रह्मचारी से प्राप्त होती है जो प्रायः उसे केनसिंग्टन वाटिका में मिलता रहता है। यह कृति बाल-मनोविज्ञान में अनुपम वस्तु है, और उसकी चहुँमुखी लोकप्रियता उसकी सत्यता का माप है। उससे दूसरी गणना पर श्री ए० ए० मिनी (Mr.

A. A. Milne) की क्रिस्टोफर रोबिन (Christopher Robin ; तथा विनी-दि-पूह (Winnie-the-Pooh) कहानियाँ आंती हैं। वह श्रेष्ठ टेडी-बेयर (एक प्रकार का खिलौना) प्रवीण बुद्धि वाला न था, परन्तु उसका हृदय अत्यन्त उदार था, जो क्रिस्टोफर रोबिन के लिए दूसरे बाजे का काम करता था, सदैव उसकी बौद्धिक श्रेष्ठता को स्वीकार करता था और आपत्ति-काल में उसको सदा ढाढ़स देता था।

ऐसे लेखकों ने जान-बूझकर साहित्य में बच्चे का चित्रण किया है। अंग्रेजी भाषा में परियों की कहानियों में बच्चे का चित्रण स्वभावतः और अचेतन रूप से हुआ है। परियों की कहानियाँ तैयार बाल-कल्पना के रूप में समझी जा सकती हैं, जिनको बच्चा निर्मित करने की अपेक्षा पुनःनिर्मित करता है—काल्पनिक संसार जो उसके लिए तैयार किये जाते हैं, न कि स्वयं उसके द्वारा निर्मित। हम विश्वासपूर्वक मान सकते हैं कि औसत बच्चे की आवेगात्मक आवश्यकताओं के अनुसार उनकी उपयुक्तता के कारण कुछ कहानियाँ एक पीढ़ी से दूसरी पीढ़ी तक चली आ रही हैं। कुछ कहानियाँ तो वे ही हैं, केवल अवस्थिति (setting) का अन्तर है। एक ओर तो ऐसे नवयुवक हैं जैसे सिड्रेला, हॉप-ओ-माई-थम, जेक द जाएंट-किलर, द अगली डकलिंग, द बेब्ज़ इन द वुड (Cindrella, Hop-o'-my-thumb, Jack the Giant-killer, the Ugly Duckling, the Babes in the Wood); दूसरी ओर आततायी सौतेली माताएँ, शक्तिशाली दैत्य, दुष्ट चाचा, और दुरात्मन् डाकिनी की शक्तियाँ हैं। कथावस्तु में प्रायः पहलों के द्वारा पिछलों को पीड़ित करना, और अन्त में किसी परी-देवी अथवा किसी अलौकिक प्राणी द्वारा उनकी रक्षा पाई जाती है। हमारे महाभारत और रामायण ग्रन्थों में बहुत से स्थल ऐसे मिलते हैं

जहाँ बालकों को अनेक साहसपूर्ण तथा अलौकिक कार्य बहुत पसन्द आते है। परियों तथा दानवों से सम्बन्धित का साहित्य भी हिन्दी भाषा में निर्मित हो रहा है।

ऐसी कहानियाँ और कथानक, भले ही वे काल्पनिक और अवास्तविक हों, ऐसी अनुपम अवस्थितियाँ हैं जिनमें बच्चा अपनी भावनाओं की सन्तुष्टि प्राप्त करता है, अपने संवेगात्मक जीवन की तथा अपनी घरेलू परिस्थितियों की। वह स्वयं अपने को मुख्य पात्र समझने लगता है और उसके साहसपूर्ण कार्यों पर अत्यधिक रुचि से ध्यान देता है क्योंकि उस काल के लिए वह स्वयं ही नायक है। वह कदाचित् उपबोधात्मक रूप से (subconsciously) अनुभूति करता है कि वास्तविक जीवन में उसी के प्रति दुष्टता की जा रही है, वही सुलाया जा रहा है, वह विशेष अवसरों पर हटा दिया जाता है, और उससे अवांछनीय कार्य कराये जाते है; और कहानी में उसको ऐसी परिस्थिति मिलती है जो सब प्रकार से उसी की परिस्थिति है। वह नायक को कष्ट देने वालों को उनके समान समझता है जो उस पर अनुशासन करते है और जो उसकी इच्छाओं को रोकते है और नायक की विजय स्व-स्थापन की स्वयं अपनी इच्छा का प्रतिरूप है। इस प्रकार स्वयं उसकी मूलप्रवृत्तियाँ रेचकता प्राप्त करती हैं जब वह स्वयं अपने को कहानी के प्रभावयुक्त नायक के रूप में लाता है।

अनेक परी-की-कहानियों में एक रोचक पात्र दुष्ट विमाता (सौतेली माँ) है। दयालु परी-देवी के सम्बन्ध में उस पर विचार करना चाहिए जो यन्त्र से उत्पन्न देवी (*dea ex machina*) की भाँति नायक की सहायता के लिए आती है। दोनों वास्तविक जीवन में माता के प्रतिरूप है, पहली अपने कठोर चरित्र के रूप में जिसे बच्चे को अनुशासन में रखना है, और

पिछली अपने अधिक प्रिय रूप में जो उसके प्रारम्भिक दिनों में सदैव उसकी सहायता के लिए आती रही और किसी बात के लिए मना न करती रही। परी-देवीमाता का जो भाग इस अभिनय में है वह बच्चे की यह इच्छा है कि उसकी माता का प्रेम उसकी आभासमान कड़ाई पर विजय प्राप्त कर लेगा।

यह न विचार करना चाहिए कि बच्चा जान-बूझ कर अपने को नायक के साथ अभिज्ञात करता है, यह कहकर कि, "मेरी परिस्थिति यह है और मैं इस प्रकार उसके प्रति व्यवहार करूँगा।" अवश्य ही, कहानियाँ बच्चे की वास्तविक स्थिति की विस्मयपूर्ण अत्युक्तियाँ हैं, परन्तु इससे हमको उनके वास्तविक औचित्य को न भूल जाना चाहिए। बच्चे ने अभी गम्भीर विश्लेषण की शक्ति विकसित नहीं की है, और सम्भावना के गम्भीर कथन की अपेक्षा उसका सामान्य हास्यजनक चित्र उसको अधिक पसन्द आता है। जानने की अपेक्षा वह अधिक अनुभूति करता है कि कहानी उसके विषय में है, न हमको यह कल्पना करनी चाहिए कि इन कहानियों के निर्माताओं ने इनको बाल-मनोविज्ञान के प्रमेयों के परिशिष्ट (riders on propositions) के रूप में लिखा है। बाल-प्रकृति के विषय में उनका ज्ञान कदाचित् अधिक बौद्धिक न होकर सहज अन्तर्ज्ञान (intution) के रूप में था। निस्सन्देह छटनी की प्रक्रिया चलती रही है; वे कहानियाँ जो आज तक प्रचलित हैं वे अपने औचित्य के कारण ही हैं, फिर जो इतनी अच्छी नहीं समझी गईं वे भुला दी गईं।

कृतक-विश्वास खेल, काल्पनिक साथी और परियों की कहानियों के सम्बन्ध में प्रायः बच्चे की विचित्र प्रवृत्ति देखने में आती है। एक ओर तो वह कल्पना की इन कृतियों में अत्यधिक आनन्द लेता है, तो दूसरी ओर वह वास्तविक सत्य के जानने के लिए हठ करता है। ऐसा क्यों है? हम यह कल्पना नहीं कर सकते

कि बच्चा वास्तविकता (fact) और कल्पना (fancy) के भेद को भली-भाँति जानता है। उन वस्तुओं का बोधन जिनको हम वास्तविक तथ्य कहते है और हमारी कल्पनाओं के अंश दोनों ही एक समान मानसिक घटनाएँ है; और केवल अनुभव द्वारा, अथवा एक ज्ञानेन्द्रिय का दूसरी ज्ञानेन्द्रिय के अनुमोदन द्वारा ही हम अन्त में इस परिणाम पर पहुँचते है कि तथ्यों के पीछे एक बाह्य संसार है, परन्तु कल्पनाओं के पीछे ऐसा संसार नही है। बच्चा जब इस भेद को समझने लगता है तो वह किसी कहानी के विषय में प्राय. पूछता है, "क्या यह सच है ?" परन्तु अनुभवी कहानी कहने वाला जानता है कि वह सच्ची कहानी अथवा परी की कहानी दोनों ही को सुनकर समान रूप से सन्तुष्ट हो जाता है। इस प्रश्न का अर्थ कुछ इस प्रकार लगाया जा सकता है, मैं इस कहानी को "किस संसार से" युक्त करूँ "यथार्थता के संसार से अथवा कल्पना के संसार से ?" जब उसको उत्तर मिल जाता है तो वह संगत विचारों को एकत्र करता है, और कठोर सत्य के मापदण्ड को केवल 'सच्ची कहानी' पर ही लागू करता है।

उसी प्रकार अपने जीवन में भी वह यथार्थता और कल्पना के दो संसारो को पृथक् करना सीखता है। जब असंगतताएँ उपस्थित होती है तो वह विचारों के संघर्ष का समाधान प्रायः एक चतुर 'अयथार्थता' (fib) द्वारा करता है। इस प्रकार छोटा बच्चा, जिसके विषय में ऊपर कहा जा चुका है, जब उससे पूछा गया कि क्या उसने अपने निर्मित जीवो में से किसी को देखा है, तो उसने बिना विचार किये हुए उत्तर में कहा 'नही'। इस पर उसके प्रश्नकर्त्ता ने पूछा, "तब तुम किस प्रकार जानते हो कि वह क्या करता है ?" बच्चे ने विवाद को सफलतापूर्वक समाप्त करते हुए उत्तर दिया, "क्योंकि मेरे पास उसका पत्र आया था, और मैने उसे नष्ट कर दिया।"

अपनी चर्चा के आरम्भ में, हमने खेल की परिभाषा नहीं बताई थी और न काम और खेल में भेद बताया था। ऐसी परिभाषा और भेद वास्तव में कुछ कठिन हैं। निस्सन्देह हम कह सकते हैं कि कार्य वह है जो हमको करना पड़ता है, जब कि खेल वह है जो हम चाहें तो कर सकते हैं; काम एक क्रिया है जो एक उद्देश्य को लेकर किया जाता है जो उससे परे है, परन्तु खेल में कोई ऐसा लक्ष्य नहीं है। फिर भी ऐसे कथन विषय की जड़ तक नहीं पहुँचते। उदाहरण के लिए, उत्साही अध्यापक अपना कार्य केवल कार्य के लिए करता है और उसमें उसको सर्वोच्च आत्म-सिद्धि (realization of highest self) प्राप्त होती है। हम कह सकते हैं कि उसका कार्य खेल के समान है, यदि अध्यापन-व्यवसाय के आलोचक इसका अशुद्ध अर्थ न लगा लें। इसके विपरीत, पब्लिक स्कूल के एक बालक के लिए, यदि वह अपनी अभिरुचियों (hobbies) को छोड़कर अनिवार्य खेल में भाग लेने लगता है, खेल बिलकुल कार्य के समान है। यथार्थता यह है कि भेद स्वयं प्रक्रियायों में नहीं है, वरन् उनके प्रति कर्त्ता की प्रवृत्ति (attitude) में है। यदि हम कोई क्रिया प्रसन्नतापूर्वक और अपनी ही प्रेरणा से करते हैं, जिसमें बाह्य अनिवार्यता तथा रुकावट न्यूनतम हो, और ऐसी क्रिया में हमारी मूलप्रवृत्तियाँ, अपरिपक्व अथवा उच्च रूप में, सन्तुष्टि प्राप्त करती हैं, तब वह क्रिया हमारे लिए खेल है, भले ही अन्य मनुष्य उसको दूसरे नाम से पुकारें। इसके विपरीत, यदि न आनन्द है और न स्वेच्छा, यदि हमारा हृदय पूर्ण रूप से उस कार्य में नहीं है जिसे हम कर रहे हैं, तब खेल की वृत्ति अनुपस्थिति है और वह क्रिया काम है। इस प्रकार खेल आनन्ददायक, स्वेच्छामूलक, उत्पादक क्रिया है, जिसमें मनुष्य को पूर्ण अपनी आत्म-व्यंजना (fullest self-expression) प्राप्त होती है।

ऐसी परिभाषा ऐसे विचार को एकदम दूर कर देती है कि खेल कोई निरर्थक व तुच्छ वस्तु है जिसे हमको बडे होने पर तिलाजलि दे देनी चाहिए। यह कथन इतना महत्त्वपूर्ण नही है कि हम खेलते है जब तरुण होते है, जितना कि यह कथन कि हम तरुण बने रहते है जब तक हम खेलते है। वास्तव मे जैसा स्टेनले हॉल (Stanely Hall) ने कहा है, "वृद्धावस्था का सबसे बड़ा लक्षण है खेल की देह और आत्मा दोनो की अनुपस्थिति।"[१] मनुष्य की सर्वोत्तम कृतियाँ खेल की वृत्ति मे ही प्राप्त हुई है, और यह केवल घटना-मात्र ही नही है कि अनेक भाषाओ मे 'खेल' शब्द सगीत और नाटक के लिए प्रयोग किया गया है। ऐसा प्रयोग खेल के विस्तृत भाव को व्यक्त करता है जिस पर हम बल दे रहे है। वास्तव मे मच पर एक अच्छा 'खेल' वह है जिसमे पात्र और दर्शक दोनों ही प्रक्षेपण करते है, और, ऐसा करने मे, आत्म-व्यजना (self-expression) और रेचकता (catharisis) का उनको इतना पूर्ण साधन मिल जाता है जितना कि बच्चा अपनी कृतक्-श्रद्धा-खेल मे प्राप्त करता है। साहित्य, चित्रकारी, गायन और विज्ञान मे मनुष्य ने आनन्ददायक, स्वेच्छामूलक, उत्पादक खेल की इस वृत्ति को जीवित रखा है, और इसके फलस्वरूप सुन्दरता और सत्यता की अत्युत्तम रचनाएँ निर्मित की है।

अतएव उस विस्तृत अर्थ को ध्यान मे रखते हुए जो हमने 'खेल' शब्द के लिए प्रयुक्त किया है, इस कथन पर हमको चौक न पड़ना चाहिए कि समस्त शिक्षा खेल-मूलक ही होनी चाहिए। ऐसा सिद्धान्त, 'कोमल शिक्षा-शास्त्र' (soft pedagogics) की ओर नही ले जायगा, वरन् कठोर और कष्टसाध्य और साथ ही आनन्ददायक, स्वेच्छामूलक और व्यंजनापूर्ण क्रियाशीलता की

1 Adolescence, p. 206.

और शिक्षा में आधुनिक उत्साह को एक शब्द में बताने वाले अनेक सूत्र हैं जिनमें सर्वोत्तम खेल-वृत्ति (play-way प्ले-वे)[1] है। अनेक वर्षों से विचारशील शिक्षक शिक्षा की सार्वलौकिक रीति को खोज रहे हैं, जो सब बच्चों पर और समस्त विषयों पर लागू हो। उनके परिश्रम का फल ऐसे सिद्धान्त, विधियों और प्रणालियों में मिलता है जैसे पुनरावर्तन का सिद्धान्त, ह्यूरिस्टिक (heuristic) विधि, अध्ययन के विषयों का अनुबन्ध (correlation) और एकायन (concentration), प्रोजेक्ट पद्धति (project method), मोंटसोरी (Montessori) विधि और डाल्टन (Dalton) प्रणाली। सर जॉन आदम्स (Sir John Adams) ने नवीन प्रवृत्ति की व्यंजनाओं का महत्तम समापवर्तक निकाला और खोज की कि वह 'बाल-केन्द्रिक' (paidocentric) प्रवृत्ति है—अर्थात् वह प्रवृत्ति जो शिक्षा की समस्त प्रक्रिया को स्वयं बालक के दृष्टिकोण से ही देखती है। परन्तु कदाचित् इसे अधिक सरल भाषा में 'खेल-वृत्ति' या 'प्ले-वे' कह सकते हैं, क्योंकि बाल्यावस्था की वृत्ति ठीक खेल की वृत्ति है। आनन्दायक, स्वेच्छामूलक प्रक्रिया के रूप में खेल की कल्पना—मूल-प्रवृत्तियों की सन्तुष्टि, पुनःनिर्देशन और उत्कर्षण—के विषय में कहा जा सकता है कि वह शिक्षा की नवीन वृत्ति के समस्त कार्यापन में निहित है और उन पर शासन करती है। अब तक के प्राप्त निराशाजनक परिणामों का कारण उन शिक्षकों की अज्ञानता है जिन्होंने खेल में चपलता के सिवाय और कुछ नहीं देखा, और इस मार्ग में मूलप्रवृत्तियों की चेतना-शक्ति जो प्रचुर मात्रा में प्रवाहित हो रही है उसका उपयोग नहीं किया।

शिक्षा में खेल-वृत्ति का यथेष्ट वर्णन करने के लिए बहुत

1 Mr Caldwell Cook द्वारा सर्व प्रथम प्रयोग किया गया।

स्थान चाहिए जो हमारे पास नहीं है; ऐसे कार्य को करने की आवश्यकता प्रतीत नहीं होती जिस पर सौभाग्यवश अन्य लेखकों ने अत्यन्त सफलतापूर्वक लिखा है। यहाँ सामान्य रीति से थोड़े-से शब्द कहना पर्याप्त होगा।

वर्तमान काल में सभी पाठशालाओं में स्वायत्त शासन (self-government) की प्रणाली व्यवहार में है, और सभी संस्थाओं में नायक (prefect) विधि और सदन (house) तथा टोली (team) रीतियाँ प्रचलित हैं; और जहाँ कहीं भी ऐसे प्रयोग हृदय से और उत्साहपूर्वक किये गये हैं वहाँ कभी विफलता नहीं हुई है। तरुण अध्यापक को चेतावनी होनी चाहिए कि इन मामलों में अधूरे उद्योग बेकार हैं। स्वायत्त शासन और पुरानी अधिकारमूलक प्रणाली दोनों परस्पर विरोधी हैं, और दोनों रीतियों को साथ-साथ प्रचलित करने का प्रयत्न विफलता का आवाहन करना है। बाल-नायकों (prefects) का चुनाव स्वतन्त्रतापूर्वक होना चाहिए और उनको यथार्थ अधिकार तथा उत्तरदायित्व दे देना चाहिए; वे किसी भी दशा में स्वयं अध्यापक द्वारा मनोनीत न होने चाहिएँ। पाठशाला-शासन में खेल-वृत्ति इस प्रस्थापना में संक्षेप में बताई जा सकती है कि पाठशाला एक समाज है जिसे आदर्श गणतन्त्र के रूप में ही संगठित करना चाहिए। उपमा को आगे न बढ़ा कर इतना कहना पर्याप्त होगा कि अध्यापक को वैधानिक शासक के रूप में कार्य करना चाहिए, जिसे कुछ विशेषाधिकार प्राप्त हों और रद्द करने का अधिकार प्राप्त हो, परन्तु मुख्यकर उसका कार्य हो जनमत का पथप्रदर्शन और उसका विवेचन[१]। वह विस्तृत समाज का प्रतिनिधि है, और उसका कार्य उस बड़े समाज और पाठशाला के छोटे समाज के बीच में सामंजस्य स्थापित करने वाले अधिकारी (liaison

---

१ देखिए Nunn, Education : its Data and first Principles P. 112.

officer) का है। ऐसी सम्मति आधुनिक विचारधारा में घनीभूत की गई है—जो अवश्य ही अनावश्यक है—कि 'अध्यापक', 'शिक्षक', 'अध्यापिका', शब्दों का एकदम बहिष्कार कर दिया जाय। इस प्रकार, मांटसोरी प्रणाली वाले संचालिका (directress) शब्द का प्रयोग करते हैं, और श्री नार्मन मेकमन (Norman MacMunn) नामक अध्यापक अपने को "टिपट्री भवन के बालकों का मुख्य सलाहकार" (chief adviser to the boys of Tiptree Hall) कहते थे।

पाठशाला-प्रबन्ध में ऐसी भावना खेल का प्रमुख सार है। बालकों को जीवन से प्रयोग करने तथा उसकी सम्भावनाओं को खोजने का अवसर और प्रोत्साहन दिया जाता है, जब कि उनकी स्व-स्थापन (self-assertion), आत्म-अपकर्ष (self-abasement) और योधन (pugnacity) की मूल-प्रवृत्तियों को अपने मूल मोटे रूपों में पुनः निर्देशित और उत्कर्षित होकर उच्च वैयक्तिक और सामाजिक रूप में बदला जाता है। ऐसी खेल की विधियों की किसी प्रकार उपेक्षा नहीं की जा सकती, जिनके द्वारा भावी नागरिकता के लिए प्रत्यक्ष तैयारी होती है।

सीखने में खेल-वृत्ति को हम पाठशाला में खेल और काम में पुराने विरोध को भंग करने का प्रयत्न, कष्टसाध्य कार्य (drudgery) को समाप्त करना, और पढ़ने, लिखने तथा अंकगणित की शिक्षा में खेल की आनन्ददायक तथा साहसपूर्ण भावना कह सकते हैं। मांटसोरी प्रणाली की विशेषताओं से सभी परिचित हैं, जिसके द्वारा बच्चे 'प्रबोधक उपकरण' (didectic apparatus) से खेलते हुए पढ़ने, लिखने और गिनने की कलाओं में उल्लासपूर्वक प्रवेश करते हैं। मांटसोरी के प्रति उत्साह में हमको पुरानी किंडरगार्डन प्रणाली से द्वेष न करना चाहिए जिसमें खेल अधिक रूढ़िगत रीति से स्थान पाता है।

फ्रोबेल (Froebel) और मांटसोरी (Montessori) दोनों ने खेलते हुए बच्चे की प्रबल आकांक्षा व चेतनता और उसका अनिच्छापूर्वक पाठशाला में धीरे-धीरे जाने में दुखपूर्ण असमानता देखी। फिर, ह्यूरिसटिक (heuristic) प्रणाली जिसका व्यवहरण सर्व प्रथम आचार्य आर्मस्ट्रौंग (Armstrong) ने विज्ञान के शिक्षण में किया था, बच्चे को अनुसंधान करने वाले की स्थिति में रखती है, और उसको इस बात का आनन्द देती है कि मानो वह "आकाश का कोई द्रष्टा है जब उसे अकस्मात् कोई नया ग्रह देख पड़ता है।" उसका उद्देश्य है बालक में विलय (absorption) और कुशाग्रता की वही प्रवृत्ति जो उसकी अभिवृत्तियों (hobbies) में प्रस्फुटित होती है। यद्यपि इस विधि की बाह्य रूप की आलोचना की जा सकती है, परन्तु हमको उसकी भावना को देखना है; और सीखने में जो भावना निहित है वह खेल की है।

आधुनिक काल के सबसे अधिक महत्त्वपूर्ण प्रयोगों में एक पाठशाला-यात्रा आन्दोलन है। बालकों के समूह समय-समय पर पाठशाला से दूर उन वातावरणों में ले जाये जाते हैं जहाँ सीखने और सामाजिक जीवन को वास्तविकता की उत्तेजना दी जाती है। पर्वतों, नदियों, घाटियों और समुद्रतट से भूगोल सीखा जाता है, और गढ़ों (किलों), मन्दिरों तथा अन्य प्राचीन अवशेषों से इतिहास की जानकारी करायी जाती है। कोई मनुष्य इस आन्दोलन की महान् उपयोगिता पर सन्देह नहीं कर सकता जो प्रतिवर्ष उत्तरोत्तर उन्नति कर रहा है। दुख यही है कि यह रीति जो साहस के भावों से ओतप्रोत है पाठशाला के जीवन के प्रत्येक वर्ष में कुछ ही सप्ताह जारी रहती है।

डॉल्टन प्रणाली (Dalton Plan), जो समय-सारिणी तथा सीखने की नियत विधि से घृणा करती है, मांटसोरी विधि का दूसरा

व्यावहारिक रूप है, जो अल्पवयस्क छात्र को ऐसा वातावरण देती है जिससे सीखने को प्रोत्साहन मिले। कक्षा के कमरे भिन्न-भिन्न विषयों की प्रयोगशालाएँ समझे जाते हैं, और बच्चा स्वतन्त्र है कि वह किसी विशेष समय पर किस विषय का अध्ययन करे। ऐसी विधि उस भावना (spirit) का पोषण करती है जिसका हमने वर्णन किया है, और उसकी सफलता अवश्यम्भावी है।

वास्तव में, मोटे रूप से हम कह सकते हैं कि, सीखने में खेल की वृत्ति के प्रयोग की कोई सीमा नहीं है। अन्तिम उदाहरण के रूप में, हम विचार कर सकते हैं कि खेल की वृत्ति किस प्रकार सांस्कृतिक विषयों में व्याप्त हो सकती है और किस प्रकार छात्र भूतकालीन मानवीय भावों की कृतियों से अभिज्ञता प्राप्त कर सकता है। पहले, अध्यापक गणितज्ञों की गणित नहीं पढ़ाते थे, वरन् जैसा सर टी० पर्सी नन ने कहा है, उन्होंने एकायन गणित-रसायन (concentrated mathematical elixir) का आसवन (distillation) किया, जिसको उन्होंने अपने छात्रों को छोटी-छोटी मात्राओं में पिलाया; उन्होंने अपने छात्रों को गणित की प्रक्रिया में निर्देशन करने के स्थान पर गणितमूलक विचार के फल दिये। यह विधि नई वृत्ति का नितान्त विरोध है। मनुष्य ने इस प्रकार गणित नहीं सीखी; उसने विचार के इन स्मारकों को साहस और खोज की भावना में प्राप्त किया। इसी प्रकार बच्चा अपने बुद्धिमूलक और कलात्मक दाय में प्रवेश करेगा—उत्पादन कार्य की भावना में और अपने वातावरण पर प्रयोग करने की भावना में। जो कुछ हमने गणित के सम्बन्ध में कहा है वह सभी सांस्कृतिक विषयों के बारे में ठीक है; उनका निरूपण इस प्रारम्भिक दृष्टि से नहीं करना चाहिए कि वे बातें सीखनी हैं, वरन् उनको ऐसे मार्गों के रूप में बताना है जिनमें

उत्पादक या निर्मायिक प्रवृत्ति का प्रवाह हो सके और व्यक्ति की सम्भावनाओं को सिद्धि प्राप्त हो सके। यह ध्यान देने योग्य है कि अंग्रेज़ी शब्द 'poet' (कवि) का मौलिक अर्थ 'निर्माणकर्ता' है। इस कल्पना का विस्तार करते हुए, हमको अपने मत पर बल देना चाहिए कि बच्चे को तथ्यों का भाजन नहीं समझना है, वरन् उसको साहित्य, विज्ञान और गणित का आनन्दमय निर्माता अथवा पुनः निर्माता के रूप में समझना चाहिए। यहाँ फिर खेल की वृत्ति ही सामने आती है।

अन्य किसी की अपेक्षा स्काउट (बालचर) आन्दोलन खेल-वृत्ति का व्यावहारिक रूप है। खेल के सभी रूप यहाँ हैं। मनुष्य की पैतृक अवस्थिति में, अपने मार्ग खोजने, पशु-दण्डों (totem poles), शिविर-अग्नि (camp fire) और खेलों में स्काउटिंग मनुष्य-के-भूतकाल का स्मारक है, उसमें मूलप्रवृत्तियों को पूर्ण व्यंजन और रेचन मिलता है, और उसमें भविष्य के तरुणावस्था की मूल्यवान् तैयारी है। बुद्धिमूलक शिक्षा की उपेक्षा नहीं की जाती है, और उसकी सफलता कम से कम एक क्षेत्र में 'बालचर-रेखागणित' शब्द में घनीभूत की गई है। परन्तु उसकी सर्वोत्तम कृतियाँ चरित्र-शिक्षण में हैं।

इस आन्दोलन के संस्थापकों को गर्व होना स्वाभाविक है कि उन्होंने शिक्षा में नई वृत्ति का एक पद्धति में एकायन कर दिया है। उनका मनोविज्ञान पाठ्य पुस्तकों पर आधारित न था, वरन् बाल-प्रकृति के ज्ञान और निरीक्षण से उत्पन्न था जिसने उसे अत्यधिक व्यावहारिक और मूल्यवान् बनाया। न वे रूढ़िवादी अधिकारी शिक्षकों के वृत्त में थे; क्योंकि वे किसी संहिता के अधिकृत न थे, और उनका उत्तरदायित्व अपने ऊँचे आदर्शों द्वारा स्थापन के अतिरिक्त और कुछ न था, वे शिक्षा के क्षेत्र में अपना महान् साहस खेल की वृत्ति में दिखाते थे—खेल अपने लिए तथा अपने

छोटे मित्रों के लिए भी। उन्होंने ऐसी विधि निर्मित की है जो शैक्षिक विचार-धारा को अत्यधिक प्रभावित कर रही है, और जिसने, किसी अन्य प्रणाली की अपेक्षा अधिक, नये दृष्टिकोण के मूल्य को औसत अध्यापक को बताया है। यद्यपि किसी एक प्रणाली को ही अन्तिम शब्द मान लेना उचित नहीं है, फिर भी अनेक प्रधानाचार्य तथा मुख्य-अध्यापिकाओं ने छोटी कक्षाओं के समस्त छात्रों को बाल-चर बना लिया है। अन्य अध्यापकों ने कदाचित् अधिक बुद्धिमानी और अधिक सावधानी से इस प्रणाली की भावना को अपना लिया है और इस प्रकार अपनी पाठशालाओं के अरोचक कार्य में उत्परिवर्तन कर लिया है।

कदाचित् इसकी सफलता का स्पष्टतम माप इसका विस्तार तथा उपसाध्य (corollary) है जिसे 'रोवर' (Rover) आन्दोलन कहते हैं। इस आन्दोलन का प्रारम्भ इस तथ्य में है कि प्रथम बाल-चर बड़े होने पर, समस्त जीवन बालचर संस्था की उत्तेजना, भ्रातृ-भाव और खेल-वृत्ति को सुरक्षित रखना चाहते थे। रोवर का अन्वेषण करते हुए उन्होंने निश्चित कर लिया है कि वे सदा बालक ही रहेंगे। आधुनिक शिक्षा में सबसे अधिक स्वस्थ चिन्ह है तरुण अध्यापकों में स्काउट-भावना का प्रसार, जो स्काउट मास्टर की वृत्ति तथा विधियाँ अंगीकार करके अपने व्यवसाय की जटिलतम समस्याओं को सुलझा सकेंगे।

विशेष अध्ययन के लिए

Nunn : Education : its Data and First Principles, chapters vi, vii and viii.

Drever : Introduction to the Psychology of Education, chapter vi.

Groos : The Play of Animals : The Play of Man.

Hall : Adolescence.

McDougall : An Introduction to Social Psychology, chapter iv; An Outline of Psychology, chapter v.

Green : Psychanalysis in the Classroom.

Simpson : An Adventure in Education.

MacMunn : The Child's Path to Freedom.

Coldwell Cook : The Play Way.

Neill : A Dominie's Log.

Adams : Modern Developments in Educational Practice; Educational Movements and Methods.

Parkhurst : The Dalton Plan,

Lynch : Individul Work and the Dalton Plan; The Rise and Progress of the Dalton Plan.

Montessori : The Montessori Method; The Advanced Montessori Method.

: ७ :

विकास के परिणाम

(Products of Development)

हमने देख लिया है कि मूल-प्रवृत्तियों में आचरण के जन्मजात नियंत्रण मिलते हैं। अब हम मूल-प्रवृत्तियों में उच्चतर नियंत्रणों के अध्ययन पर आते हैं जो व्यक्ति द्वारा अपने जीवन-काल में अर्जित किये जाते हैं अथवा किये जा सकते हैं। हमारे मन वातावरण के साथ किये गए हमारे व्यापार (व्यवहार) के परिणाम-स्वरूप विकसित होते हैं। जन्मजात मनःव्यवस्थाओं (dispositions) के आधार पर अर्जित मनःव्यवस्थाओं का निर्माण करना होता है, और फिर अर्जित व्यवस्थाएँ एक संघठित समष्टि में एकीकृत हो जाती हैं। इस अध्याय में हम, मन की रचना की अपनी परिकल्पना के आधार पर, मन के भावात्मक-चेष्टामूलक पक्ष (affective-conative side) का निरूपण करेंगे।

अब तक के तर्क को समझने वाले विद्यार्थी से यदि पूछा जाय कि आचरण के अर्जित नियन्त्रण (acquired controls) क्या हैं, तो वह कदाचित् आदतों की ओर इंगित करेगा। सदाचारवादियों (moralists) द्वारा सामान्यतया और शिक्षा-विदों द्वारा विशेषतया, आदतों पर बहुत जोर दिया जाता था; उन्हें आचरण के व्याख्यात्मक सिद्धान्त के रूप में—निर्दयी सत्वों के रूप में—समझा जाता था, जो कि एक बार सुदृढ़ प्रकार

से स्थापित हो जाने पर हमारे भाग्य का निर्धारण कर सकती थीं। चरित्र को आदतों का समूह समझा जाता था; इसलिए, अच्छी आदतों के परिश्रमपूर्वक अनुसरण करने तथा खराब आदतों के परिहार करने पर जोर दिया जाता था। किन्तु शिक्षा-सम्बन्धी आधुनिक ग्रन्थों में हमें आदतों का कोई विस्तृत ब्यौरा नहीं मिलता। इसके बजाय हमें नियंत्रित प्रतिक्षेपों या सम्बद्ध सहज क्रियाओं (conditioned reflexes) अथवा स्थायी-भावों का, लेखक के व्यवहारवादी विचारधारा से मतैक्य रखने या न रखने के अनुसार उल्लेख मिलता है। किन्तु सम्बद्ध सहज क्रिया तथा स्थायीभाव आदत के इस महान् तथ्य को वर्णित करने की वैकल्पिक विधियाँ मात्र हैं।

जैसा कि मैकडूगल ने लिखा है,[1] वर्तमान व्यवहारवाद (behaviourism) अपनी सम्बद्ध सहज-क्रियाओं के साथ आचरण की आदतों की दृष्टि से व्याख्या करने के पुराने प्रयत्न में नवीनतम अध्याय है। इस विचार-धारा के आचार्य हमें बतलाते हैं कि प्रकृति ने स्नायु-प्रणाली (nervous system) में हमें कुछ कारक यंत्र (motor mechanisms) प्रदान किये है। उदाहरणार्थ, मेरे नेत्रों पर जब तीव्र प्रकाश पड़ता है तो एक स्नायु-धारा एक अन्तर्गामी स्नायु-तंतु (nerve-fibre) में हो कर दौड़ती हुई मस्तिष्क में एक केन्द्र तक पहुँचती है। यह स्नायु-केन्द्र इस प्रकार क्रियाशील हो जाता है कि कारक स्नायु-तन्तु में होकर एक स्नायु-धारा मेरे पलकों को नियन्त्रित करने वाली पेशियों तक पहुँचती है, और परिणाम-स्वरूप मैं पलक मारता हूँ। यह तथा-कथित सरल सहज-क्रिया (simple reflex action) का एक उदाहरण है—वह शारीरिक क्रिया जो हमें जन्म से प्रदत्त स्नायु-यंत्रों के कारण होती है। इस प्रकार के दो या अधिक ऐसे

1 An Outline of Psychology, p. 177.

स्वभावतः व्यवस्थित यन्त्र एक-साथ अथवा एक के पश्चात् तत्काल दूसरे के क्रियाशील होने पर, न्यून प्रतिरोध (low resistence) के कारण संयुक्त हो जाते हैं; इसके पश्चात् वे या तो एक-साथ कार्यरत होते हैं अथवा तुरन्त एक-दूसरे के बाद। इस प्रकार के सहयोजन का प्रत्येक उदाहरण उक्त संधि को सुदृढ़ करता है, और अंत में एक 'नियन्त्रित प्रतिक्षेप', या 'सम्बद्ध सहज-क्रिया' (conditioned reflex) की स्थापना होती है—अर्थात् एक ऐसे अर्जित यन्त्र-समूह की जो आचरण को नियंत्रित करता है। इस प्रकार जब पेवलोव (Pavlov) का कुत्ता, जिसे घण्टे की ध्वनि के साथ खाना दिया जाता था, अंत में केवल घण्टे की ध्वनि पर ही प्रचुर मात्रा में लार गिराता था, तो उस कुत्ते में एक संबद्ध सहज-क्रिया स्थापित हो गई थी। अतएव व्यवहारवादी के लिए, आदत-सम्बन्धी क्रिया अथवा सम्बद्ध सहज क्रिया संयुक्त कारक-यन्त्रों का यांत्रिक कार्यकरण है; स्वयम आदतें स्नायु-रचना के अर्जित रूपान्तर तथा संयोग हैं।

इसका तात्पर्य यही निकलता है कि मूल-प्रवृत्तियों को, शब्द के इस व्यवहावादी अर्थ में, स्वाभाविक कारक-यंत्र (innate motor mechanism)—स्वाभाविक आदतें—समझना चाहिए। मूल-प्रवृत्ति तथा आदत में केवल मात्र अन्तर यह है कि एक तो जन्मजात कारक-यंत्र है, दूसरा अर्जित (acquired)। व्यवहारवादी लोग मनुष्य के समस्त व्यवहार, उसके समस्त विचार तथा प्रेरणा (volition) का निरूपण ऊपर वर्णन की गई यांत्रिक पारकल्पना के रूप में करते हैं, और उन्होंने इस आधार पर एक शिक्षा-मनोविज्ञान का निर्माण करने के गम्भीर प्रयत्न किये हैं। व्यवहारवादियों से हम ऐसी स्नायु-प्रणाली (nervous system) के कार्यकरण के सम्बन्ध में बहुत कुछ सीख सकते हैं जिसका कि शैक्षिक महत्त्व है। उदाहरणार्थ, जब

हम शारीरिक निपुणता का अध्ययन करना चाहते हैं तो हम उनकी उपपत्तियों (findings) का उपयोग करते है। किन्तु यह स्मरण होगा कि जब हमने दूसरे अध्याय में अपने सामान्य सिद्धान्त का वर्णन किया था, तो हमने यांत्रिक तथा मन-सम्बन्धी परिकल्पना के मध्य चुनाव किया था, और अब हमने मन-सम्बन्धी परिकल्पना के दावे को प्रमाणित करने में पर्याप्त समय व्यय कर दिया है। अतएव हमें इस बात की जॉच करनी है कि मन-सम्बंधी रचना की हमारी परिकल्पना के रूप में आदत का वर्णन क्या किया जा सकता है।

आदत आचरण का व्याख्यात्मक सिद्धान्त नहीं है; व्यवहार को आदत (habit) का परिणाम बतलाना निरर्थक है, क्योंकि आदत स्वयम् ही व्यवहार (behaviour) है। आदत केवल वर्णनात्मक पद (term) है, जो समान परिस्थितियों में समान क्रियाओं के पुनरावर्तन को दरसाता है, और इसकी व्याख्या के लिए हमें अन्य कारण देखने पड़ेगे। जैसा हम देख चुके हैं, व्यवहारवादी स्नायु-प्रणाली के यांत्रिक कार्य-करण की ओर ध्यान देते हैं; हम प्रधानतः मूलप्रवृत्ति की ओर ध्यान देंगे। इस बात में हमें तब अधिक उत्साह मिलता है जब हम स्मरण करते है कि ज्ञात (familiar) की पुनरावृत्ति करने के आवेग का अध्ययन करते समय हमने एक विशिष्ट मूल-प्रवृत्ति—स्व-स्थापन—को कार्य करते पाया था। वह इस सामान्य सत्य का केवल एक दृष्टान्त था कि आदतें हमारी मूल-प्रवृत्तियों से बनती है, और वास्तव में उन्हें ऐसे स्रोत समझना चाहिए जिनके रूप में मूलप्रवृत्तियों की अभिव्यक्ति होती है। ठीक जिस प्रकार पहाड़ी पर से बहने वाली धारा, स्रोत का रूप धारण कर लेने के पश्चात्, उसे और चौड़ा तथा गहरा करती चली जाती है, उसी प्रकार मूलप्रवृत्ति की अभिव्यक्ति का माध्यम (mode of

expression) मिलने पर उस माध्यम को पुनः प्रयुक्त करती हैं तथा उसे आदत बना देती है। पशु-प्रशिक्षकों (animal-trainers) द्वारा अपनाये जाने वाले तरीकों से आदत के इस दृष्टिकोण की पुष्टि होती है। पशुओं को करतब सिखाने का प्रयत्न करते समय वे भोजन खोजने की मूलप्रवृत्ति का सहारा लेते हैं; तब ये करतब पशु के लिए व्यवहार का माध्यम या विधि बन जाते है जिनमें कि इस मूलप्रवृत्ति को तुष्टि मिलती है।[1]

और भी सामान्य रूप में।हम यह कह सकते है कि आदतों का निर्माण हमारे प्रयोजनों (purposes) से होता है, चाहे वे मूलप्रवृत्त्यात्मक हों या नहीं। अर्जित प्रयोजन जन्मजात मानसिक रचना के संपरिवर्तन तथा संगठन के परिणामस्वरूप अस्तित्व में आते है। व्यवहार का वास्तविक प्रेरक आदत नहीं वरन् मूलप्रवृत्ति है, जिसमें विकास के वे अग्रेतर परिणाम भी सम्मिलित है जिनका कि अब हमें अध्ययन करना है।

अध्याय ३ में हमने संस्कार-ग्रन्थियों (engram-comlexes) के निर्माण तथा दृढ़ीकरण के सरल दृष्टान्तों का अध्ययन किया था और देखा था कि इन अर्जित भावना-ग्रन्थियों के कारण स्थितियाँ किस प्रकार गौण अर्थ धारण कर लेती है। हमें यह मानना पड़ा था कि अनुभव अपने पीछे कुछ उत्तर-प्रभाव अथवा संस्कारलेख (engrams) छोड़ जाता है जो एक-दूसरे के तथा नैसर्गिक स्वभावों के साथ एकीकृत हो जाते है, तथा संलाग होकर भावना-ग्रन्थियों का निर्माण करते है जो भविष्य के व्यवहार को निर्धारित करती है। और हमने देखा था कि भावना-ग्रन्थि में एकत्व का बन्धन रुचि (interest) का है और वे संस्कार एकीकृत हो जाते है जिनका जीवी से विशेष रूप से सम्बन्ध है।

1 McDaugall An Outline of Psychology, p. 181.

मानसिक रचना की ये अर्जित व्यवस्थाएँ जिन्हें हम भावना-ग्रन्थि (complexes) कहते हैं, विकास के प्रथम परिणाम हैं; उनका निर्माण आदत-सम्बन्धी व्यवहार का सृजन करता है तथा ऐसे आचरण में अभिव्यक्त होता है जिसे पहले से बतलाया जा सकता है।

इन भावना-ग्रन्थियों से प्रकार में भिन्न, किन्तु मात्रा में अधिक भिन्न, वे मानसिक रचनाएँ हैं जो स्थायीभाव (sentiments) कहलाती हैं। सामान्य भाषा में शब्द 'स्थायीभाव' (sentiment) और 'भावना' (feeling) तथा 'संवेग' (emotion) में भेद नहीं किया जाता; फिर भी, जैसा मेगडूगल बतलाता है कुछ अस्पष्ट-सा भेद माना जाता है। उदाहरणार्थ, हम कहते हैं घृणा का स्थायीभाव, किन्तु क्रोध की भावना अथवा संवेग; दोनों में अन्तर यह है कि स्थायीभाव हमारा एक स्थायी अंश है जब कि संवेग या भावना केवल मात्र एक अस्थायी अनुभव है। अर्थात्, स्थायीभाव मानसिक रचना का एक तथ्य है जब कि भावना मानसिक कार्यापन (mental function) का एक तथ्य है। जैसा कि हम कह चुके हैं, मनोविज्ञान को मानसिक रचना तथा अनुभव में स्पष्ट अन्तर करना चाहिए; स्थायीभावों जो भावनाओं का निर्धारण करते हैं, उनको एक ही मान लेने से भ्रान्ति उत्पन्न होने के अतिरिक्त और कुछ नहीं होगा।

तब फिर, स्थायीभाव (sentiment) क्या है ? भावना-ग्रन्थि (complex) की तरह यह मानसिक रचना की व्यवस्थाओं का अर्जित संगठन है, अन्तर केवल मात्रा का है। भावना-ग्रन्थि के विकास के एक विशिष्ट स्तर को हम स्थायीभाव (sentiment) का नाम देते हैं। जब एक भावना-ग्रन्थि एक विशिष्ट सीमा तक स्थायित्व प्राप्त कर लेती है और जब यह

मन का एक महत्त्वपूर्ण भाग बन जाती है, तो हम उसे स्थायी-भाव (sentiment) कहते हैं।

किसी अभिरुचि (hobby शौक) का अध्ययन करने पर बात स्पष्ट हो जायगी, क्योंकि प्रत्येक शौक के पीछे एक स्थायी-भाव रहता है। एक उत्साही खिलाड़ी (sportsman) का उदाहरण लीजिए, जिसने कि अपने मन को एक विशिष्ट दशा में लगा रखा है। स्व-स्थापन (self-assetion) की इच्छा होने पर वह खिलाड़ी खेल का आश्रय लेगा, और अपनी यथार्थ आत्म-भावना (self-feeling) को किसी खेल के अच्छे करतब में अनुभव करेगा। अपने प्रिय खेल में एक महान् गणितज्ञ की अपेक्षा, एक श्रेष्ठतर खिलाड़ी के प्रति उसके विनम्र होने की अधिक सम्भावना होगी। उसकी योधंन (combat:) मूलप्रवृत्ति को खेल के रूप में अपनी मुख्य अभिव्यक्ति या व्यञ्जना का मार्ग मिलेगा, और उसका क्रोध तत्काल उद्भासित हो उठेगा जब कि कोई खेल को ठीक तरह न खेल रहा हो। उसका कौतूहल उसे अन्य चीजों की अपेक्षा खेल-सम्बन्धी सूचनाएँ प्राप्त करने को अधिक प्रेरित करेगा; और उसके हृदय में किसी अन्य युवक की अपेक्षा एक युवा खिलाड़ी के प्रति अधिक शीघ्र कोमल संवेग उठेगा। संक्षेप में, वह अपने समस्त संवेगों की अनुभूति एक विशिष्ट अवस्थिति (setting) में करता है; खेल में उसकी मूल-प्रवृत्तियों को अपनी स्वाभाविक व्यञ्जना (expression प्रकाशन) मिलती है।

खिलाड़ी जन्म से ही खिलाड़ी पैदा नहीं हुआ था। उसने एक मानसिक व्यवस्था—एक स्थायीभाव—को उपार्जित कर लिया है जो कि उससे किसी विषय विशेष के सम्बन्ध में संवेगों तथा इच्छाओं का अनुभव कराती हैं; उसके संवेगों ने एक स्वरूप-विशेष धारण कर लिया है। इस प्रकार स्थायीभाव के निर्माण

से प्रवृत्तिमूलक-चेष्टामूलक व्यवस्था (या रचना) का किसी विषय के विचार के साथ एकीकरण हो जाता है और उसका परिणाम होता है उस विषय के प्रति "एक चिरस्थायी चेष्टा-मूलक अभिवृत्ति" (an enduring conative attitude)। सरलतम सम्भव स्थायीभाव को मॉर्टन प्रिंस (Morton Prince) के शब्दों में व्यक्त किया जा सकता है "मूलप्रवृत्ति से सम्बद्ध विचार"। यहाँ केवल एक मुख्य आवेग स्वरूप-कृत हुआ है; इस प्रकार मै अपने समस्त कोमल आवेगों को एक व्यक्ति पर केन्द्रित कर सकता हूँ। किन्तु मूलभूत स्थायीभाव में अनेक मूल-प्रवृत्तियों का कार्यापन सम्मिलित होता है, और ये आदतन इसके लक्ष्य की ओर बढ़ती है।

उपरिदर्शित उदाहरण प्रेम-भाव (love-sentiment) का एक दृष्टान्त है जिसे "खेल के प्रति प्रेम" कहा जा सकता है। इसी प्रकार घृणा-भाव (hate-sentiments) हो सकते है, जहाँ, पुनश्च, अधिकांश संवेग विचार के किसी लक्ष्य के सम्बन्ध में अनुभूति किये जाते है, अर्थात् घृणित व्यक्ति या वस्तु के सम्बन्ध में। यह ध्यान रखना आवश्यक है कि भावों का निर्माण करने के लिए लक्ष्यों की अनुपस्थिति में भी मस्तिष्क में उनकी कल्पना की शक्ति होनी चाहिए। पशुओं में यह शक्ति अत्यन्त सीमित मात्रा में होती है और इसलिए उनमें स्थायीभाव नहीं होते; फिर भी एक बुद्धिमान कुत्ते में अपने स्वामी के प्रति आदर, अथवा प्रेम तक का, एक अल्प-विकसित स्थायीभाव हो सकता है। विद्यार्थी के लिए यह लाभप्रद होगा कि वह स्वयं अपने मानसिक जीवन में प्रेम, घृणा, आदर तथा अपमान के उदा-हरण ढूँढ़े।

इसी बीच हम इस बात पर ज़ोर दे सकते है कि हमारी अनेक आदतों की पृष्ठ-भूमि में स्थायीभाव होते है, केवल क्रिया

के ही नहीं वरन् भावना और विचार के भी—जिन्हें हम मानसिक आदतें कहते हैं। आदतें स्थायीभाव तथा मूलप्रवृत्तियाँ दोनों की सेवा में उत्पन्न होती हैं; वास्तव में स्थायीभाव की उत्पत्ति अभिव्यक्ति के एक स्रोत-विशेष के द्वारा मूलप्रवृत्ति के आदती कार्यपन में है। अतएव, स्थायीभाव आचरण की सुबद्धत्ता (consistency) पर अधिक प्रभाव डालते हैं। अव्यवस्थित अ-पूर्वकथनीय व्यवहार के बजाय ऐसा व्यवहार होता है जो, एक बार व्यक्ति के स्थायीभाव ज्ञात होने पर, पूर्वभासित किया जा सकता है। इसलिए, उन लोगों के स्थायीभावों का अध्ययन करना अत्यन्त आवश्यक है जिनके साथ हमारा काम पड़ता है, और यह हम केवल उनके आचरण को देख कर ही कर सकते हैं। यदि तीन व्यक्ति शाम का अखबार खरीदें और उनमें से एक सर्व प्रथम राजनीतिक समाचारों को देखे, दूसरा खेल-सम्बन्धी समाचारों को और तीसरा संगीत-कार्यक्रम के विज्ञापनों को, तो हम यह निष्कर्ष निकाल सकते हैं कि उनके मनों में क्रमशः राजनीति की रुचि, खेलों के प्रति प्रेम, तथा संगीत प्रेम महत्त्वपूर्ण स्थायीभाव हैं।

स्थायीभावों के निर्माण में हम संलाग (cohesion) के महान् सिद्धान्त को कार्य करते देखते हैं, जिसे हम मन की शक्तियों में एक मुख्य शक्ति मान चुके हैं।[1] मन केवल मूलप्रवृत्तियों का एक बंडल न होकर, इन मूलप्रवृत्तियों को नवीन समष्टियों (wholes) में एकीकृत करके एक उच्चतर भिन्नता-में-एकता (unity in diversity) की उत्पत्ति करता हैं। संलाग का कार्य यहाँ ही समाप्त नहीं हो जाता। जिस प्रकार मन केवल मूलप्रवृत्तियों का पूल (बंडल) मात्र नहीं है,

---

[1] देखिए अध्याय ३

उसी प्रकार स्थायीभावों का पूल भी नहीं है। जैसे-जैसे मन काल्पनिक चेतना (ideational consciousness) के स्तर तक उठता है—अर्थात् जैसे-जैसे यह वस्तुओं पर उनकी अनुपस्थिति में कल्पना करने की शक्ति उपार्जित करता है—यह अनेक स्थायीभावों का निर्माण कर सकता है। किन्तु, मन के स्वभाव से ही, इन्हें 'भिन्नता में एकता' के नियम का पालन करना होगा। ठीक जिस प्रकार कि केपलर (Kepler) के तीन प्रसिद्ध गृहीय गति (planetary motion) के नियम, न्यूटन (Newton) के सार्वत्रिक गुरुत्वाकर्षण के नियम (law of universal gravition) में सम्मिलित थे, और न्यूटन का नियम आइन्सटाइन (Einstein) के वृहत्तर सामान्यीकरण में सम्मिलित है, जिस समस्त प्रक्रिया से हमें वैज्ञानिक नियमों का सोपानक्रम (hierarchy) मिलता है, इसी प्रकार स्थायीभाव एक प्रमुख स्थायीभाव के अन्तर्गत शनैः शनैः अपने को एक सोपान-क्रम में संगठित कर लेते हैं। और ठीक जिस प्रकार भौतिक-शास्त्र के वृहत्तर सामान्यीकरण में न्यूनतर नियमों को, जिनकी सत्यता ज्ञात है, सम्मिलित करने की क्षमता होनी चाहिए, उसी प्रकार प्रधान स्थायीभाव में अन्य भावों को सम्मिलित करने की क्षमता होनी चाहिए।

वास्तव में, कोई भी साधारण स्थायीभाव (ordinary sentiment) प्रधान स्थायीभाव (master sentiment) का स्थान लेने की क्षमता नहीं रखता। उदाहरणार्थ, खेल के लिए मेरे स्थायीभाव में किसी व्यक्ति विशेष के प्रति प्रेम का स्थायीभाव कठिनाई से ही सम्मिलित होगा। यथार्थ में दोनों एक-दूसरे में सम्मिलित होने की अपेक्षा एक-दूसरे के विरुद्ध ही होंगे। केवल एक स्थायीभाव में स्वभावतः अन्य सबको सम्मिलित करने की क्षमता है; यह है आत्म-प्रतिष्ठा का स्थायीभाव,

जिसमें कि समस्त मूलप्रवृत्तियाँ तथा स्थायीभाव—सामान्यतया चेष्टामूलक प्रवृत्तियाँ—आत्म के भाव के गिर्द सम्मिलित हैं। यदि मैं आत्म को किन्हीं संवेगों का अनुभूति-कर्त्ता तथा किन्हीं स्थायीभावों का धारणकर्त्ता स्पष्टतया विचार कर सकता हूँ, तो मैं एक आत्म-भाव का निर्माण कर सकता हूँ जो कि मेरे मानसिक जीवन में एकता का सिद्धान्त बन जायगा।

आत्म (self) का यह प्रत्यय (विचार) किस प्रकार विकसित होता है? आत्म-चेतना (self-consciousness) किस प्रकार प्रारम्भ होती है? यह एक ऐसा प्रश्न है जिसके सम्बन्ध में आत्म की कल्पना में आध्यात्मिक समस्याएँ सम्मिलित होने के कारण, बड़ा रहस्य बरता जाता है। किन्तु शिक्षा मनोवैज्ञानिक को 'अहं' (ego) की प्रकृति पर विचार करने की आवश्यकता नहीं है, चाहे, उदाहरणार्थ, यह एक केन्द्र है या विश्लेषण का निवारण करने वाली सत्ता है, अथवा प्रत्येक आत्म अपने निजी अनुभवों का योग मात्र है। उसके लिए आत्म (self) केवल अनुभव का एक विषय है। जैसा कि हम पहले देख चुके है, जानना, अनुभूति करना तथा संकल्प करना उससे प्रथक् नहीं हो सकते जो कि जानता है, अनुभूति करता है तथा संकल्प करता हे। इस प्रकार मेरा आत्म वह अस्तित्व है जो कि मेरे अनुभवों को अनुभव करता है। मुझे इसका बोध किस प्रकार होता है? हमें ज्ञात होना चाहिए कि हम आत्म की चेतना के बिना भी चेतनाशील हो सकते हैं। कदाचित् एक कुत्ते अथवा बहुत छोटे बच्चे को, बिना इस परिणाम पर पहुँचे कि 'मुझे पीड़ा का अनुभव हो रहा है' और अपने को उस अनुभव का धारण-कर्त्ता विचारे बिना, पीड़ा की अनुभूति होती है। जब हम अर्द्ध-सुषुप्त दशा में होते हैं, तो हमारी चेतना आत्म-चेतना के स्तर तक नहीं उठती। उदाहरणार्थ, दाँत का दर्द धीरे-धीरे बढ़

सकता है, और उसके एक स्तर तक पहुँचने पर ही मैं दुखी होकर कहता हूँ, "मेरे दाँत में फिर दर्द होने लगा।" उस अवस्था तक पहुँचने से पूर्व पीड़ा कदाचित् मेरे अनुभव का एक अङ्ग थी, किन्तु मैं तब तक अपने को उसका घटक (subject) नहीं मानता था।

अनुभव के घटक (subject) के रूप में आत्म की स्पष्ट चेतना, मस्तिष्क के सामाजिक तथा वैयक्तिक विकास में एक विशिष्ट प्रकार की स्थापना करती हैं। मनुष्य में यह बाल्यकाल में उदित हो जाती है; इस प्रकार इसकी उत्पत्ति के सम्बन्ध में कोई बात प्रायोगिक अथवा परिकल्पनात्मक स्वरूप की ही होगी। इस प्रक्रिया में हम केवल कुछ सम्भावित तत्त्वों (factors) का ही विभेदन करने की आशा कर सकते हैं।[1]

एक अत्यन्त महत्त्वपूर्ण तथ्य निश्चय ही यह विभेद होगा कि बच्चा "वृहत्, विकसित, भ्रांत अव्यवस्था" ("big, blooming, buzzing confusion") को अपने मन में एक व्यवस्थित रूप देने के प्रयत्न में अपना स्वयम् का प्रत्येक अन्य वस्तु से अन्तर करना सीखता है। उसके अनुभव के ये सब लक्षण जो कि बाह्य संसार के साथ सम्बन्ध में नहीं आते, उसके आत्म के विचार का बीजकेन्द्र (nucleus) बनाने के लिए शेष रह जाते हैं। इस प्रक्रिया में, निस्सन्देह, भाषा उसकी सहायता करती है, उसका खुद का नाम एक सहारे का काम करता है जिससे वह अपने को साधता है तथा अन्य वस्तुओं से अपना स्वयम् का अन्तर करता है। जब वह कहता है "मुन्ना यह करो" तो कम से कम उसने स्वयम् को अभिकर्ता (agent), एक प्रयत्नकर्ता (striver), एक अनुभूतिकर्ता (feeler) के रूप में सोचना प्रारम्भ कर दिया है।

1 See McDougnll : An Outline of Psychology pp. 426 et seq.

उसका खुद का शरीर एक विशिष्ट स्थिति में होता है, क्योंकि एक अर्थ में वह स्वयम् उससे बाहर होता है और दूसरे अर्थ में स्वयम् अपना ही एक भाग होता है। एक सीमा तक उसी स्वयम् की इन्द्रियाँ और अवयव, बाह्य संसार के उपकरणों, खिलौनों अथवा अन्य वस्तुओं के समान हैं, किन्तु निकट के अर्थों में वे उसीकी हैं; वे सदा उसके साथ हैं, उन्हें वह अन्य चीजों की अपेक्षा अधिक सरलता से नियंत्रित करता है; और वे सुख तथा पीड़ा के स्थल हैं। इसलिए सर्व प्रथम विभेद करना जो वह सीखता है वह उसके स्वयम् के शरीर तथा अन्य सब वस्तुओं के मध्य है।

जब हम बच्चे को बाह्य वस्तुओं द्वारा अपने आदेशों का पालन करने की आशा करते हुए देखते हैं, तो हम यह निष्कर्ष निकाल सकते हैं कि वह इस विभेद के साथ परीक्षण कर रहा है। वह शीघ्र ही पाता है कि वस्तुएँ उसके प्रयत्नों का प्रतिरोध करती हैं तथा उसके आदेशों का पालन करने से इन्कार कर देती हैं; कि 'टेडीबेअर' (teddy bear जो एक प्रकार का खिलौना होता है) को परास्त करना व्यर्थ प्रयत्न है। किन्तु वह अपने स्वयम् के उद्देश्यों का आरोपण बाह्य वस्तुओं में करने लगता है और अपनी स्वयम् की भावना तथा प्रयत्न करने की क्षमता का उनमें प्रकल्पन करता है। हम कदाचित् सदा ही वस्तुओं को व्यक्तिरूप देते रहते हैं; बड़े हो जाने पर भी हम बजाय अपने के उन पर झुँझलाते हैं। जो भी हो; वस्तुओं के प्रथम विचार हमें स्वयं अपने से मिलते हैं, न कि स्वयम् के विचार वस्तुओं से; हमारा आन्तरिक अनुभव सदा ही मुख्य वस्तु रहता है। मनुष्य के प्रारम्भिक नररूपवाद (anthropomorphism) में हम इसी प्रवृत्ति को कार्य करते देखते हैं। अपने कार्य में आई हुई पहाड़ों, तूफ़ानों और नदियों की बाधाओं

को आदि मानव अपने समान प्राणी समझ कर उनमें देवत्व का आरोपण करता था।

विश्व में यदि केवल शिशु और जड़ वस्तुएँ ही हों, तो शिशु के मन में कदाचित् 'आत्म' के प्रारम्भिक विचार का सृजन होगा। शिशु, जिसने कि शायद अपने शारीरिक संवेदन तथा अपने सांवेगिक जीवन के जारी रहने के कारण, स्वयम् तथा अन्य सब वस्तुओं के मध्य भेद करना सीख लिया है, व्यक्तिगत साम्य की एक अस्पष्ट धारणा अर्जित कर सकता है। किन्तु आत्म का इस प्रकार का विचार मुख्यतया शरीर-सम्बन्धी होगा, जो कि सदा सब के साथ होता है, और जो कि सुख तथा पीड़ा की अनुभूति के स्थल के रूप में, विशेष महत्त्व का है।

वास्तव में यह सामाजिक वातावरण (social environment) है जो कि बढ़ते हुए बच्चे में आत्म का पर्याप्त विचार विकसित करता है। बच्चा, मनुष्यों, तथा वस्तुओं के मध्य दूसरा बड़ा विभेद करना किस प्रकार सीखता है ? यह निश्चित है कि वह इसे अपने लिए रुचि का विषय बना लेता है। मनुष्य तथा वस्तुएँ उस पर भिन्न प्रकार से प्रभाव डालती हैं; मनुष्य आवाज करता है, चलता-फिरता है, अपनी भौतिक आवश्यकताओं की पूर्ति करता है और अपने आराम की पूर्ति करता है, और वस्तुएँ जड़ और स्थिर रहती हैं।

हमने अभी देखा है कि वह किस प्रकार स्वयम् अपनी भावनाएँ तथा अपनी इच्छाएँ वस्तुओं में प्रक्षेपित करता है; वह यही प्रक्रिया मनुष्य में लागू करता है और बहुत अधिक संतोषजनक परिणाम प्राप्त करता है। प्रकृति ने उसे अपने गिर्द व्यक्तियों की मुखाकृतियों, आवाज़ों और कियाओं की नकल करने की प्रेरणा प्रदान की है, और उसकी नकल करने की क्रियाएँ कुछ सीमा तक उपयुक्त संवेगों सहित होती हैं। इस प्रकार, स्वयम् अपने

अनुभव के रूप में वह अपनी और अन्य लोगों के दृष्टिकोण को समझना सीखता है। पुनः अपने खेल में वह स्वयम् को विभिन्न व्यक्तियों के रूप में प्रकल्पन करता है (projects), और इस तरह अन्य व्यक्तियों के व्यवहारों तथा प्रयोजनों को अधिक अच्छी प्रकार समझता है। जब एक छोटी लड़की अपनी गुड़िया की परिचर्या करती है अथवा अपने शिशु भाई को दुलारती है तो वह अपनी माँ का स्वयम् अपनी ओर दृष्टिकोण सीख रही है। अनुकरण तथा प्रक्षेप (प्रकल्पन) की इन प्रक्रियाओं से बच्चे का मानसिक जीवन समृद्ध होता है और वह अपने को आसपास के लोगों की तरह समझने में समर्थ होता है।

अब कुछ-कुछ यह समझने लगने पर कि प्रशंसा, बुराई, फटकार, दण्ड, सांत्वना क्या हैं, वह अन्य लोगों का अपने प्रति दृष्टिकोण समझने लगता है, तथा स्वयम् को सामाजिक परिस्थितियों के संदर्भ में जैसा कि अन्य उसे देखते हैं, देखने लगता है। सब शिक्षकों को यह जानना चाहिए कि बच्चा अपने सम्बन्ध में औरों के विचारों को स्वीकार करता है और वे उसके आत्म के विचार का एक महत्त्वपूर्ण अंग बन जाते हैं। वह बच्चा जिससे बराबर यह कहा जाता है कि वह शैतान है शीघ्र ही शैतानी को अपने चरित्र का अंग स्वीकार कर लेगा और तदनुसार व्यवहार करेगा। प्रौढ़ भी अपना आत्म-सम्मान खो बैठते हैं जब कि स्पष्ट-वादी मित्र उनके रूप और व्यवहार के सम्बन्ध में निरन्तर प्रतिकूल बातें कहते हैं।

जैसे-जैसे अन्य व्यक्तियों के सम्बन्ध में आत्म का विचार उनसे अन्तर्क्रिया के परिणाम स्वरूप स्पष्ट होता जाता है, आत्म-भाव (self-sentiment) निर्मित होना प्रारम्भ होता जाता है। ठीक जिस प्रकार खेल के विचार के गिर्द एक भाव संगठित हो सकता है, उसी प्रकार सृजित आत्म के विचार के गिर्द सांवेगिक जीवन का एक व्यापक संगठन निर्मित हो सकता है। जब तक

कि आत्म का विचार स्पष्ट न हो, आत्म-भाव (self-sentiment) एक सुस्पष्ट रूप धारण नहीं कर सकता। मुझ में एक सबल आत्म भाव होने के लिए कुछ मूलप्रवृत्तियाँ तथा भाव होने चाहिए। भावों का कोई भी सोपानक्रम जो कि विद्यमान है, आत्म-भाव के शासनाधिकृत होगा, आत्म-भावों तथा मूलप्रवृत्तियों का संश्लेषण है; आत्म सब का समन्वयकर्त्ता है।

चरित्र तथा संकल्प के प्रश्नों पर आगे विचार करने से पूर्व हमें नैतिक स्थायीभावों (moral sentiments) का उल्लेख करना होगा। किसी भी ऐसी चीज़ के लिए जो कि विचार का विषय हो सकती है, एक भाव उपार्जित करना सम्भव है, और इसलिए जब कि हम न्याय, सत्य, सदाचार तथा पवित्रता की धारणाएँ बोधित करने में सफल होते है तो उनके प्रति हममें प्रेम-भाव हो सकता है। इसी प्रकार अन्याय, असत्य, अथवा दुराचार के प्रति घृणा के पूरक भाव हो सकते है। मेकडूगल ने बतलाया है कि नैतिक भाव द्विध्रुवीय (bipolar) हो जाते है; जब हम में किसी भी नैतिक गुण के प्रति प्रेम का भाव होता है, तो उसके विपरीत के लिए हम में घृणा का भाव हो जाता है। फिर भी सत्य के प्रति प्रेम वही वस्तु नहीं है जो कि झूठ के प्रति घृणा, क्योंकि हमारे जीवन में घृणा की अपेक्षा प्रेम कहीं अधिक फलीभूत होता है। "प्रेम, चूँकि वह अपने पात्र के गुणों की खोज करने और उन्नत करने को मनुष्य को प्रेरित करता है, वृद्धि और विस्तार का सिद्धान्त है; घृणा, चूँकि उसका उद्देश्य अपनी वस्तु के प्रति सम्बन्धों को नष्ट करना है, अवश्य ही निष्फल सिद्ध होगी।"[1]

नैतिक भाव किस प्रकार उपार्जित किये जाते है ? वे निश्चय ही सामाजिक जीवन की उपज है। यह जानना कठिन है कि

1 Nunn : Education : Its Data aud First Prlnciples, p. 165.

एकान्त में रहता हुआ व्यक्ति कौन-से नैतिक स्थायीभाव उपार्जित कर सकता है। प्रथम तो समस्त नैतिक गुणों के सम्बन्ध में विचार करने के लिए हमें भाषा की सहायता की आवश्यकता है; हमें उनके विषय में होने वाली बातचीत सुनने की आवश्यकता है। कुछ राष्ट्रों तथा समाजों में अनेक नैतिक स्थायीभाव परम्परागत होते हैं; उदाहरणार्थ, साहस तथा न्यायप्रियता अँग्रेज जाति की विशेषताएँ बतलाई जाती हैं। बच्चा जैसे-जैसे समाज में बढ़ता है, वह उसके परम्परागत भावों को अर्जित करता जाता है; किन्तु किस प्रकार? जैसा मेकडूगल का कहना है[1], "बच्चे के नैतिक भाव सहानुभूतिपूर्ण सम्पर्क तथा प्रशंसित व्यक्तियों के सूचन (suggestion) से मुख्यतया निर्मित होते है।" स्थायी भावों का सृजन मूर्त विशिष्ट (concrete particular), मूर्त सामान्य (concrete general), तथा अमूर्त (abstract) के क्रम का अनुशीलन करता है। बच्चा अपने वातावरण में किसी व्यक्ति विशेष के प्रति प्रेम विकसित करता है—यह मूर्त विशिष्ट भाव (concrete particular sentiment) है; उस भाव को वह विस्तारित करके उन सब व्यक्तियों को सम्मिलित करता है जो पहले व्यक्ति की तरह हैं—अब यह मूर्त सामान्य भाव (concrete-general-sentiment) है; अन्त में वह उस गुण के प्रति भाव विकसित कर सकता है, जो कि इन व्यक्तियों में है—और यह अमूर्त भाव (abstract sentiment) है। वह साहसी व्यक्ति से प्रेम कर सकता है, फिर वह समस्त साहसी व्यक्तियों से प्रेम करेगा और अंत में वह साहस स्वयम् से प्रेम करने लगेगा।

शिक्षक के लिए यह जानना आवश्यक है कि नैतिक स्थायीभाव सामान्यतः इसी प्रकार निर्मित होते हैं, तथा बच्चे के इर्द-

1 An Outline of Psyehology; p 435.

गिर्द ऐसे गुणों के उदाहरण होने चाहिएँ जो कि हम उस में विकसित होते देखना चाहते है। तरुण होने पर वह इतिहास अथवा साहित्य के पृष्ठों में अपने नायक देख सकता है, और मर्यादा पुरुषोत्तम राम, महात्मा बुद्ध या गाँधी जी के दृष्टांत उसको स्वयम् में उच्च नैतिक गुण विकसित करने में समर्थ कर सकते हैं। यह तथ्य कि गांधीवाद की शक्ति उसके प्रवृत्तक के व्यक्तित्व पर निर्भर है, स्पष्ट रूप से इस बात को प्रमाणित करता है कि नैतिक गुण उस व्यक्ति के प्रति प्रेम होने से प्रारम्भ होते हैं जिसमें कि ये गुण मौजूद हों।

इन नैतिक स्थायीभावों के अर्जन, उन पर उसकी प्रतिच्छाया तथा आत्म-भाव में उनका समावेश नैतिक शिष्टता है। यदि मैं स्वयंको न्याय, सत्य तथा पवित्रता का प्रेमी समझता हूँ, तो मैं सम्भवतः इन नैतिक गुणों को अपने दैनिक जीवन में प्रदर्शित करूँगा। परन्तु इन मामलों पर चर्चा करते समय वास्तविकता तथा अभिलाषा में अन्तर करना वांछनीय प्रतीत होता है। मेरा आत्म-भाव, आत्म के विचार के गिर्द, मेरे अन्दर के समस्त स्थायी भावों का संघटन है। परन्तु ऐसे भी तो नैतिक स्थायीभाव हो सकते हैं जो मुझ में दृढ़ रूप से उपस्थित नही हैं किन्तु जिनकी मैं अभिलाषा करता हूँ। ऐसे स्थायीभावों को आदर्श कहा जा सकता है, और हम एक ऐसे आदर्श आत्म की कल्पना कर सकते है जो कि उन्हें आत्मसात (embody) करेगा, और ऐसी कल्पना के गिर्द एक स्थायीभाव निर्मित करेगा। जितना अधिक हम इस आदर्श आत्म के प्रति प्रेम करते है, उतना ही हमारे इसे प्राप्त करने की सम्भावना है। यदि हम इसकी कल्पना स्पष्ट रूप से करते हैं और इसकी प्राप्ति का प्रयत्न करते है तो हम नैतिक उत्थान के उच्चतम स्तर की ओर पहुँच रहे हैं।

अब हम चरित्र की प्रकृति समझ सकते हैं जो कि समस्त

शैक्षिक प्रयत्न का ध्येय है, चरित्र संगठित आत्म (organised self) है—हमारी मूलप्रवृत्तियों तथा भावों का मुख्य स्थायी भाव में संघटन है। इस संघटन के सघन तथा व्यापक होने पर चरित्र दृढ़ होगा; जब इसमें ढील होगी—जब बिखरी हुई, असंगठित मूलप्रवृत्तियाँ तथा भावनाएँ आत्म से न्यूनाधिक स्वतन्त्र रूप से कार्य करेंगी—तो चरित्र निर्बल होगा। किन्तु उच्च नैतिक चरित्र इससे अधिक है, इसमें एक आदर्श आत्म की धारणा के अन्तर्गत संघटित नैतिक स्थायी भाव और आदर्श आत्म सम्मिलित हैं।

किन्तु चरित्र पूर्णतया पोषण का परिणाम नहीं है। इसमें सन्देह नहीं है कि व्यक्ति अपेक्षाकृत विभिन्न परिमाण में स्वभावतः मूलप्रवृत्तियों से प्रदत्त होते हैं और ये विभिन्नताएँ अवश्य ही चरित्र में विभिन्नता उपस्थित करती हैं। इसके अतिरिक्त, हम में स्वभाव की दृष्टि से चरित्र का दूसरा नैसर्गिक आधार है। स्वभाव (temperament) एक नैसर्गिक मानसिक गुण है जिसका मुख्यतः एक भौतिक आधार है; आधुनिक मनोविज्ञान यहाँ तक मध्यकालीन दार्शनिकों से सहमत हैं जिन्होंने स्वभाव की विभिन्नताओं को शरीर की विविध धातुओं की मात्रा के परिणाम-स्वरूप बतलाया है—दस्तावर (choleric), रेचक (phlegmatic), उदास (melancholic), विश्वासयुक्त (sanguine)। यह ज्ञात है कि शारीरिक तन्तुओं (tissues) में चलते रहने वाले रासायनिक परिवर्तन स्नायु-प्रणाली को, और इसलिए मानसिक प्रक्रियाओं को प्रभावित करते हैं; पाचन तथा पेशीय (muscular) क्रियाएँ हमारे मानसिक जीवन को प्रभावित करती हैं। स्वयं स्नायु-प्रणाली के कार्यापन की विधि नैसर्गिक रूप से ही निर्धारित होती है। और विनाल ग्रन्थियों (ductless glands) के स्राव जैसे कि कंठ-ग्रन्थि (thyroid),

व्यक्ति के मन पर गहरा प्रभाव डालते है। इस प्रकार के शारीरिक तथ्य लगभग पूर्णतः वंशानुक्रम द्वारा निर्धारित होते है, यद्यपि उन पर आहार एवं औषधियों से प्रभाव डाला जा सकता है; और मानसिक जीवन में उनकी महत्ता के विषय में कोई सन्देह नही कर सकता। यद्यपि वे हमारे चरित्र पर प्रभाव डालते है, तथापि उसका स्वरूप निर्धारित नही करते। प्रत्येक स्वस्थ-मनस्क व्यक्ति के लिए एक उच्च नैतिक चरित्र सम्भव है। स्वभाव की नैसर्गिक विभिन्नताएँ केवल वैयक्तिकता का आधार है—वे ईटें जिनके द्वारा चरित्र की रचना की जा सकती है।

संकल्प (will) की प्रकृति के सम्बन्ध में उठने वाली समस्याएँ मनोविज्ञान तथा नीतिशास्त्र की कुछ कठिनतम समस्याओं में से हैं। यह कहना सही नही होगा कि यहाँ इन समस्याओं का कोई सुगम समाधान दिया जा रहा है, किन्तु मेकडूगल का अनुसरण करके हम संकल्प को अपने सवेगों तथा मूलप्रवृत्तियो के सिन्द्धान्तों से लाभपूर्वक सम्बन्धित कर सकते है। मेकडूगल के वर्णन को शिक्षक अवश्य ही एक क्रियाशील परिकल्पना के रूप में ले सकता है। संकल्प-शक्ति की मुख्य समस्या एक शब्द मे कही जा सकती है। यह किस प्रकार होता है कि अपेक्षाकृत दुर्बल नैतिक स्थायीभाव उन मूलवृत्तियों पर विजय पा सकते है जिनकी कि समस्त वंशानुगत शक्ति आदती अभिव्यक्ति के स्रोतों मे केन्द्रित होती है? क्योंकि, वास्तव में, इन प्रेरणाओं के बावजूद भी, नैतिक भाव बहुधा विजयी होते है। इन तथ्यों को विलियम जेम्स (William James) ने गणित रूप में व्यक्त किया है:[1]

केवल आदर्श आवेग, < सहज प्रेरित प्रवृत्ति,

किन्तु आदर्श आवेग + अ, > सहज प्रेरित प्रवृत्ति,

[1] The Principles of Psychology, Vol, ii, P. 549.

Ideal impulse *Per Se* <Instinctive prospensity but Ideal impulse + E > Instinctive prospensity जहाँ अ परिस्थिति पर प्रभाव डालने वाली अतिरिक्त गतिशीलता (extra dynamic) है—दूसरे शब्दों में संकल्प (will) है। इस अ की क्या प्रकृति है ?

अनेक विचारक अ को एक अज्ञात परिमाण रहने देने में ही सन्तुष्ट रहे हैं। आजकल एक महत्त्वपूर्ण विचारधारा है जिसके समर्थक मानव व्यवहार को एक सीमा तक यांत्रिक मानते हैं, उनके विचार में संकल्प (will) एक अतिरिक्त शक्ति (faculty) है, जो आपत्तिक क्षणों (critical moments) में, मन के यांत्रिक व्यवहार का अतिक्रमण करके, क्रियाशील हो जाता है। किन्तु यह दृष्टिकोण गैर-जीवशास्त्रीय प्रतीत होता है क्योंकि इसमें मानव तथा पशु जीवन के मध्य एक गैर-निरन्तरता सन्निहित है। स्थायीभावों तथा आत्म-स्थायीभाव में इसकी व्याख्या ढूँढ़ना अधिक लाभप्रद होगा, जैसा मेकडूगल ने किया है। नैतिक भाव तथा मूलप्रवृत्ति के मध्य होने वाले असमान संघर्ष में जो चीज पलड़ा पलट देती है वह है यह इच्छा कि मैं, मेरा आत्म, क्रिया में आचरण के उस आदर्श को प्राप्त करूँगा जिसे कि मैं अपने आदर्श आत्म का भाग समझता हूँ। दूसरे शब्दों में, अतिरिक्त गतिमान आदर्श आत्म का समस्त स्थायीभाव है जिसका कि प्रभाव परिस्थिति पर डाला जा रहा है। तो संकल्प यह स्थायीभाव है जो आत्म का उच्चतम संगठन है, जो क्रियाशील हो रहा है; यह है "संगठित आत्म अपने गतिमान पहलू में;" यह क्रियारूप में चरित्र है। वह कोई नवीन उनसे असम्बद्ध रहस्यमयी शक्ति नहीं है जो वास्तव में वैयक्तिक मूल प्रवृत्तियों पर विजय पाती है, अपितु वह स्थायीभावों में संगठित

स्वयम् मूलप्रवृत्तियाँ हैं तथा ये स्थायीभाव स्वयं एक सुदृढ़ आत्म में संगठित हैं। शक्ति का रहस्य है संगठन में, "विभिन्नता में एकता" की स्थापना में।

संकल्प का यह दृष्टिकोण सामान्य भाषा पर विचार करने से स्पष्ट हो जाता है। जैसा कि नन (Nunn) ने बतलाया है,[१] किसी पिन को उठा लेना महज सफाई के भाव से प्रेरित हो सकता है, अथवा इस अन्ध-विश्वास के कारण कि इसे उठा लेने से दिवस कल्याणमय होगा। यदि कोई आकर मेरे पिन उठाने के अधिकार को चुनौती देता है तो मैं कहता हूँ, "मैं उस पिन को उठाऊँगा" और उसे उठा लेता हूँ। शब्द 'मैं' का आशय है कि मेरा समस्त आत्म उस क्रिया पर केन्द्रित हो गया है; तब तक मेरे लिए कोई संकल्प नहीं हो सकता जब तक कि मैं संकल्प न करूँ। इसी प्रकार का विश्लेषण हम उस उत्कृष्ट मनोवैज्ञानिक कृति, 'अपव्ययी पुत्र' (Prodigal Son) की कहानी पर लागू कर सकते हैं। अपनी निम्नतर मूलप्रवृत्तियों के प्रभाव में रहने के पश्चात् "जब लड़का अपने वास्तविक रूप में आया," तो उसने कहा "मै उठूँगा और अपने पिता के पास जाऊँगा।" जैसा कि हम सामान्य बातचीत में कहते हैं, "उसने अपनी शक्तियों को एकत्रित कर लिया है, "जिसका मनोवैज्ञानिक भाषा में अर्थ है कि उसमें नैतिक भावों का जो भी संघटन था, उसका उसने परिस्थिति पर प्रभाव डाला है, और उसका संकल्प, चाहे कितना निर्बल क्यों न हो, उसकी मूलप्रवृत्तियों तथा उसके दर्प (pride) पर विजयी हुआ है।

इस प्रकार चरित्र तथा संकल्प की दृढ़ता चेष्टामूलक प्रवृत्तियों (conative tendencies) के संघटन की व्यापकता पर निर्भर है। जहाँ भी हम ऐसा कर सकते हैं, हम इन प्रवृत्तियों को अपने आदर्श आत्म से समीकृत (identify) करते हैं, जहाँ

हम ऐसा नहीं कर सकते, हम उनका मूल्यांकन करते हैं तथा उन्हें मुख्य-भाव के अधीन रखते हैं। आत्म-सम्मान सर्वाधिक महत्त्व का है; जब यह समाप्त हो जाता है तो चरित्र नष्ट-भ्रष्ट हो जाता है तथा संकल्प निर्बल हो जाता है, और इसका पुनः संस्थापन ही चरित्र को पुनः संकलित कर सकता है।

उपर्युक्त चर्चा स्पष्ट ही शिक्षक के लिए महत्त्व रखती है, क्योंकि इसमें चरित्र तथा संकल्प के प्रशिक्षण (training character and will) का प्रश्न उठाया गया है। फिर, अध्याय के प्रारम्भ में शारीरिक आदतों के सम्बन्ध में हमारी टिप्पणियाँ प्रवीणता के प्रशिक्षण (training in skill) का प्रश्न उठाती हैं। अब हम इन विषयों पर बहुत संक्षिप्त रूप से विचार करेंगे।

चरित्र का विकास मूलप्रवृत्तियों के उत्कर्षण, स्थायीभावों, विशेषकर नैतिक स्थायीभावों के निर्माण में तथा इन्हें एक दृढ़ आत्म में संयोजित करने में है। वांछित गुणों का स्वयं दृष्टान्त बन कर तथा उन्हें अपेक्षित आदर्श मानकर शिक्षक उत्कृष्ट स्थायीभावों के विकास को प्रेरित करने की दिशा में बहुत कुछ कर सकता है। उदाहरणार्थ, यह सिद्ध हो चुका है कि यदि बच्चों को केवल एक ही कार्य के सम्बन्ध में साफ़ रहने का प्रशिक्षण दिया जाय तो वे अन्य कार्यों में साफ़ नहीं रहेंगे; किन्तु यदि सफाई उन्हें एक आदर्श के रूप में सिखाई जाय, तो उस प्रशिक्षण का एक काम से दूसरे काम में विस्तार होगा तथा सफाई के लिए एक स्थायीभाव का निर्माण हो जायगा। स्थायीभाव आदत-जन्य क्रिया द्वारा दृढ़ होते हैं, और, निर्मित हो जाने पर, संगत आचरण (cnsistent coonduct) का आधार बनते हैं। वास्तव में, यह संगतता ही स्थायीभाव के निर्माण की कसौटी है।

1 Education : its Data and First Principles, p. 199.

भावों को एक दृढ़ आत्म में संघटित करने के लिए, आत्म का बोध सुस्पष्ट होना चाहिए। इसमें सन्देह नहीं है कि बच्चे के व्यक्तित्व का आदर करने वाला आधुनिक शिक्षा-सिद्धान्त उसे स्वयम् अपने तथा अपनी शक्तियों के सम्बन्ध में स्पष्ट बोध देता है। जब कि शिक्षक अपने शिष्यों से एक पूर्वविचारित लकीर पर चलने की आशा छोड़कर उन्हें स्वयम्-निर्माण में प्रोत्साहित करेंगे, तो हम चरित्र-निर्माण की कला में एक बड़ी प्रगति की आशा कर सकते हैं।

अब प्रत्येक अच्छी पाठशाला चरित्र-प्रशिक्षण की समस्या पर गम्भीर रूप से ध्यान देती है। इस कार्य में वह अपने यहाँ की परम्परा, अपने 'सांघिक जीवन', अपने खेल, अपने शिक्षण, तथा अपने शिक्षकों के प्रभाव को साधन के रूप में प्रयुक्त कर बृहत् वैयक्तिक तथा सामाजिक महत्ता की भावनाएँ घोषित करने में सफल होती है जो कि संगठित न होने पर एक सन्तोषजनक चरित्र में प्रतिफलित होता है। परन्तु इसका अर्थ यह नहीं है कि यह चरित्र इस क्रम में अनिवार्य रूप से एक दृढ़ संकल्प (strong will) की स्थापना करता है। ऐच्छिक निर्णय की विशिष्ट शक्ति में प्रशिक्षण देना एक विशेष समस्या है जिसकी अच्छी पाठशालाओं में भी उपेक्षा हो जाती है।

यह जानना सहायक है कि संकल्प (will), चूँकि यह क्रिया रूप में चरित्र है, समस्त मानसिक जीवन के तीन पहलू प्रदर्शित करता है—चेष्टा (conation), भावनावस्था (affect) तथा ज्ञान (cognition)। स्वभावतः संकल्प की क्रिया में चेष्टा-सम्बन्धी पहलू सब से अधिक महत्त्वपूर्ण है, क्योंकि चेष्टा करना ही उच्चतम स्तर पर प्रयोजन या प्रेरणा (horme) है; परन्तु इससे हमें अन्य पहलुओं की महत्ता को उपेक्षित नहीं कर देना चाहिए। भावनावस्था के पहलू का अध्ययन हम मूल-

प्रवृत्तियों और उनके अनुगामी संवेगों का स्थायीभावों में स्थायी-भावों का आत्म में संगठन वर्णित करते समय कर चुके हैं, तथा इसमें बिना इस प्रकार के संगठन के संकल्प नहीं हो सकता। संकल्प के किसी कार्य की प्रबलता इस बात पर निर्भर है कि ये संगठित मूलप्रवृत्तियाँ तथा स्थायीभाव किस सीमा तक संतुष्टि पाते हैं। ज्ञान-सम्बन्धी पहलू का हमने बहुत थोड़ा वर्णन किया है, परन्तु यह भी एक आवश्यकीय तत्त्व है। उनके उद्देश्यों की धारणा के बिना हम स्थायीभावों का निर्माण नहीं कर सकते, और आत्म के विषय में स्पष्ट धारणा के बिना हम में आत्म-भाव नहीं हो सकता। संकल्प की क्रिया के परिणाम का स्पष्ट भान किये बिना हम प्रभावपूर्ण रूप से संकल्प भी नहीं कर सकते, उस पर विचार करके और अपने प्रयोजनों के योग से उसे सम्बन्धित करके; फिर संकल्प की क्रिया के स्वभाव से ही हमें इस की प्राप्ति के साधन विचारने चाहिए। उद्देश्यों और साधनों के इस विचार करने में एक विशिष्ट बुद्धिमूलक तत्त्व है।

तो, यह मान लेने पर कि संकल्प-प्रशिक्षण (will training) में उपर्युक्त तीनों पहलुओं में से किसी की भी उपेक्षा नही की जा सकती, हम प्रत्येक पर प्रथक् रूप से विचार कर सकते हैं। स्थायीभावों तथा आत्म के निर्माण में हम प्रभावपूर्ण पहलू का अध्ययन कर चुके हैं। स्थायीभावों का दृढ़ीकरण उनके सम्बन्ध में बात कर के नहीं, अपितु उन्हें कार्य रूप में परिणत होने देने से सर्वोत्तम प्रकार से होता है। नैतिक वार्ता में सरलता से अति की जा सकती है, तथा प्रशिक्षण के भावनिक पहलू पर आवश्यकता से अधिक बल देने से भावाधीनता (sentimentality) आ जाती है। क्योंकि स्वयम् एक स्थायीभाव के लिए एक नवीन भाव का विषय बन जाना सरलता से सम्भव है; उदा-

हरणार्थ, कोई व्यक्ति स्वयम् अपने देश-प्रेम पर ही मुग्ध हो सकता है और उसे बनाये रखने के लिए उसे पोषित कर सकता है।

संकल्प-प्रशिक्षण के ज्ञान-सम्बन्धी पहलू की भी उपेक्षा नही की जानी चाहिए। बौद्धिक शक्तियों के विकास के साथ-साथ बच्चे को यह सोचने में भी प्रशिक्षित करना चाहिए कि उसके कार्यों का परिणाम क्या होगा तथा उसके समस्त जीवन से वे किस प्रकार सम्बन्धित है—अर्थात् कार्य करने से पूर्व उसे परिणाम के विषय मे सोच लेना चाहिए। उसे क्षणिक लाभ नहीं, अपितु स्थाई लाभ के विषय मे सोचना चाहिए। यदि वह आवेग तथा उसकी प्रतिक्रिया (response) के मध्य विलम्ब करना सीख जाता है, तो उसके आत्म-नियन्त्रण की शक्ति दृढ़ होती है तथा प्रलोभन की अवहेलना वह अच्छी प्रकार कर सकता है। यहाँ हमे इस बात की सत्यता प्रमाणित होती है कि "क्रोधयुक्त शब्द कहने से पूर्व दस तक गिनती गिन लीजिए।" किन्तु, पुनः सोचने के प्रशिक्षण मे अति की जा सकती है। हम सब हेमलेट (Hamlet) के प्रकार के व्यक्तियों को जानते है जो कि अत्याधिक सोचते है, जो कि कोई निर्णय नही कर सकते और सदा यह कहते रहते है, "दूसरी ओर, इस पर भी विचार करना है।" ऐसे व्यक्ति सर्वोच्च नैतिक चरित्र के हो सकते है, किन्तु कार्य में वे निर्बल तथा अप्रभावी होते है।

चेष्टा-सम्बन्धी पहलू पर, जो सबसे महत्त्वपूर्ण है, बहुधा स्कूलों में ध्यान नही दिया जाता है। संकल्प को मुख्यतः उपयुक्त दशाओं के अन्तर्गत ही, अभ्यास करा कर प्रशिक्षित किया जाता है। यदि हम अपने शिष्यों में संकल्प-शक्ति का विकास करना चाहते हैं, तो हम को उन्हें स्वयं अपना निर्णय करने के अवसर देने चाहिएँ, ऐसी परिस्थितियाँ प्रदान करनी चाहिएँ जिससे कि वे स्वयं निर्णय कर सकें तथा अपने उत्तरदायित्व पर कार्य

कर सकें। स्व-प्रशासन तथा वैयक्तिक कार्य-सम्बन्धी समस्त वास्तविक प्रयोग इस बारे में अच्छे हैं, क्योंकि वे शिष्यों को उत्तरदायित्व प्रदान करते हैं। अब हम इस बात की अनुभूति कर रहे हैं कि बच्चों के लिए उनका निर्णय कर के और स्वयं उनकी अनुभवहीनता के प्रभावों से उनकी अत्यधिक रक्षा करके हम सर्वोत्तम कार्य नहीं करते। जब, जैसा कि हम बहुधा सुनते हैं, दृढ़-संकल्प के माता-पिताओं के दुर्बल-संकल्प के बच्चे होते हैं, तो इसका कारण अभ्यास की कमी कहा जा सकता है। यह सोचना बेकार है कि एक युवक जिसे बड़ा होने तक भूलों से यत्नपूर्वक रक्षित किया जाता है संसार में अपना कार्य सफलता-पूर्वक सँभाल सकता है। ऐसी शिक्षा एकदम असफल है जो केवल एक ऐसे निषेधात्मक चरित्र (negative virtue) के व्यक्ति का निर्माण करती है जो कि भूल करने से इतना डरता है कि कभी कोई सही काम नहीं करता। इसमें सन्देह नहीं कि संकल्प-प्रशिक्षण के इस चेष्टा-सम्बन्धी पहलू में अति की जा सकती है। हम केवल दृढ़ता अथवा उतावली उत्पन्न नहीं करना चाहते। किन्तु समस्त नैतिक शिक्षण में निर्णय का अभ्यास अवश्य सफल होना चाहिए, और यदि चरित्र-प्रशिक्षण के ज्ञान-सम्बन्धी एवं भावनात्मक पहलुओं पर भी इसी प्रकार ध्यान दिया जाय तो किये गये निर्णय अन्ततोगत्वा विवेकपूर्ण और अच्छे होंगे।

अन्त में, हमें यह देखना चाहिए कि कुशल गतिविधियाँ (skilled movements) किस प्रकार प्रभावपूर्ण रीति से अर्जित की जा सकती हैं—शारीरिक यन्त्र को मन की सेवा में किस प्रकार उत्तम रूप से प्रयुक्त किया जा सकता है। हमारे समस्त जटिल कार्य, अपेक्षाकृत प्रारम्भिक मामलों में अर्जित कुशलता पर निर्भर रहते हैं। उदाहरणार्थ, एक पियानो बजाने वाला चौपिन (Chopin) की एक कठिन कड़ी को नहीं बजा सकता

जब तक कि वह स्वरों तथा अँगुलियाँ चलाने की क्रियाओं के प्राथमिक कार्य को स्वतः ही पूरा न कर सकता हो। परन्तु हम आदतों का सोपानक्रम बनाते हैं, इसलिए नहीं कि हम स्वयंगतिक (automata) बन जायँ, वरन् इसलिए कि हमारी चेतना सदा बढ़ती हुई जटिलताओं तथा कठिनाई के मामलों को व्यवहृत करने में मुक्त हो सके।

कुशलता (skill) की परिभाषा "कोई कार्य करने में सुगमता" (facility in doing something) की जा सकती है। परन्तु इस शब्द का प्रयोग जन्मजात प्रवृत्तियों की अपेक्षा अर्जित प्रवृत्तियों के लिए किया जाता है। हम तने हुए रस्से पर चलने वाले कुशल नट की चर्चा करते हैं, किन्तु कुशल पैदल चलने वाले व्यक्ति की नहीं। फिर भी, कुशल करतब का निर्माण सदा जन्मजात शारीरिक यन्त्रों के आधार पर होता है; उदाहरणार्थ, रस्से पर चलने वाले नट ने अपनी कुशलता अपने शरीर को संतुलित करने के आधार पर अर्जित की है। कुशलता के अर्जन में अनुकरण (imitation)[1] बहुत महत्त्वपूर्ण है। एक व्यक्ति दूसरे को एक कार्य करते देखता है जो वांछनीय प्रतीत होता है, और उसकी एक सामान्य कल्पना तथा उसे करने के एक साधन की एक अस्पष्ट-सी धारणा बना लेता है। तब धीरे-धीरे प्रयत्न-प्रमाद प्रक्रिया (process of trial and error) द्वारा वह उस कार्य का सफल अनुकरण करता है। प्रथम असंतुलित प्रयासों में, शारीरिक गतिविधियों का अपूर्ण समन्वय होता है जिसके कारण करतब करने में अनेक फ़ालतू कार्य हो जाते हैं। लिखना सीखने वाला छोटा बच्चा अपना सारा शरीर प्रयोग करता है तथा बहुधा अपनी जीभ बाहर निकाल लेता है; कठिन कड़ी का अभ्यास करने वाला वीणा (violin बेला) का वादक

१ देखिये अध्याय १५।

बार-बार चेहरे की तरह-तरह की आकृतियाँ बनाता है जिनका सम्बन्ध उसके वादन-कृत्य से बिल्कुल नहीं है। किन्तु जैसे जैसे कुशलता आती जाती है, भद्दी तथा अनावश्यक क्रियाएँ समाप्त हो कर, सफल गतिविधियाँ दृढ़ होती जाती हैं, तथा समस्त कृत्य को अधिकृत करने के लिए एक प्रभावपूर्ण संस्कार-भावनाग्रन्थि (engram-complex) बन जाती है।

कुशलता (skill) का परीक्षण करने में मनोवैज्ञानिक किसी उपयुक्त कार्य को चुन लेते हैं, जैसे कि यांत्रिक पहेलियों का हल करना, शीशे पर ड्राइङ्ग बनाना, टाइप करना, अथवा तार भेजना, तथा अनुवर्ती अवसरों पर कार्य-कर्त्ता के कृत्य का मूल्यांकन करते हैं। कार्य में कितना समय लगा, अथवा दिये हुए समय में कितना कार्य किया गया, यह देखा जाता है, तथा एक ग्राफ़ (बिन्दु रेखा) बना लिया जाता है। यह पाया गया है कि प्रारम्भ में व्यक्ति तेजी से सुधार करता है, यह एक तथ्य है जिसको किसी यांत्रिक परिकल्पना पर आधारित करना कठिन है। सुधार के अधिक सम्भव कारण संवेगात्मक पहलू हैं, जैसे रुचि, उत्साह तथा नवीनता की अनुभूति।

सीखने की प्रक्रिया में पठारों (plateaux) का विशिष्ट स्थान है—ग्राफ़ सपाट (flat) बन जाता है जो उस अवधि की ओर इंगित करता है जिसमें कि कृत्य में कोई प्रगति नहीं हुई। किसी समय यह विश्वास किया जाता था कि सीखने की प्रक्रिया में यह चीज सार्वभौमिक है; किन्तु समस्त प्रायोगिक साक्ष्य इस प्रकार की धारणा का समर्थन नहीं करता, क्योंकि कभी-कभी प्रगति एक लम्बी अवधि तक नियमित रूप से होती है। परन्तु समग्र अवस्था को देखते हुए, पठारों की आशा की जाती है। उनका समाधान क्या है ?

ब्रायन (Bryan) तथा हारटर (Harter) ने तार भेजने

की कला सीखने के सम्बन्ध में प्रयोग किये जो एक साधारण आदत नहीं है अपितु आदतों का एक सोपान-क्रम है जिसमें बाद की और अधिक जटिल क्रियाएँ पहली और सरलतर क्रियाओं पर आधारित हैं। सर्वप्रथम वर्ण-आदत, फिर शब्द-आदत, और अन्त में वाक्य-आदत आती है और प्रत्येक अपने पहले वाली पर निर्भर है। इन अन्वेषकों का विचार है कि जब एक पठार आता है, तो पहली आदत की पूर्णता के प्राप्त होने के पूर्व ही एक उच्चतर आदत का प्रयास किया जाता है जो पहली पर निर्भर है; और यह पठार तब तक चलता रहता है जब तक नीचे के क्रम वाली आदतें स्वयम्गतिक नहीं बन जातीं। पठार प्रतियोगी प्रणालियों के मध्य आगे-पीछे हटने के कारण हो सकते हैं; वे अनुत्साह अथवा रुचिहीनता आ जाने के कारण भी हो सकते है। यह जानना महत्त्वपूर्ण है कि, लम्बा दृष्टिकोण लेते हुए, पठारों का अर्थ आवश्यक रूप से सीखने की प्रगति में रुकावट आ जाना नहीं है। यद्यपि कुछ समय तक कृत्य में सुधार नहीं होता, हो सकता है कि सतह के नीचे संस्कार-भावनाग्रन्थियों (engram-complexes) का आवश्यक दृढ़ीकरण हो रहा हो।

यदि सीखने वाला अपनी कुशलता में सुधार चाहता हो तो उसे पठार से आगे बढ़ना चाहिए। यदि ब्रायन तथा हारटर का कथन सत्य है, तो ऐसा करने में एक महत्त्वपूर्ण पहलू उनकी निम्न-क्रम की आदतों को पूर्णता पर लाना है। किन्तु यदि वह प्रयास करता है अथवा अपने कार्य में पुनः रुचि लेने लगता है तो अग्रेतर प्रगति निश्चित है। बहुधा वह ऐसी युक्ति प्रयुक्त करता है जिसको उसके आकस्मिक प्रयासों ने सफल सिद्ध कर दिया है। परन्तु इस बात में कुछ संशय है कि अच्छी प्रणालियों का चेतन अथवा अचेतन रूप अपनाया जाना अधिक सफल होता है। शायद, जैसा कि स्विफ़्ट (Swift) का कहना है, अच्छी प्रणाली संयोग

से मिल जाती है, किन्तु प्रगति तभी होती है जब कि सीखने वाला इसे चेतन रूप से अर्थात् जानबूझ कर अपनाता है।

बहुत सम्भव है कि पठार एक से अधिक कारणों के परिणाम-स्वरूप हों, तथा उनसे आगे बढ़ने के तरीके काफ़ी भिन्न-भिन्न हों। यह सामान्य ज्ञान की ही बात प्रतीत होती है कि सीखने वाले को बुरी प्रणालियों का आदी न बनने दिया जाय, अपितु उसे अच्छी प्रणालियाँ सिखाई जायँ। हो सकता है कि प्रयत्न-प्रमाद (trial and error) पद्धति द्वारा उसे सर्वोत्तम प्रणाली न मिलने पाय तथा उसकी प्रणाली में विविधताएँ आयें ही नहीं। परन्तु एक सुझाव, यदि यह मनोवैज्ञानिक क्षण के अवसर पर दिया जाय जब उसकी आवश्यकता प्रतीत हो, तो अत्यन्त प्रभावशाली होगा। फिर, शिक्षक का एक महत्त्वपूर्ण कार्य अपने शिष्य को उस समय निरुत्साहित होने से रोकना है जब कि वह पठार पर हो, क्योंकि इस निरुत्साहन से केवल निश्चलता की अवधि में और वृद्धि होगी।

किसी भी कुशल-कार्य का अभ्यास, प्रभावपूर्ण होने के लिए, तब करना चाहिए जब कि उसका कर्त्ता स्वस्थ स्थिति में हो। तब अभ्यास करना बेकार है जब कि वह कोई थकान अनुभव कर रहा हो; न केवल कोई प्रगति ही नहीं होती, अपितु वास्तविक अपकर्ष हो सकता है। सामान्यतः सफल अभ्यास ही प्रभावपूर्ण होता हैं। नैतिकतावादी कभी-कभी असफलता के लाभों की बढ़ी-चढ़ी प्रशंसा करते हैं, किन्तु व्यावहारिक क्षमता के दृष्टिकोण से असफलतापूर्वक कार्य करने से कोई लाभ नहीं हो सकता।

शिक्षक के लिए यह जानना अत्यन्त आवश्यक है कि अभ्यास की अनुकूलतम (optimum) अवधि कितनी कम हो सकती है; इस सम्बन्ध में पिले (Pyle) की खोजें महत्त्वपूर्ण हैं। प्रारम्भ में उसने अभ्यास-काल की अवधि भिन्न-भिन्न रखीं और

क्रमानुगत अभ्यासों के मध्य का काल बराबर रखा। उसने देखा कि तीस मिनट की अवधियों का समय सर्वोत्तम प्रकार से खर्च किया गया, पन्द्रह मिनट बहुत थोड़े बैठते थे औरपैंतालीस मिनट बहुत अधिक। छोटी अवधि लेना सरल है, क्योंकि सीखने वाले को अपने कार्य में अभ्यस्त होने के लिए सदा कुछ समय की आवश्यकता होती है। अग्रेतर प्रयोग में पिले ने अभ्यास की अवधि बराबर रखी जब कि वह अन्तरकाल की अवधि को बदलता रहा। उसने ज्ञात किया कि प्रतिदिन का अभ्यास एक दिन के अन्तर के अभ्यास से अच्छा है। उसी दिन की दूसरी अभ्यास-अवधि पहली अभ्यास-अवधि की अपेक्षा कम लाभकारक है, जब कि उसी दिन के और अधिक अभ्यास और भी कम लाभकारक हैं। इसमें सन्देह नहीं कि उसी दिन की दो काल-विधियों के अभ्यास (periods of practice) का परिणाम एक की अपेक्षा अच्छा तथा शीघ्रगामी होता है; किन्तु चूँकि जैसा कि रस्क (Rusk) का कहना है, "शिक्षक के पास कुल समय सीमित है, उसके सामने मुख्य प्रश्न यह है कि शिष्य के समय का सर्वोत्तम उपयोग किस प्रकार किया जाय, यह नहीं कि इससे दूने समय में वह क्या करता है।"[1] पिले ने इन परिणामों की पुष्टि स्कूल के शिष्यों को जोड़ में अभ्यास दे कर की। एक समूह को एक पखवाड़े तक प्रतिदिन सवेरे केवल दस मिनट अभ्यास दिया गया; दूसरे को केवल एक सप्ताह तक सुबह तथा दोपहर दस-दस मिनट अभ्यास दिया गया। परिणामों से पता चला कि पहला समूह अधिक अच्छा निकला। इस प्रकार, यह सरलता से सम्भव है कि अत्युत्साही शिक्षक अपने शिष्यों पर बहुत अधिक कार्य-भार डाल दे।

कुशलता-अर्जन में यह निस्सन्दिग्ध रूप से सत्य है कि सांवेगिक

1 Experimental Education, p. 219

पहलुओं का महत्त्वपूर्ण स्थान है। रुचि तथा प्रयास-सहित किये जाने वाले परिमित अभ्यास से रुचि व प्रयास-रहित लम्बे अभ्यास की अपेक्षा अधिक अच्छे परिणाम निकलेंगे। सीखने वाले के लिए अपने कार्य में रुचि प्राप्त करना तथा उसे करने की योग्यता में विश्वास होना सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण है। यह भी पाया गया है कि उसकी अपनी स्वयं की प्रगति का ज्ञान प्रेरणा का कार्य करता है। यदि अभ्यास को शिष्य के किसी प्रमुख प्रयोजन से सम्बन्धित किया जा सके, तो वह स्वयं ही सफल प्रयास करेगा जो उसे प्रगति की ओर अग्रसर करेंगे। प्रयास करने के लिए, इन सांवेगिक प्रेरणाओं को देना शिक्षक का कार्य है। हमारी प्रारम्भिक धारणा कि'आदतें नैसर्गिक रूप से ही मूलप्रवृत्तियों तथा स्थायीभावों की चर्या में निर्मित होती है, शिक्षक को अपने शिष्यों में कुशलता की आदतें डालने के प्रयास में प्रदर्शक का कार्य होगी।

विशेष अध्ययन के लिए

Mcdougall : An Introduction to Social Psychology, chapters v, vi, vii, viii and ix; An Outline of Psychology, chapters vi and xvii.

Shand : The Foundations of Character.

Nunn : Education : its Data and First Principles, chapters xii and xiii

James : The Principles of Psychology, chapter iv.

Drever : Introduction to the Psychology of Education, chapters v and vii.

Rusk : Experimenal Education, chapter xiii.

Sandiford. Educational Psychology, chapters ix, x and xi.

: ८ :

विकास की अवस्थाएँ

(Stages of Development)

अब हमको वृद्धि की प्रक्रिया की रूपरेखा का संक्षिप्त अनुसरण करना चाहिए और उन विभिन्न क्रमों में भेद करना चाहिए जिनसे भ्रमणशील, आवेगात्मक बच्चा धीर, तर्कशील प्रौढ़ बनता है। इस अध्ययन के लिए डा० अर्नेस्ट जोन्स (Dr. Ernest Jones) बहुत अच्छा मार्गदर्शक है जिसने एक महत्त्वपूर्ण लेख[1] में बताया है कि मनुष्य का विकास चार सुस्पष्ट अवस्थाओं में होता है—(१) शैशव अवस्था (infancy), पाँच वर्ष की आयु तक, (२।) बाल्य अवस्था (late childhood), बारह वर्ष की आयु तक, (३) तरुण या किशोर अवस्था, (adolescence) अठारह वर्ष की आयु तक, और अन्त में (४) प्रौढ़ अवस्था (maturity)। आगे वह यह बतलाता है कि हम दो बार बढ़ते हैं, मानो किशोर-दशा से पहले मिथ्या-पक्वदशा प्राप्त करते हैं, जिस आयु पर प्रकृति अपने बहुत-से पूर्व कार्य को नष्ट कर देती है और चरित्र के दृढ़ीकरण और उसकी निर्माण-क्रिया को फिर आरम्भ करती है। परन्तु विकास के मनोविज्ञान के लिए कदाचित् उसकी अति प्रमुख देन उसका यह सिद्धान्त है कि किशोर अवस्था और प्रौढ़ अवस्था शैशव अवस्था और

---

1 "Some Problems of Adolescence," Brit. Jour. Psych., vol. xiii, 1922-23.

उत्तर-बाल्यावस्था के पुनरावर्तन हैं, और व्यक्ति दूसरे स्तर पर पुनः उन अवस्थाओं में होकर जाता है जो उसके प्रारम्भिक वर्षों में थीं। इस प्रकार एक बच्चे और प्रौढ़ के बीच में जो असमानताएँ हमको मिलती हैं, वे उन विशेष कालों पर निर्भर हैं जिनकी हम तुलना करते हैं, वास्तविक भिन्नता शैशव अवस्था और किशोर अवस्था में है, न कि बाल्य अवस्था और शैशव अवस्था में, जिनमें समानता की बहुत सी बातें पाई जाती हैं। डा० जोन्स का तर्क मनोविश्लेषण (psycho-analysis) पर निर्भर है, और वह विशेषकर यौनिक विकास (sexual development) से सम्बन्धित है, परन्तु उसका विश्वास है कि उसका सिद्धान्त यौनिक अवस्था के अतिरिक्त मन की अन्य अवस्थाओं से सम्बन्धित है। इसका पथप्रदर्शन प्राप्त करते हुए हम विभिन्न अवस्थाओं के मुख्य लक्षणों और उनकी समानताओं अथवा विभिन्नताओं में भेद देखेंगे।

छोटे बच्चे (young child) और प्रौढ़ (adult) में एक बहुत स्पष्ट अन्तर उनका बौद्धिक स्तर है। बौद्धिक परीक्षाओं से ज्ञात हुआ है कि सहज योग्यता प्रारम्भिक बाल्य अवस्था से प्रौढ़ अवस्था तक शनैः शनैः प्रस्फुटित होती है। परन्तु डा० जोन्स (Dr Jones) हमको चेतावनी देता है कि परीक्षाएँ अधिकतर प्रौढ़ के दृष्टिकोण से तैयार की गई हैं; वह बच्चे के विचार की नवीनता और अनुसन्धानात्मक तथा संशयात्मक जिज्ञासा से अत्यन्त प्रभावित हुआ है, और उसका विचार है कि बढ़ती हुई आयु और शिक्षा से ये गुण निश्चित रूप से मंद हो जाते हैं। यद्यपि हमको इस चेतावनी का ध्यान रखना चाहिए, परन्तु हमको यह न भूलना चाहिए कि एक बच्चे और एक प्रौढ़ की बौद्धिक शक्ति में महान् अन्तर है।

मूलप्रवृत्तियों द्वारा प्रत्यक्ष रूप से शासित होने की दृष्टि से

जो तत्कालिक सन्तुष्टि चाहती हैं एक छोटे बच्चे का व्यवहार एक प्रौढ़ के व्यवहार से भिन्न होता है। अपने स्वाभाविक आवेगों को रोकना और उत्तेजक तथा प्रतिक्रिया में देरी को स्वीकार करना वह धीरे-धीरे ही सीखता है। प्रत्येक आवेग स्वतन्त्र रूप से काम करता है, क्योंकि अभी तक वह अन्य आवेगों तथा पूर्ण व्यक्तित्व से सम्बद्ध नहीं हैं। यहाँ नैतिक व्यवहार का निम्नतम प्रक्रम है जिसमें आचार को केवल मूलप्रवृत्ति से प्रेरणा मिलती है और जो केवल यदा-कदा अनुभूत आनन्द और दुखों से संपरिवर्तित है। यह, जैसा मेकडूगल ने कहा है, केवल निम्न उक्ति से आदर्शीकृत है, "दूध का जला छाछ फूँक-फूँक कर पीता है।" आगे चलकर सामाजिक वातावरण इस आनन्द-दुख प्रेरक को, कुछ-कुछ व्यवस्थित रूप से पारितोषिक और दण्ड देकर, पुनः बल देता है।

फिर, बच्चे पर उसकी अधीनता की वृत्ति (attitude of dependence) का भी विशेष प्रभाव पड़ता है। यह ध्यान देने की बात है कि यह अधीनता केवल शारीरिक सुखों से मुख्यतया सम्बन्धित नहीं है—इनको तो बच्चा मानी हुई वस्तुओं के रूप में समझता है—वरन् इसका प्रदर्शन संवेगात्मक आवश्यकताओं के सम्बन्ध में होता है। उसकी समस्त प्रकृति अपने प्रति ही प्रेम का निर्देशन चाहती है। अधीनता अथवा निर्भरता की यह प्रवृत्ति पूर्ण रूप से कभी नहीं समाप्त होती; परन्तु, क्योंकि आत्म-निर्भर बनने में ही सफल वृद्धि है, इसे हम प्रारम्भिक बाल्यकाल का प्रमुख लक्षण कह सकते हैं।

एक दूसरा लक्षण है कल्पना का बाहुल्य। हम पहले ही देख चुके हैं कि शैशवावस्था कल्पना-सृष्टि की अवस्था है। इस कल्पना-सृष्टि का नायक स्वयं बालक ही होता है, और वह इस

रूप में वास्तविक जीवन की कठोर वास्तविकताओं का बदला (compensation प्रतिपूरण) प्राप्त करता है।

आत्म प्रदर्शन के लिए परिचित बात को दोहराने में भी हम इस स्वस्थापन-प्रवृत्ति को देख चुके हैं। फ्रॉयड (Freud) इसे आवृत्ति-हठप्रवृत्ति (repetition-compulsion) के नाम से पुकारता है। गहन इंद्रिय-संस्कार (impression) का उत्तर देने के लिए तथा एक परिस्थिति का स्वामी बनने का प्रयत्न करने के लिए यह बच्चे का आवेग है। व्यवहार के निषेधक (negative) और धनात्मक (positive) रूप एक-दूसरे के बाद आते हैं और एक-दूसरे का कारण भी हैं। बच्चे पर मनुष्यों और परिस्थितियों का प्रभाव अनवरत पड़ता रहता है जो निषेधक स्व-अनुभूति (negative self-feeling) अथवा भय को भी उत्तेजित करती हैं; परन्तु पूरक दशा प्रायः उसके खेल में निश्चय रूप से अकस्मात् उपस्थित होती है, जब वह किसी मनुष्य अथवा परिस्थिति का अभिनय कर रहा हो जिसने उसे भयभीत कर दिया हो।

इन निषेधक और धनात्मक रूपों का पूरक स्वभाव लेखक से परिचित एक छोटे लड़के के व्यवहार में विशेष रूप से देखा गया। किसी अप्रकट कारण से उसने एक कोयला खोदने वाले की उपस्थिति में अत्यधिक भय दिखाया—पीला पड़ना, चिल्लाना और रक्षा के लिए भागना। परन्तु उसका प्रिय खेल था गद्दियों को कोयले की बोरियाँ मानना और अपने सिर पर ले जाकर किसी सहानुभूतिपूर्ण प्रौढ़ के घुटने पर रखना। यह कृतक-विश्वास (make-believe) स्पष्ट ही उस परिस्थिति का उत्तर था जिसमें उसका अभिनय इतना तुच्छ हुआ था। यह बच्चा तीन वर्ष की पक्व आयु पर चिड़ियाघर ले जाया गया। जब वह वापस हुआ उसने अपने अद्भुत अनुभवों पर निराशापूर्ण मौन प्रकट

किया, परन्तु फिर कई महीने पीछे प्रत्युत्तर उसके खेलों में प्राप्त हुआ।

विनीत भाव और आनन्द की यह स्वाभाविक लय जीवन-पर्यन्त बड़ी महत्त्वपूर्ण है। हम बहुधा अपने को ऐसी परि-स्थितियों में पाते हैं जो यदि हम उनके प्रति प्रतिक्रिया न कर सकें तो वे नितान्त असहनीय हो जायँ। उदाहरण के लिए, एक परमस्नेही के विषय में हम अति चिन्ता को सहन कर सकते हैं यदि उस मनुष्य को ढाढ़स देने अथवा सहायता देने के लिए हम कुछ कर सकें। प्रारम्भिक बाल्यावस्था में यह लक्षण अत्यधिक महत्त्वपूर्ण है, और अपने छात्रों के प्रति समस्त व्यवहार में शिक्षक को इसका ध्यान रखना चाहिए। निम्न सुन्दर महत्त्व-पूर्ण उक्ति में शिक्षण में इसके व्यवहार की मान्यता मिलती है, "अभिव्यंजना बिना कोई संस्कार नहीं है" (No impression without expression)।

कदाचित् सबसे प्रमुख और निश्चित विधि जिसमें प्रौढ़ बच्चे से भिन्न होता है उसकी यौनिक पक्वता (sexual maturity) है। मनोविश्लेषण के दिनों से पहले यह कहा जा सकता था कि बच्चे में कोई यौनिकता नहीं है। परन्तु अब हमको निश्चित रूप से बताया जाता है कि उसका यौनिक जीवन अपने शारीरिक तथा मानसिक पहलुओं में अत्यन्त समृद्ध और विभिन्न है, और उसके आविर्भाव प्राचीन मनुष्य के आविर्भावों से मिलते-जुलते हैं, यथा पारी-पारी से स्व-कामुक, या स्वप्रेम (Auto-erotic), समलिंग-कामुक (homosexual), बिलिंग कामुक (hetero-sexual)। फ्राइड के अनुसार, प्राम्भिक बाल्यकाल अर्थात् शैशव अवस्था के पश्चात् किशोर अवस्था (puberty) के प्रादु-र्भाव तक एक अप्रकट काल होता है, जब हमारे सम्पूर्ण मानसिक

अवेक्षण (mental outlook) में यौनिकता प्रमुख स्थान ले लेती है।

जब बच्चा उपर्युक्त रीति से आचरण करने लगता है, तो उसके संवेग स्थायीभावों के रूप में व्यवस्थित होने लगते हैं, जिनमें सबसे आरम्भिक स्वयं अपने शरीर के लिए प्रेम है। चेष्टामूलक प्रवृत्तियों की प्रथम अर्जित व्यवस्था शारीरिक भूख तथा प्रसन्नता व कष्टों से बनी हुई मालूम होती है, जिनका अनुभव शरीर की रचना से सम्बन्धित कार्यों में होता है। शैशव-अवस्था (infancy) शारीरिक अर्थ में, एक स्व-प्रेम की आयु है। मनोविश्लेषणवादियों ने इस शरीर-भावना का नाम नारकिस-वाद (narcissism) रखा है, जो कक्षाओं और उपाख्यानों में मानव जाति के मानसिक इतिहास का अभिनवीकरण देखते हैं। नारकिस की कथा में वे स्व-प्रेम की व्यापक प्रवृत्ति का अभिनवीकरण पाते हैं।

परन्तु शीघ्र ही बच्चे की प्रेरणा अथवा चेतना (horme or libido) बाहर की ओर निर्देशित होती है, और माँ के गिर्द एक स्थायीभाव बन जाता है। स्पष्ट ही ऐसा स्थायीभाव, शरीर-भावना के विस्तार के रूप में, आरम्भ होता है, क्योंकि माता ही वह व्यक्ति है जो बच्चे को भोजन देती है और उसके शारीरिक सुख का ध्यान रखती है। परन्तु यह स्थायीभाव, यद्यपि यह भोजन-प्रेम के रूप में आरम्भ होता है, शीघ्र अपने निम्न उद्गम से आगे बढ़ जाता है; और इस कथन में अत्युक्ति नहीं है कि वह अधिकांश मनुष्यों के प्रौढ़ जीवन में प्रमुख भाव है, कभी-कभी चेतन रूप से और प्रायः अचेतन रूप से।

बच्चे के वातावरण में पिता दूसरा निरन्तर और महत्त्वपूर्ण तथ्य है, और इसलिए वह भी शीघ्र ही स्थायीभाव का विषय हो जाता है। यहाँ फ्रॉयड और उसके मत के मानने वालों ने

विचित्र सिद्धान्त रखा है। वह यह है कि मातृ-भाव (mother-sentiment) प्रेम के रूप में प्रवर्तित होता है, परन्तु पितृ-भाव (father-sentiment)—पुत्र के लिए तो अवश्य ही—घृणा के रूप में प्रवर्तित होता है। यह तर्क किया जाता है कि बच्चा अपने पिता के अस्तित्व को पसन्द नहीं करता क्योंकि वह उसे अपनी माता का प्रेम-पात्र बनने में अपना प्रतिद्वन्दी समझता है और माता पर उसके प्रभाव को ईर्ष्या की दृष्टि से देखता है। फ्रॉयड के मनोविज्ञान के अनुसार यह पिता-माता-पुत्र परिस्थिति मातृभाव-ग्रन्थि (Œdipus complex) का निर्माण करती है। इसको फ्रॉयड के मतानुयायियों के नियमपत्रों का सन्दूक (the ark of Freudean covenant) कहते हैं। कहा जाता है कि जैसे ही इस भाव-ग्रन्थि का अपने धारणकर्ता के नैतिक विचारों से द्वन्द होता है और इसलिए जो इसकी उपस्थिति से अनभिज्ञ रहता है, यह भाव-ग्रन्थि सामान्यतः नियन्त्रित हो जाती है।

यह आवश्यक नहीं है कि हम इस विषय में फ्रायड और उसके अनुयायियों के समस्त तर्कों को मानें। परन्तु सामान्य बुद्धि यह कहती है कि यदि पिता अपने पुत्र के प्रति सहानुभूति नहीं रखता, यदि वह उसके और उसकी माता के बीच में, यद्यपि अनजाने ही, आता है और यदि वह उस पर कठोर अनुशासन रखता है, तो पिता के प्रति घृणा के भाव हो सकते हैं। यह सत्य है कि माता और पुत्र का बीच के बन्धन प्रायः पिता और पुत्र के बन्धनों की अपेक्षा अधिक घनिष्ठ होता है, और लड़का प्रायः अपने पिता के सामने संकोच करता रहता है। अब यह देखना चाहिए कि बच्चे की निगाह में अध्यापक मातापिताओं के स्थानापन्न हैं, और पुरुष-अध्यापकों को विशेष रूप से यह समझ लेना चाहिए कि पिता के प्रति बच्चे का कोई उपेक्षा अथवा घृणा का

भाव स्वतः उनके प्रति स्थानान्तरित हो सकता है। यहाँ फ्रॉयड सिद्धान्त बहुधा देखे गये ऐसे लड़के के व्यवहार का समाधान करता है जो हमारे अनेक प्रयत्न करने पर भी, हमारे सर्वोत्तम प्रयत्नों को विफल करने में प्रसन्न ज्ञात होता है।

लड़कियों में भाव-ग्रन्थि या भाव-पिंड (complex) एक पूरक रूप ले लेती है जिसमें माँ में अरुचि की भावना और पिता में प्रेम की भावना की प्रवृत्ति निहित होती है। इसे पितृ-भाव ग्रन्थि (Elektra complex) कहते है। परन्तु फ्रॉयड मत वालों को इसका कारण बताने में कुछ कठिनाई पड़ती है कि लड़की माता से प्रेम क्यों नहीं करती; और उनका इस भाव-पिंड का वर्णन अनिश्चयात्मक है। फिर भी यह माना जा सकता है कि कुछ आगे चल कर पिता और पुत्री के सम्बन्ध बहुधा अत्यन्त मित्रवत् हो जाते हैं।

फ्रॉयड के इन भाव-ग्रन्थियों के सिद्धान्तों में सामान्य सचाई का अंश कुछ हो या न हो, परन्तु यह बिलकुल निश्चित है कि अपने मातापिताओं, भाइयों और बहिनों के प्रति बच्चे की प्रारम्भिक प्रवृत्तियाँ स्थायी महत्त्व की होती हैं, और जीवन भर वे अन्य मनुष्यों के प्रति अपने संवेगात्मक सम्बन्धों को प्रभावित करते हैं। फ्रॉयड और उसके शिष्यों ने जीवन के प्रारम्भिक वर्षों की ओर ध्यान दिलाने की दृष्टि से मनोविज्ञान और शिक्षा की बहुत बड़ी सेवा की है। एक निश्चित काल में कोई भी व्यक्ति न इतना परिवर्तित होता है और न इतनी वृद्धि करता है जितना कि बचपन में।

हम देखते हैं कि जैसे विकास आगे बढ़ता है, मानसिक वृद्धि, शारीरिक वृद्धि के समान, एकसम आगे नहीं चलती, वरन् लहरों के समान चलती है। ऐसा प्रतीत होता है कि प्रकृति दृढ़ीकरण और

बढ़ोतरी के काल विकल्प रूप से लाती है। प्रारम्भिक वर्षों में बच्चे की बढ़ोतरी एकसम नही होती। तीन वर्ष की आयु तक उसकी बढ़ोतरी शीघ्रता से होती है, और उसके पश्चात् दृढ़ीकरण का काल आता है। छः अथवा सात वर्ष की अवस्था पर फिर शीघ्र विकास का समय आता है, और उसके पश्चात् अद्भुत स्थिरता का काल आता है। यह स्थायित्व, शारीरिक तथा मानसिक, उत्तर-बाल्यावस्था का अत्यन्त महत्त्वपूर्ण लक्षण है। मान लीजिए एक प्राणी दूसरे ग्रह से आता है और मानव-जाति के विषय में बिल्कुल नही जानता। वह अवश्य ही इन अनुकूलित दस वर्ष के छोटे मनुष्यों को मानव जाति के प्रौढ़ समझेगा, यदि वास्तविक प्रौढ़ उसकी आँखों से छिपा लिये जायें। इस प्रकार उत्तर-बाल्यावस्था मिथ्या-पक्वता (pseudo-maturity) का समय है। दस या ग्यारह वर्ष का बच्चा संसार मे अपनापन पाता है और सामने आने वाली सभी परिस्थितियों के प्रति आचरण करना जानता है।

वे सभी जिन्होंने विकास का अध्ययन किया है, इस रुकावट और दृढ़ीकरण के काल के होने को मानते है, और उन्होंने इस का समाधान करने का प्रयत्न किया है। स्टेनले हॉल (Stanley Hall) ने अपने पुनरावर्तन के प्रिय सिद्धान्त का सहारा लेते हुए, उत्तर-बाल्यावस्था को ऐसा कहा है, "लम्बी जातिसम्बन्धी प्रक्रिया की वर्तमान गूँज, जब कि अनेक पीढ़ियों तक हमारे पूर्व-मानवी पूर्वज वामन (pigmoid छोटे आकार के) प्रौढ़ थे जिनकी आयु न्यून थी और जो वर्तमान सार्वजनिक विकास-वृद्धि के पहले ही संसार से विदा हो जाते थे।"[1] इसका समाधान कुछ भी हो—और केवल हॉल (Hall) का समाधान ही उचित ज्ञात होता है—यह देखने में तो अवश्य ही आया है

1 Adolescence, p, 45.

कि इस आयु तक बच्चा एक बार विकास के कुन्तल (spiral) का चक्कर काट चुका है और उसने परिस्थितियों के प्रति कुछ सीमा तक अनुकूलता प्राप्त कर ली है, जो किशोर अवस्था के काल में नहीं रहेगी और फिर उचित पक्वता की दशा में प्राप्त हो जायगी।

उत्तर-बाल्यावस्था का दूसरा विशिष्ट लक्षण समूह-प्रवृत्ति (gregarious instinct) की परिपक्वता है। यह अवश्य सत्य है कि बच्चा अपने प्रारम्भिक वर्षों में अकेला नहीं रहना चाहता, परन्तु वह अपने बड़ों को मुख्यतः आत्म-तृप्ति के साधन की भाँति प्रयोग करता है और अपने समस्त कार्यों में अत्यधिक स्वार्थी रहता है। परन्तु अब वह अन्य बालकों के साथ रहता है। अब वह 'अपनी ढपली अपना राग' नहीं पसन्द करता, और वह अपने समान अन्य मनुष्यों के सहवास को स्व-स्थापन का अत्याज्य साधन समझता है। इस प्रकार वह लगभग सदा ही एक समुदाय का सदस्य हो जाता है, जो यशस्वी क्रीड़ाओं के खेलने में और ऐसे कार्य करने में नियमित रूप से समय व्यतीत करता है जिनकी प्रकृति बड़ी आयु वाले मनुष्यों को नहीं ज्ञात होने दी जाती है।[1] उसकी माँ को प्रायः दुःख होता है कि उसका प्यारा बच्चा उसे केवल भोजन और सुरक्षित स्थान देने वाली समझता है जब कि जीवन का वास्तविक आनन्द वह दूसरी जगह प्राप्त करता है। परन्तु उसे यह जानना चाहिए कि यह जीवन का सामान्य मार्ग है जिस पर स्वस्थ प्रौढ़ता प्राप्त करने के लिए उसके पुत्र को चलना आवश्यक है।

इस प्रकार, इस आयु पर, समूह-प्रवृत्ति (gregarious instinct) अपने शुद्धतम रूप में होती है। सामाजिक

---

1 See Stevenson's essay "The Lantern-bearers," in *Across the Plains*.

व्यवहार के ऊँचे रूप अभी प्रस्फुटित नहीं होते । जैसा नन (Nunn) ने कहा है, "लड़का अब भी संसार को अपनी सीपी (oyster) समझता है, परन्तु उसे खोलने के लिए दूसरों की सहायता चाहता है और इसके लिए उनका मुख जोहता है।"[१] मनोवैज्ञानिक दृष्टि से हम कह सकते है कि वह एक प्राचीन आखेट-समूह का सदस्य है, और अभी परोपकार और आत्म-त्याग की उस से आशा नही की जा सकती । परन्तु व्यवहार के धनात्मक तथा निषेधात्मक रूप विकल्प में उसकी परिस्थितियों में फिर देखे जा सकते है, कभी नेता के रूप मे और कभी एक अनुगामी के रूप मे । कुमार बालकों के सब समूह व्यवस्थित होते है—कप्तान, सहायक कप्तान और दूसरे अधिकारी कार्य करने के लिए तथा अनुशासन रखने के लिए नियुक्त किये जाते है ।

यह अति सामुदायिकता ही है जो नैतिक अनुज्ञाओं (moral sanctions) के बोध का सूत्र देती है जो एक कुमार लड़के के आचरण को अनुशासित करती है। उसका व्यवहार अधिकतर पूर्वबोध सामाजिक प्रशंसा अथवा निन्दा द्वारा निश्चित होता है, परन्तु मुख्य अधिकारी समूह या समुदाय ही होता है। यहाँ हम समस्त 'आचार' (morality) का निचोड़ पाते है जो रिवाजो के अतिरिक्त और कुछ भी नही है जो सामाजिक समुदाय की कुशलता का कारण होते है, और समुदाय की आवश्यकताओ मे परिवर्तन के साथ बदलते रहते है । जब आचरण आदर्शवाद धर्म के साथ सम्बन्धित हो जाता है उसी दशा में उसे कुछ सीमा तक पर्याप्तता (absoluteness) प्राप्त होती है ।

इस प्रकार उत्तर-बाल्यावस्था, के आचरण लोकमत से शासित होते है, जो कुख्यात रूप से शक्तिशाली और दृढ़ होते है । लड़का अनुभव करता है कि उसकी प्रथम भक्ति अपने समुदाय

---

1 Education : its Data and First Principles p. 173.

के प्रति है, और चाहे जो कुछ भी हो, वह अपने नेता की आज्ञाओं का पालन करेगा। वह बहुधा अपने को वास्तविक कठिनाई में पाता है, क्योंकि समूह के प्रति उसकी भक्ति का दूसरी भक्तियों से संघर्ष होता है—घर, पाठशाला और समाज की। इसे ही 'पाठशाला के लड़के का आचार' (schoolboy morality) कहते हैं, लड़का अपने समूह की मानी हुई अभिरुचियों के लिए अपने अध्यापक को धोखा देता है और झूठ बोलता है।

ऐसे व्यवहार को, यद्यपि यह नितान्त असन्तोषप्रद है अध्यापक को समझना चाहिए और इसका सहानुभूतिपूर्ण उपचार करना चाहिए। उसे लड़कों को विश्वास दिलाना चाहिए कि वह समुदाय का स्वाभाविक बैरी नहीं है, और पाठशाला के विस्तृत समाज की सेवा में उसकी शक्तियों व श्रद्धाओं का उपयोग करने का प्रयत्न करना चाहिए। यहाँ पाठशाला का अध्यापक बालचर-अध्यापक (स्काउट मास्टर) से बहुत कुछ सीख सकता है जो स्वाभाविक आखेट-समूह को शेर-बच्चों की सेना बनाने की विधि में प्रयोग करता है, और जिन उद्देश्यों को पूरा करना वह वांछनीय समझता है उनकी पूर्ति के हेतु वह समूह-भावना का प्रयोग करता है। समस्त बालचर आन्दोलन के पीछे जो मनोविज्ञान है उसकी प्रशंसा जितनी ही की जाय थोड़ी है।

उत्तर बाल्यावस्था का तीसरा मुख्य लक्षण बाह्य आविर्भाव (outword look) है। दस या ग्यारह वर्ष का बच्चा स्वभावतः बहिर्मुख (extrovert) होता है, अर्थात् उसे अपने से बाहर के पदार्थों से सम्बन्ध रहता है न कि स्वयं अपने मानसिक जीवन से। वह बाह्य कार्यों में बहुत भाग लेता है, जैसे खेल-कूद और शिविर-जीवन। उसकी रुचियाँ अत्यन्त व्यावहारिक हैं। वह यह जानने का अत्यधिक इच्छुक होता है कि विभिन्न कार्य किस

प्रकार सम्पादित होते है, और विभिन्न विषयों पर वह विपुल ज्ञान संग्रह कर लेता है जो उसके बड़ो के लिए निरन्तर आश्चर्य का विषय होता है।

प्रारम्भिक बाल्यावस्था की अपेक्षा किशोर अवस्था का मनोविज्ञान कम प्रायोगिक होना चाहिए, क्योंकि हमारे पथ-प्रदर्शन के लिए स्वयं हमारी स्मृतियाँ ही प्रस्तुत रहती है। फिर भी, जीवन के इस काल को हम, दुर्बलता और दैन्य के कारण जो उसके विशेष लक्षण थे, प्रायः भूल जाते है। अनेक माता-पिताओ तथा अन्य प्रौढ़ों द्वारा किशोर के प्रति सहानुभूति न होने का यही कारण है। पाठक के लिए जो बालकों में कार्य करना चाहता है, उत्तम यह होगा कि वह विस्मृत होने के पूर्व ही स्वयं अपनी किशोरावस्था के काल की घटनाओं तथा मानसिक प्रवृत्तियों को याद करे।

सैद्धान्तिक दृष्टि से किशोरावस्था को जीवन के प्रथम काल का पुनरावर्तन, विकास के कुन्तल (spiral) में दूसरा घुमाव, समझना चाहिए। कुमार अब वह दृढ़ता नही दिखाता जो उसकी उत्तर-बाल्यावस्था मे विशेष रूप से देखी गई थी, परन्तु वह अपने व्यवहार को खो बैठता है और अपने को एक विचित्र ससार में पाता है जहाँ ऐसा प्रतीत होता है कि उसकी पुरानी आदतों तथा प्रवृत्तियों का कोई अर्थ और मूल्य नही है। वह शारीरिक और मानसिक दृष्टि से अनुचित रूप से समायुक्त है, उसके ढंगों में भौंडापन है और वह व्यवहार में उद्विग्न और हठी है। इस धोखे में रह कर कि वह प्रत्येक मनुष्य के ध्यान का केन्द्र है, वह अत्यन्त ही आत्मबोधक (self-conscious) होता है और उस में लज्जाशीलता भी होती है। एक शब्द मे, शिशु के समान, वह अपने वातावरण के प्रति फिर से समायोजन आरम्भ करता है। जैसा हम देखेंगे उसके बहुत से लक्षण शैशवावस्था के

हैं जो उच्च स्तर पर दोहराये गये हैं।

सूचित पुनरावर्तन संवेगात्मक प्रवृत्तियों में पाया जाता है—वास्तव में, किशोर अवस्था का अतिविस्तृत लक्षण भावनिक जीवन का ठीक पुनःअनुस्थापन (re-orientation) है जो उस समय होता है। यद्यपि बुद्धिमूलक उत्थान अब अपनी चरम-सीमा पर पहुँच रहा है, किशोर की शिक्षा में समस्त बौद्धिक विचारों को गौण समझना चाहिए। किशोर अत्यन्त संवेगात्मक जीवन व्यतीत करता है, जहाँ उसके अत्यधिक उत्साह तथा गंभीर निराशा के निरन्तर विकल्प में हम व्यवहार के धनात्मक और निषेधात्मक रूपों की लय एक बार फिर देख सकते हैं।

पूर्व बाल्यकाल की आनन्दमय कल्पना का पुनरावर्तन भावना (fantacy) की दूसरी आयु में होता है। बच्चे के समान किशोर को भी संसार एक कठिन स्थान प्रतीत होता है, और वह भावनाओं के संसार में विचरण करता है जो उसके हृदय की इच्छा के अधिक निकट है। बाह्य संसार में उसकी बाल्य-रुचियाँ अब उसके शारीरिक और मानसिक आत्म (self) में नवीन अभि-रुचि प्राप्त करती हैं; वह पुनः स्व-केन्द्रित तथा अन्तर्मुख (intro-verted) हो जाता है और 'वास्तविक' संसार से अपने को हटा लेता है। मनोविज्ञान पर आधारित स्काउटिंग (बालचर संस्था) किशोर की आवश्यकताओं की पूर्ति के रूप में कृतक-श्रद्धा (make-believe) का प्रबल तत्त्व उपस्थित करता है।

परन्तु निस्सन्देह किशोर-अवस्था का केन्द्रीय तथ्य यौनिक विकास (sexual development) है, जो अन्य सब का कारण है और सब में व्याप्त है, और इस आवश्यक लक्षण की उपेक्षा से अत्यन्त हानि हो सकती है। डा० जोन्स (Dr. Jones) का विश्वास है कि व्यक्ति, अब दूसरे स्तर पर, अपने शैशव काल के यौनिक इतिहास का पुनरावर्तन कर रहा है; उसके अवरोधित

यौनिक आवेग (repressed sexual impulse) में पुनः जाग्रति हो जाती है जो उत्तर बाल्य-अवस्था में सुषुप्त दशा में पड़ा हुआ था। इस बार वह अवरुद्ध नहीं रह सकता, परन्तु वह अपने माता-पिता की ओर प्रवाहित न हो कर अपरिचित व्यक्तियों की ओर प्रवाहित होता है।

पुनरावर्त्तन तीन विशेष प्रक्रमों में आगे बढ़ता है। सर्व प्रथम स्व-प्रेम (auto-erotism) है। किशोरावस्था स्व-प्रेम का दूसरा समय है जिसका प्रत्यक्ष प्रादुर्भाव शरीर की गोपनीय प्रशंसा और अभिरुचि में होता है, और परोक्ष मानसिक प्रादुर्भाव अभिमान और दृढ़ निश्चयता में प्राप्त होता है। इसके पश्चात् समलिंगकामुक (homosexual) अवस्था आती है। किशोर अवस्था भाव-शील मित्रताओं का समय होती है, जो स्वभावतः यौनिक होती हैं, जो एक-से यौन के व्यक्तियों में होती है, और जिसका साम्य मध्य-किशोरावस्था में लड़के और लड़कियों में एक-दूसरे से पृथक् रहने की प्रवृत्ति में स्पष्ट रूप से प्राप्त होता है। अन्त में विषम-लिंगकामुक (heterosexual) प्रक्रम प्रधान रूप से पाया जाता है, जब अनुराग का विषय अन्य यौन का सदस्य होता है। स्त्रियों में रुचि का उदय बहुधा लड़के और लड़की के मध्य आसक्ति (calf-love) का रूप लेता है। अपने से अधिक अवस्था वाली स्त्री से प्रेम करके वह कदाचित् अनजाने ही अपनी शैशव-अवस्था की मातृ-भावना के अभिप्राय को ढूँढता है। ऐसे व्यक्ति के प्रति उसका आकर्षण आदर और भय से मिश्रित है और उसके लिए उस स्त्री का दयालु और सहानुभूतिपूर्ण व्यवहार बहुत सहायक हो सकता है।

यह आवश्यक नहीं है कि यौनिक विकास की ये तीन अवस्थायें एक-दूसरी के बाद समय पर आवें, वरन् ये साथ-साथ भी रह सकती हैं। शिक्षक को इन्हें जानना आवश्यक है और यह भी

जानना जरूरी है कि किसी-किसी किशोर अवस्था के नवयुवक अथवा नवयुवती में प्रथम दोनों अवस्थाएँ पाई जाती हों तो आवश्यक नहीं हैं कि वे विकृत या अस्वाभाविक ही हों। किशोरों के दुश्चरित्र के प्रति प्रौढ़ जो क्रूरता बरतते हैं उसे स्वयं अपनी किशोरावस्था की भूली हुई दुर्बलताओं का प्रतिपूरक समझना चाहिए। आवश्यकता है सहानुभूतिपूर्ण बोधन की; और उस शिक्षक को जिसकी स्वयं किशोर-अवस्था यौनिक कठिनाइयों से अपेक्षाकृत मुक्त रही है यह न विचार करना चाहिए कि उसके समस्त छात्रों की वही दशा है।

इस प्रकार, यौन, यदि समस्त जीवन का नहीं तो किशोरावस्था का अवश्य ही, मूल तथ्य है। स्लॉटर (Slaughter) का कथन है कि "एक विशाल नदी के अतिप्रवाह के समान यह जीवन की भूमि के बड़े भागों को सींचता है और उपजाऊ बनाता है"; और किशोर-शिक्षा का सम्पूर्ण कार्य इस मूलप्रवृत्ति का 'दीर्घ चक्कर काटना' और उसकी चेतना-शक्ति (energy) का वैधानिक और उपयोगी मार्गों में पुनर्निर्देशन है। यह साधारण कार्य नहीं है। इँग्लैंड की पाठशालाओं में परम्परागत विधि किशोरावस्था वालों को कठोर शारीरिक खेलों में संलग्न करना है। यह सहायक हो सकता है; परन्तु यह विचार करना ठीक नहीं कि शारीरिक चेतना-शक्ति का बलात् व्यय मात्र ही नवयुवक अथवा नवयुवती को उसकी यौनिक कठिनाइयों से मुक्त कर देगा। यौन मानसिक शक्ति है, और यदि क्रीड़ाएँ सफल होती हैं तो इसका कारण आत्म-व्यंजना के साधन के रूप में उनका यह मानसिक प्रभाव है। अनिवार्य कठिनाई का एक अधिक व्यापक और अधिक स्वस्थ नुसखा (औषधि) प्रत्येक प्रकार की उत्पादक क्रिया (creative activity) में उत्कर्षण (sublimation) प्राप्त करना है।

यौन-शिक्षा की परम आवश्यकता को सभी अनुभव करते हैं। इस महत्त्वपूर्ण विषय में संकोच और मिथ्याविनय का परिणाम चुप्पी का विस्तृत षड्यन्त्र है जिससे अनेक नवयुवकों को अपार हानि हुई है। तरुण अथवा तरुणी को जीवन तथा अपने शरीर के तथ्यों का ज्ञान शुद्ध तथा स्वस्थ विधि से अवश्य होना चाहिए; यह ज्ञान उन गन्दी बातचीतों द्वारा न होना चाहिए जो उन्हें उनका विकृत रूप बताती हैं और फिर जहाँ से पीछे लौटना अत्यन्त कठिन हो जाता है। उसे एक ऐसे प्रौढ़ से गोपनीय शिक्षा की आवश्यकता है जिस पर उसे पूर्ण विश्वास हो। ठीक समय पर सीधी और स्पष्ट वार्ता की आवश्यकता है, केवल संकेतों से काम नहीं चल सकता।

हम स्वीकार करते हैं कि ऐसे कार्य में अनेक कठिनाइयाँ हैं और उत्तरदायित्व भी बहुत है, परन्तु अवश्य ही उस कठिनाई का मूल्य उस सेवा के परिणाम के सामने कुछ नहीं है, जो एक बुद्धिमान और सहानुभूतिपूर्ण प्रौढ़ किसी नवयुवक मित्र के प्रति उसके सन्देहों तथा कठिनाइयों से मुक्त होने के लिए अर्पित कर सकता है। अनेक किशोर, यह बिल्कुल न जानते हुए कि उनका क्या बिगाड़ हो रहा है, क्लेश सहन करते हैं, और यह विचार करने लगते हैं कि वे पतित आत्माएँ हैं, अथवा असामान्य (abnormal) हैं, अथवा रोग में जकड़े हुए हैं। यदि हम कोई ठोस सहायता देना चाहते हैं तो हमको जानना चाहिए कि सहानुभूति और सद्भावना की वृत्ति किसी विशेष विधि की अपेक्षा अधिक महत्त्वपूर्ण है। एक किशोर के लिए यह भारी सहायता है यदि उसे केवल यही ज्ञात हो जाय कि उसकी कठिनाइयों और भूलों के भागी उसी की आयु वाले अन्य मनुष्य भी हैं और इनको एक अधिक आयु वाला मित्र भली भाँति समझता है।

इस प्रमुख और विशेष लक्षण को अपने मन में रखते हुए

हमको अन्य लक्षणों की ओर बढ़ना चाहिए। निर्भरता व अधीनता की प्रवृत्ति फिर पाई जाती है, जो कुमार-अवस्था की स्वाधीनता के बिल्कुल विपरीत है। यह अधीनता, आवश्यक नही है कि मातापिताओं के प्रति ही हो, वरन् प्रायः उन वीरों के प्रति होती है जो वास्तविक जीवन में, इतिहास में अथवा साहित्य में पाये जाते हैं। यद्यपि यह प्रवृत्ति जैसे-जैसे किशोर अवस्था बढ़ती जाती है कम होती जाती है, परन्तु यह सम्पूर्ण रूप से कभी नष्ट नही होती, और हमें इसे, मातापिता के प्रति जो शिशु का अनुराग होता है, उसका ही विस्तार मानना चाहिए। नवयुवक अध्यापक और अध्यापिकाओं को यह अवश्य समझना चाहिए कि वे विशेष रूप से वीर अथवा वीरांगना के रूप में उत्कर्षित किये जा सकते है, और उनको अपने भक्तों के भले की अनुरूप परिस्थिति पर विचार और कार्य करना चाहिए। वीर कोई भी हो, बुद्धिमान् शिक्षक के लिए आवश्यक है कि वे उस वीर को व्यक्ति के रूप मे प्रशंसा का पात्र न समझ कर उन वांछनीय गुणों को आदर का पात्र समझें जो उस में है। पूर्व-बाल्य-अवस्था (early childhood) और किशोर अवस्था (adolescence) में जो निर्भरता की प्रवृत्तियाँ है उनमें एक महत्त्वपूर्ण भेद है। पहले काल में स्वयं अपने प्रति प्रेम और रुचि पाई जाती है, परन्तु पिछले काल में एक प्रेम-का-पात्र ढूँढ़ा जाता है जिसके प्रति वह आत्म-अर्पण कर सके। इस प्रकार किशोर अवस्था में हम को परोपकारी आचरण (altruistic conduct) का आरम्भ मिलता है।

निर्भरता की प्रवृत्ति का एक स्वरूप धार्मिक चेतनता का प्रादुर्भाव है। ईश्वर का स्वरूप परमपिता के रूप में किशोर को अत्यन्त प्रभावित करता है, क्योंकि वह अचेतन रूप से स्वयं अपने माता-पिताओं के आदर्शस्वरूप प्रतिनिधि ढूँढ़ता रहता है। उत्तर-

किशोरावस्था में धर्म में यह रुचि बाह्यगामी प्रवृत्ति द्वारा और भी बल पकड़ती है जो उसे जीवन की बाह्य सीमाओं तक ले जाती है। फिर, धर्म यौन-चेतना (sex-enery) के लिए बहिर्मार्ग देता है जब कि वह यौनि-कठिनाइयों को शान्त करने में बहुत सहायक होता है—अर्थात् आत्मा और शरीर' (spirit and flesh) में स्थायी संघर्ष जो इस काल में बहुत अधिक अनुभव होता है। ये प्रवृत्तियाँ, उसकी संवेगात्मक अस्थिरता के साथ, परिवर्तित हो सकती हैं—इस तथ्य का दोहन नहीं होना चाहिए, वरन् इसे केवल युवक के ही हित में संलग्न कर देना चाहिए।

परन्तु बहुधा धार्मिक अनुभव के पहले आनन्द के बाद सन्देह का काल आता है। किशोर को निराशा मिलती है क्योंकि धर्म उसकी नैतिक समस्त कठिनाइयों को हल नहीं करता है, और उन प्रौढ़ों के आचार से वह भ्रम में पड़ जाता है जो कहते हैं कि वे धर्म को मानते हैं, परन्तु उसके आदर्शों से नीचे रहते हैं। फिर विज्ञान के अध्ययन से भी उसे कठिनाई होती है जो संकीर्ण धार्मिक मत से टकराता है। इसका इलाज धार्मिक सिद्धान्तों को इतना व्यापक करना है कि उसमें विज्ञान के समस्त सिद्धान्तों का समावेश हो जाय। वह दर्शन में अपनी धार्मिक कठिनाइयों की मुक्ति प्राप्त कर सकता है; बहुधा जीवन की यूनानी कल्पना की ओर उसका आकर्षण हो सकता है—सरलता या सादगी, संतुलन, और स्वर्णिम मध्यक (golden mean)। विज्ञान के वेष में वह सत्य की खोज में लग सकता है, अथवा कला के रूपों में सुन्दरता (सत्यं शिवं सुन्दरम्) को देख सकता है, यद्यपि यहाँ वह प्रायः क्षयिक (decadent) और अति आधुनिक में अपनी अभिरुचि बढ़ा लेता है।

इस काल के आरम्भ में उसका सामान्य नैतिक आचरण अस्त-व्यस्त हो सकता है और पहले से नहीं बताया जा सकता है।

बच्चे के समान, किशोर को भी आत्म-नियन्त्रण (self-control) सीखना पड़ता है—इस बार मुख्यकर अपनी यौनिक प्रवृत्ति व्यंजना पर। बच्चे की अपेक्षा वह संवेगात्मक विस्फोटों को अधिक अंश तक दबा सकता और रोक सकता है, परन्तु उसके सामने स्वयं अपने यौन-जीवन की आवश्यक समस्या रहती है; और उसमें प्रौढ़ की अपेक्षा इतना कम आत्म-नियत्रण रहता है, जितना कि शिशु में दस वर्ष के बच्चे की अपेक्षा।

आत्म-नियन्त्रण प्राप्त करने में आदर्शों का निर्माण उसे सहायता पहुँचाता है। उसकी वीर-पूजा (hero-worship) का परिणाम अपने वीर के नैतिक गुणों के लिए प्रेम के भाव और एक आदर्श आत्म के लिए अपने स्थायीभाव में इनको क्रमशः सम्मिलित करने में है। किशोर अवस्था आत्म को एक स्थिर और स्थायी वस्तु में अन्तिम दृढ़ीकरण करने की अवस्था है। जैसे-जैसे उसका दृढ़ीकरण होता जाता है संकल्प-शक्ति विकसित होती जाती है; बढ़ते हुए ज्ञान के द्वारा नवयुवक अपने आवेगों को ठीक रूप में देखता है, उन्हें एक-दूसरे से तथा सम्पूर्ण आत्म से सम्बन्धित करता है और इसलिए उन्हें नियन्त्रित करता है। नैतिक चरित्र का उच्चतम प्रक्रम तब होता है जब कि व्यवहार सामाजिक प्रशंसा अथवा दोष से नहीं वरन् आदर्शों से निर्देशित होता है। बहुत कम मनुष्य ऐसे है जो सामाजिक परिणामों की परवाह न करके अपने भीतरी प्रकाश के अनुसार आचरण करते हैं, परन्तु ये ही अल्पसंख्यक मनुष्य पृथ्वी के रत्न हैं।

अंत में आरम्भिक वर्षो का सामुदायिक आवेग सामाजिक व्यवहार के निश्चित रूपों में उत्कर्षित हो जाता है। पूर्व किशोर-अवस्था का आत्म अधूरा प्रतीत होता है; समाज-सेवा के आदर्श निर्मित होते है तथा पोषित किये जाते हैं, और नवयुवक का उदार हृदय मानव-जाति के प्रेम से ओत-प्रोत हो जाता है, तथा

आदर्श समाज के निर्माण में सहायता करने की इच्छा से उद्विग्न हो उठता है। किशोर स्वभाव से ही सुधारक होता है। बुद्धिमान् शिक्षक इन उदार आवेगों को उपोयोगी मार्गों में ले जायेगा और उन नवयुवकों के प्रति उसे सहानुभूति होगी जो कल्पना के स्वप्नों में विचरण करते हैं।

इस काल के अन्त में प्रौढ़ता आती है, जो इस बार स्थायी होती है। इस समय प्रकृति, मनुष्य और वस्तुओं की ओर अभिरुचि फिर बाह्य हो जाती है। कल्पनाएँ लुप्त होने लगती हैं और यथार्थता सामने आ जाती है। अठारह वर्ष का नवयुवक 'संसारी मनुष्य' है, जो व्यावहारिक समस्याओं में लीन है और जिसे अपने कार्यों के ज्ञान तथा अपनी व्यावहारिक योग्यता पर गर्व है। वह एक जीवन-मार्ग निश्चित करता है जो अधिकतर उसके पहले वीर (hero) का होता है और धीरे-धीरे पूर्ण मनुष्य के पथ पर चलने लगता है।

यह हमारे समय का अत्यन्त उत्साहवर्द्धक चिन्ह है कि हमारी राष्ट्रीय शिक्षा-प्रणाली अभी बतलाये गये विकास के क्रमों की मान्यता पर आधारित की जा रही है। नर्सरी स्कूल (nursury schools) पाँच वर्ष से कम आयु के उन बच्चों के लिए स्थापित किये जा रहे हैं जिनके घर किसी कारण से उनकी कोमल अवस्था के लिए अनुपयुक्त वातावरण है। शिशु पाठशालाएँ (infant schools) जो बहुत काल से हमारी शिक्षा-प्रणाली के लिए गौरव की वस्तु रहीं, सात वर्ष तक के बच्चों के लिए हैं और उनके पाठ्य-क्रम तथा पाठन-विधि स्वस्थ बाल-मनोविज्ञान पर आधारित हैं। ऐसी पाठशालाओं में जो परिश्रम करते हैं उनकी दूरदर्शिता और श्रद्धा की जितनी प्रशंसा की जाय कम ही है। प्रारम्भिक स्कूल (primary schools) में परिवर्तन सात वर्ष की उचित आयु पर किया जाता है और

यहाँ पर बच्चा ग्यारह वर्ष की अवस्था तक रहता है। प्रारम्भिक शिक्षा में तीन प्रधान विषयों को प्रमुख मानना चाहिए—पढ़ना, लिखना और गणित (the three R's)—जो सीखने के अस्त्र हैं और जो किशोर शिक्षा (adolescent education) के लिए उपयुक्त सामग्री एकत्र करते हैं। इसमें कोई सन्देह नहीं कि जीवन के इस काल के लिए प्रारम्भिक पाठशाला ने बहुत अमूल्य कार्य किया है।

परन्तु अब तक महत्त्वपूर्ण किशोर अवस्था के बालकों के लिए शिक्षा केवल थोड़े से बच्चों तक ही सीमित है। कम तेज बच्चे, जिनको माध्यमिक (secondary) अथवा विशिष्ट केन्द्रीय पाठशाला में स्थान नहीं मिलता, चौदह वर्ष की महत्त्व-पूर्ण आयु तक अपनी पुरानी पाठशाला में ही पड़े रहते हैं, जब वे भटकने लगते हैं, अज्ञान होते हैं और जीवन के लिये अनुपयुक्त होते हैं। क्योंकि लड़कों के लिए चौदह वर्ष सामान्य तरुण अवस्था है (लड़कियों में यह दो वर्ष पहले है), यह पापमय है कि समाज ने ऐसे समय पर शैक्षिक प्रयत्न को रोक दिया। परन्तु अब जाग्रत जन-मत हैडो रिपोर्ट (Hadow Report) में घनीभूत है जो किशोर-शिक्षा का अमूल्य राज-पत्र है; और आशा की जाती है कि उसका उप-प्रमेय, कि पाठशाला में रहने की अवस्था पन्द्रह वर्ष तक कर दी जाय, शीघ्र कार्यान्वित हो जायगा। इस प्रकार व्यापक किशोर-शिक्षा (universal adolescent education) शीघ्र ही -वास्तविकता का रूप ले लेगी।

रिपोर्ट के अनुसार पाठशाला-आयु बढ़ाने तथा नयी पाठशालाओं का निर्माण करने के शुभ अवसर का शिक्षक क्या प्रयोग करेगा ? उसे प्रारम्भिक पाठशालाओं की ऊँची कक्षाओं की परम्परागत विधियों को छोड़ना पड़ेगा जहाँ वे अनुपयुक्त हैं और हैडो कमिटी के आधार पर समस्त समस्या को नये सिरे से देखना पड़ेगा।

सर्वोपरि, उसे इस मत के अनुसार कार्य करना पड़ेगा जो रिपोर्ट के प्रारम्भ में व्यक्त किया गया है—"ग्यारह या बारह वर्ष की आयु में बालक की नसों में एक ज्वार उठना आरम्भ होता है। इसको हम किशोर-अवस्था (adolescence) के नाम से पुकारते हैं। यदि इस ज्वार को बाढ़ के समय ही उपयोग में ले लिया जाय और नई यात्रा उसके बल और धारा के प्रवाह के साथ-साथ आरम्भ कर दी जाय तो हमारा विचार है कि उत्तम सफलता अवश्य प्राप्त होगी।" उसके लिए किशोर अवस्था केन्द्रीय तथ्य है जो उन समस्त प्रयत्नों को निर्देशित करता है।

रिपोर्ट सिफारिश करती है कि प्रारम्भिक और माध्यमिक पाठशालाओं के वर्तमान अतिव्यापन के स्थान पर प्रारम्भिक और उत्तर-प्रारम्भिक पाठशालाओं के ध्येय बिल्कुल स्पष्ट, प्रथक और निश्चित हो जाने चाहिएँ। प्रारम्भिक शिक्षा समस्त बच्चों के लिए ग्यारह वर्ष की अवस्था पर बन्द हो जानी चाहिए, और इसके बाद उत्तर-प्रारम्भिक शिक्षा आरम्भ होनी चाहिए, जिसका नारा "माध्यम शिक्षा सब के लिए" (secondary education for all) एक वास्तविकता होनी चाहिए। किशोर अवस्था की विभिन्न आवश्यकताओं के अनुकूल भिन्न-भिन्न प्रकार की पाठशालाएँ खोली जायँगी; वर्तमान माध्यमिक पाठशालाओं के अतिरिक्त जो ग्रामर पाठशालाएँ (grammar schools) कहलायेंगी कुछ आधुनिक पाठशालाएँ (modern schools) होंगी, जो विशिष्ट (selective) तथा सामान्य (non-selective) दोनों प्रकार की होंगी। इनमें "अनेक विषयों की सदय और उदार शिक्षा दी जायगी, जो केवल पुस्तकों द्वारा ही नहीं दी जायगी, वरन् वह जो बच्चों को मानव-जाति की बृहत् रुचियों से सम्बद्ध करती है।" उनके पाठ्य-क्रम में, जो समष्टि रूप से चार वर्ष का होगा, "व्यावहारिक कार्य के लिए

अनेक अवसर प्राप्त होंगे और उसका सजीव रुचियों से घनिष्ठ सम्बन्ध होगा।" विषयों का प्रतिपादन "विस्तृत अर्थ में क्रियात्मक और प्रतिदिन के जीवन के तथ्यों के साथ प्रत्यक्ष रूप से" होगा। आधुनिक पाठशालाएँ अवश्य ही "क्रम के तीसरे अथवा चौथे वर्ष में पाठ्क्रम को एक व्यावहारिक झुकाव देंगी, और यह झुकाव स्थानीय परिस्थितियों पर विशेष रूप से विचार करने के पश्चात् दिया जायगा," और वह "इतना अधिक विशिष्ट न होगा कि छात्रों की सामान्य शिक्षा मे अड़चन डाले।"

ऐसी सुन्दर आकांक्षाओं की सफलता के लिए प्रबन्धात्मक उत्साह से भी कुछ अधिक होना चाहिए। आगे का कदम अवश्य उठाया जायगा यदि ऐसे अध्यापक पर्याप्त संख्या में मिल सकें जो सहानुभूति, बोध और उत्साह से परिपूर्ण होकर राष्ट्र के बालकों के प्रश्न को हाथ में लें और अपना जीवन उसकी सेवा में अर्पित कर दें।

(उपर्युक्त वर्णन इंग्लेंड की पाठशालाओं के सम्बन्ध में है। स्वतन्त्रता की प्राप्ति के पश्चात् हमारे देश में भी शिक्षा में प्रगति के चिन्ह दिखाई देते है। शिशुओं की शिक्षा के लिए देश में अनेक मोंटसोरी पाठशालाएँ खुल गई है और खुलती जा रही है। प्रारम्भिक शिक्षा के लिए 'बेसिक शिक्षा योजना' है। इधर माध्यमिक शिक्षा पर मुदालियर आयोग रिपोर्ट सन् १९५४ ई० में तैयार हुई है। यह बड़े परिश्रम से लिखी गई है और इसमें अनेक उपयोगी सुझाव दिये गये है। विद्यालयों और विश्वविद्यालयों मे भी स्तर ऊँचा और जीवनोपयोगी करने के लिए उचित परिवर्तन किये जा रहे है। यदि इन योजनाओं के अनुसार कार्य किया जाय तो देश के लिए राष्ट्रीय शिक्षा का एक निश्चित और अत्यन्त उपयोगी क्रम बन सकता है।)

विशेष अध्ययन के लिए

Jones : "Some Problems of Adolesence" *Brit. Joue. Psyeh.* vol. xiii, 1922-23.

Hall : *Adolescence.*

Nunn : *Education : sts Data aud First Principles,* Chapter xli.

Slaughter : *The Adolescant*

Read : *The, Struggles of Malc Adolescence.*

Board of Education : *The Edncation of the Adolescent.*

: ९ :

मानसिक संघर्ष

(Mental Conflict)

विकास की कठिनाइयों और विलक्षणताओं के विषय में यद्यपि पिछले अध्याय में कुछ नहीं कहा गया है, परन्तु यह स्पष्ट है कि बाल्य-अवस्था से प्रौढ़-अवस्था तक वृद्धि सदा ही सन्तोष-जनक रीति से पूर्ण नहीं होती। उदाहरण के लिए, व्यक्ति को प्रायः किशोर अवस्था से प्रौढ़ अवस्था में पहुँचने के लिए वास्तविक प्रयास करना पड़ता है, और उसकी सफलता किसी प्रकार निश्चित समझी जा सकती है। केवल यही नहीं होता कि हम एक ही अवस्था में रहे आयें जब कि हमको अगली अवस्था में पहुँचना चाहिए, वरन् कभी-कभी ऊँचे स्तर से नीचे स्तर पर लौटने का भय रहता है।

आचार्य फ्रॉयड (Freud) के परिश्रम से प्राप्त मनोवैज्ञानिक सिद्धान्त विभिन्न नामों से पुकारा जाता है, जिसे मनोविश्लेषण (psycho-analysis), नवीन मनोविज्ञान (new psychology) और अचेतन का मनोविज्ञान (psychology of the unconscious) कहते हैं। इसने हमारे लिए विकास की असफलताओं पर बहुत प्रकाश डाला है और बेढंगे, कठिन और असमयोजित (awkward, different and unadjusted) बच्चों का उपचार करने की उचित विधियों को बताने में बड़ी सहायता की है। यद्यपि उस सिद्धान्त

का प्रमुख तत्त्व यौन (sex) पर बल है, परन्तु यह विचार करना भूल होगी कि मनोविज्ञान में उसकी देन केवल यही है अथवा यह उसकी मुख्य देन है। यह तो कम महत्त्व की बात है कि प्राथमिक प्रयोजन या प्रेरणा (primitive horme) यौनिक रुचि (sexually coloured libido) है, अथवा वह आरम्भ से ही उदासीन है। मेकडूगल (McDougall) जो फ्रॉयड (Freud) और उसके अनुयायिओं के समस्त सिद्धान्तों को नहीं मानता, फ्रॉयड की मुख्य स्थिति के साथ सहमत होने पर बल देता है—कि प्रयोजन या प्रेरणा (horme) अथवा चेतना (libido) की भाँति इस प्रकार की कल्पना के बल पर ही क्रियाशील मनोविज्ञान का निर्माण किया जा सकता है। फ्रॉयड की शिक्षा सर्व प्रथम मन के उस भाग की क्रिया से सम्बन्धित है जो अचेतन है। अंतःप्रेक्षणमूलक (introspective) मनोवैज्ञानिकों के लिए चेतनता (conscionsness) मन था और मनोविज्ञान बोधित व व्यक्तिगत अनुभव (apprehended, individual experience) का अध्यय था; परन्तु मनोविश्लेषणज्ञ (psycho-analyst) की दृष्टि में चेतनता हमारे मानसिक जीवन का धरातल मात्र है और अध्ययन का वास्तविक विषय छिपी हुई गहराइयाँ—अचेतन—हैं जो अंतः प्रेक्षण द्वारा कभी नहीं ज्ञात की जा सकतीं।

इन पृष्ठों में हमने इस 'अचेतन' (unconscious) और परिकल्पनामूलक मानसिक रचना (hypothetical mental structure) और उसके तथा अनुभव के बीच में भेद पर बल दिया है। हमने बताया था कि अचेतन (the unconscious) में दो मुख्य गुण है—संचय-शक्ति (mneme) अर्थात् पूर्व अनुभव से प्राप्त तत्त्वों को सुरक्षित करने की शक्ति और प्रयोजन या प्रेरणा (horme) अथवा क्रियाशीलता। अब देखना चाहिए

कि अपने प्रेरणामूलक स्वभाव के कारण अचेतन में दो शक्तियाँ है, प्रथम तो अनुभव और व्यवहार को निश्चित करना; दूसरे, उसके तत्त्वों को समूहों में संयुक्त करना, जो स्वयं अपनी ही एकता रखते हों। अब हमको प्रयोजन के इस दूसरे प्रादुर्भाव का अग्रेतर अध्ययन करना चाहिए, अर्थात् अंतःमानसिक प्रक्रिया (endo-psychic process) जिसका घटक (subject) को ज्ञान नही है। इसके लिए हमको फ्रॉयड तथा उसकी विचार-धारा के लोगों से पथ-प्रदर्शन प्राप्त करना पड़ेगा।

इससे पूर्व के अध्यायों में भी हमने अचेतन की वृद्धि की रूप-रेखा तैयार की थी। हमने ज्ञात किया था कि जन्म के समय उसमें मनःव्यवस्थाओं (dispositions) के रूप में कुछ अंश तक व्यवस्था होती है जिसके विषय में हमको यह कल्पना नहीं करनी पड़ती है कि वे जाति के गत इतिहास के अनुरूप जन्मपूर्व (prenatal) के जीवन के महीनों में निर्मित होते हैं। हमने देखा था कि किस प्रकार अनुभव अपने कुछ उत्तर-प्रभाव या संस्कार-अवशेष (engrams) छोड़ जाता है जो मृत संग्रह नही हैं, वरन् अचेतन के क्रियाशील अंश है, जो उन रचनाओं में प्रवेश करते हैं और उनका रूपान्तर करते है जो वहाँ पहले से ही प्रस्तुत हैं। फिर हमने स्थायीभाव (sentiment) का अध्ययन किया था जिसको हमने एक सामान्य वस्तु के चारों ओर भावनिक-प्रेरणिक प्रवृत्तियों (affective-conative tendencies) की वृहत् व्यवस्था के रूप में देखा था। अन्त में हमने देखा था कि संलग्नता का सिद्धान्त स्थायी भावों पर बराबर लागू है जो स्वयं रुचि की एक सामान्य वस्तु के चारों ओर एक समूह बनाने की प्रकृति रखते हैं। क्योंकि समस्त स्थायी भावों को समझने की क्षमता रखने वाली एकमात्र वस्तु आत्म है, आत्म-भाव सामान्य-रूप से समस्त ज्ञानमूलक वृत्तियों की एक सृष्टि है।

परन्तु, जैसा हम कह चुके हैं, इस प्रकार वर्णित विकास सदा सरलतापूर्वक आगे नहीं बढ़ता। यदि वह ऐसा करता तो अचेतन एक बिल्कुल पूर्ण व्यवस्थित इकाई होता, और बिल्कुल निश्चित रूप से व्यवहार की रीति तय हो जाती जिस पर उसके स्वामी को आचरण करना पड़ता। किसी में भी यह व्यवस्था पूर्ण नहीं है। जैसे-जैसे स्थायीभाव बनते हैं, कुछ मानो भ्रमणशील प्रवृत्तियाँ होती हैं जो दूसरे के साथ नहीं जुड़ती हैं; और जैसे आत्म-भाव बनता है कुछ हठी प्रवृत्तियाँ होती हैं और कभी-कभी पूर्ण स्थायी-भाव भी होते हैं जो समूह में प्रवेश करने के लिए तैयार नहीं होते, क्योंकि घटक (subject) उनको आत्म अथवा आदर्श आत्म का अंश मानने को तैयार नही होता। व्यवस्था की यह कमी भाव-ग्रन्थियों (complexes) को उनके कार्य से नहीं रोकती। अनुभव तथा व्यवहार में कार्य करने का प्रयत्न करती हुई वे अब भी बहुत सजीव हैं, और इस प्रकार प्रमुख-भाव अथवा व्यक्ति के मुख्य मानसिक झुकाव से संघर्ष करती हैं। यही मानसिक संघर्ष है जो व्यवहार की समस्त असामान्यताओं की जड़ में है।

यह सम्भव है कि घटक संघर्ष के विषय में पूरी चेतना रखता हो और उन आवेगों का उसे पूरा ज्ञान हो जो उसे विपरीत दिशाओं की ओर प्रेरित करते हैं। उदाहरण के लिए, आत्म और शरीर (spirit and flesh) के संघर्ष से सभी भलीभाँति परिचित हैं जिसका वर्णन धर्मोपदेशकों ने किया है और जिसका अनुभव प्रत्येक ऐसे मनुष्य को है जिसने आचार के आदर्श बनाये हैं और जिसने उन आदर्शों पर चलने का प्रयत्न किया है। थोड़े से अन्तः-प्रेक्षण द्वारा हम देख सकेंगे कि कुछ अवसरों पर क्रोध कोमल संवेग से संघर्ष करता है, और जिज्ञासा भय से। इसमें कोई नयी बात नहीं है। नवीनता केवल उस मनोविश्लेषण (psycho-analytic) सिद्धान्त में है कि संघर्ष अंतःमानसिक (endo-

psychic) प्रक्रिया के रूप में हो रहा हो और व्यक्ति को यह बिल्कुल न ज्ञात हो कि धरातल के नीचे उसका मन विरोधी आवेगों का युद्धस्थल है। मनोविश्लेषण की यह बहुत बड़ी देन है कि उसने मानसिक संघर्ष की दृष्टि से उस व्यवहार का समाधान कर दिया है जो अभी तक नहीं किया जा सका था।

मानसिक संघर्ष दुखदायी और कष्टप्रद है। स्पष्ट है कि जो चेतना-शक्ति (energy) उसमें व्यय की जाती है दूसरे कामों के लिए नही मिल रही है; जिस मन में संघर्ष चल रहा है उससे यह आशा नही की जा सकती कि वह कठिन परिस्थिति का मुक़ाबला सफलतापूर्वक कर सके। हम जानते है चेतन स्तर पर लगभग समान बल वाले विरोधी प्रेरकों (motives) के बीच में निश्चय करना कितना कठिन है; और हम मनोविश्लेषण से सीखते हैं कि अचेतन में संघर्ष की दशा चेतना-शक्ति को उतना ही नष्ट करती है। परन्तु इस मानसिक विकलता से दूर रहने की हम में बलवती प्रवृत्ति है। हम अनिश्चित समय के लिए विरोधी दशाओ में जाने को मजबूर नही हो सकते और विरोधी तत्त्वों के बीच में स्थायी अथवा क्षणिक शान्ति स्थापित करने के लिए हमारे मनों ने अनेक विधियाँ विकसित कर ली है।

अत्यन्त सन्तोषजनक निराकरण उस समय मिलता है जब विरोधी ग्रन्थियाँ अथवा स्थायी-भाव एक दूसरे के साथ अथवा आत्म के साथ मेल करते है। यह हो सकता है कि वहाँ मानो मध्यस्थता द्वारा संधि हुई हो। परन्तु नवीन अंतः मानसिक संघर्ष इस प्रकार से नहीं निश्चित किये जा सकते, जब तक कि आत्म को परिस्थिति का ज्ञान न हो। यदि एक मनुष्य यह नही जानता है कि कोई विशेष ग्रन्थि उसके मनमें स्थित है, तो वह उसे स्वयं का भाग नही मान सकता, अथवा वह अपने आदर्शो से उसका समन्वय नहीं कर सकता। यह मनोविश्लेषण का

कार्य है कि वह स्वप्न-विश्लेषण (dream-analysis) और शब्द-सहयोजन (word-association) की विशेष विधि से अचेतन आवेगों का ज्ञान अपने स्वामी को कराये। आत्म की व्यवस्था जितनी अधिक प्रबल होगी उतनी ही अधिक वह विरोधी तत्त्वों का समन्वय करने में और उसमें व्यक्तित्व की जान फूँकने में सफल होगी; वास्तव में मन का सामान्यत्व (normality) इस समन्वय के हो जाने पर निर्भर है।

परन्तु यह पुनःसंघटन सदा नहीं होता। एक विरोधी ग्रन्थि इतनी प्रबल व्यवस्थित हो सकती है और वह मन का इतना आवश्यक भाग हो सकती है कि मुख्य आत्म को उस पर प्रधानता प्राप्त करना असंभव हो। ऐसी परिस्थिति में छापामार युद्ध स्थायी दशा में हो जाता है और विरोधी तत्त्व पारी-पारी से विजयी होने के प्रयत्न करते हैं। यह गौण अथवा विकल्प व्यक्तित्व की घटना का समाधान है। एक गौण व्यक्तित्व चेष्टामूलक प्रवृत्तियों की अप्रधान व्यवस्था है जो अनुभव और व्यवहार को निश्चित कर सकती है जब कि मुख्य व्यक्तित्व कुछ काल के लिए अपना स्थान छोड़ देता है। दोनों संघटनों में एक-दूसरे से प्रथक् रहने की प्रवृत्ति हो जाती है और कुछ दशाओं में एक को अपने प्रतिद्वन्दी के विषय में कुछ नही मालूम हो पाता है। अनेक प्रसिद्ध लेखकों का कथन है कि उनको सामग्री गौण व्यक्तित्व से प्राप्त हुई है और मुख्य व्यक्तित्व ने उनको व्यवस्थित किया है। उदाहरण के लिए, स्टिवेंसन (Stevenson) ने अपने एक सुन्दर निबन्ध [1] में कहा है कि उसकी कहानियों का कथानक उसके मस्तिष्क के रंग-मंच पर उसके 'प्रेतों' (Brownies) ने खेला था, जबकि स्वयं उसने कहानी को व्यवस्थित रूप दिया और सम्पूर्ण को सुन्दरतम शब्दों और वाक्यों से सँजोया जो उसे मिल सके। बेरी (Barrie)

[1] "A Chapter on Dreams," in *Across the Plains.*

ने भी ऐसे ही भाव व्यक्त किये हैं। अतएव ऐसे कोमल प्रथक्-करण (disassociations) साहित्यिक प्रतिभा के सहायक हो सकते हैं। प्रथक्करण सभी अंशों में पाया जाता है, उस मनुष्य से लेकर जो विभिन्न मानसिक पात्रों को भिन्न-भिन्न सामाजिक परिस्थितियों के अनुरूप स्वतः लगा सकता है, उस व्यक्ति तक जिसके इतरेतर व्यक्तित्व एक-दूसरे से नितान्त प्रथक् है।

हम एक तीसरी विधि पर और विचार कर सकते है, जिसके अनुसार संघर्ष कुछ सीमा तक निश्चित किया जा सकता है। इसकी तुलना हम वास्तविक युद्ध में आदेशित शान्ति से कर सकते है। कभी-कभी ऐसा होता है कि एक विद्रोही ग्रन्थि जो मुख्य व्यक्तित्व की विरोधी है, न इतनी बलवती है और न इतनी महत्त्व-पूर्ण है कि एक गौण व्यक्तित्व का वह प्रकेन्द्र हो। ऐसी दशा में भाव-ग्रन्थि को दबाना पड़ता है; अर्थात्, वह अनुभव और व्यवहार को प्रत्यक्ष रूप से निर्णीत करने से वंचित कर दी जाती है, और इस तरह मानसिक रचना में किसी मनःव्यवस्था के सामान्य कार्य को पूर्ण नही कर सकती। यदि उसे अनुभव को निश्चित करने दिया जाय तो घटक को संघर्ष का ज्ञान रहेगा और वह उस मानसिक कष्ट को सहता रहेगा, जिससे जैसा हम देख चुके हैं, वह बहुत बचना चाहता है। एक ग्रन्थि का अवरोधन कठिनाई का सामयिक हल है। अवरोधक शक्ति अवश्य ही मुख्य व्यक्तित्व है।

फ्रॉयड (Freud) ने इन तथ्यों का बड़े रोचक ढङ्ग से वर्णन किया है। उसने अचेतन को बड़े पृष्ठ-कमरे (anteroom) के समान बताया है जिसकी बग़ल में एक छोटा आदान-कमरा (reception room) है, जो पूर्व-चेतन क्रम (precon-scious system) है। पृष्ठ-कमरे में सब प्रकार की मानसिक

उत्तेजनाओं का समूह है जो आदान-कमरे में जाना चाहती हैं जहाँ सम्भवतः वे 'चेतनता' की निगाह में पड़ सकें, जो पूर्व-चेतन प्रणाली की अधिष्ठात्री देवी है। परन्तु दोनों कमरों के बीच के द्वार की रक्षा करते हुए प्रतिहारी या संसर (censor) है, जो एक प्रकार का प्रेत है और जिसका कार्य पूर्वचेतन में प्रवेश के लिए समस्त आवेदन-पत्रों का परीक्षण करना तथा जो उसको अमान्य हों उनका निषेध करना है। इसलिए, वे उद्दीपन जिनको बलात् अचेतन में रहना पड़ता है दब जाते हैं; अर्थात् वे अपने ठीक रूप में चेतन होने के योग्य नहीं रहते। परन्तु, यदि वे भली-भाँति अपने वेष बदल लेते हैं तो वे दोषवेचक की निगाह से बच जाते हैं और पूर्वचेतन में प्रवेश कर जाते हैं। इस प्रकार फ्रॉयड का अचेतन (unconscious) प्रत्ययों से भरे हुए मन का एक भाग है जिनका प्रवेश केवल उनके गुणों के कारण चेतन में नही किया जा सकता।

समस्त रूपकों के समान दो कोठरियाँ, उनके निवासी, और दोषवेचक (censor) की कल्पनाएँ हम को धोखा दे सकती है, यदि हम उनको सेवक होने के स्थान पर अपना स्वामी बन जाने दें। मन की परिकल्पनाओं के रूप में उनका विचार करते हुए वे मानसिक रचना, अनुभव, संस्कार-ग्रन्थियाँ (engram-complexes), और स्वाभिमान-स्थायीभाव की कल्पनाओं की अपेक्षा कम सम्भावित हैं, जिनको हम अपने अध्ययन में बराबर मानते रहे है। परन्तु यदि हम उनको अपक्व परन्तु लाभदायक रूपक मानते है तो कोई हानि नहीं हो सकती; और यह कहना बिल्कुल उचित है कि फ्रॉयड का मन का सिद्धान्त व्यवहार में बिल्कुल ठीक उतरता है।

अपनी परिकल्पनाओं को काम में लाते हुए हमको इस तथ्य पर बल देना चाहिए कि अवरोधित ग्रन्थि अब भी मन का एक

क्रियाशील भाग है और मानसिक चेतना-शक्ति का केन्द्र है जो अनुभव के निश्चय करने में व्यय नहीं होता। संघटित व्यक्ति की चेतना-शक्ति का एक भाग ऐसी ग्रन्थि के अवरोधन करने में व्यय हो जाता है, और यह चेतना-शक्ति भी इसलिए विचार और कार्य में काम नही आ सकती। मन की एकता नष्ट हो जाती है; हम उसकी तुलना ऐसे देश से कर सकते हैं जिसमें एक विद्रोही प्रान्त हे जिसे नियन्त्रण में रखना पड़ता हें। भाव-ग्रन्थि का मुख्य व्यक्तित्व के साथ संश्लेषण नहीं होता और वह प्रथक् रहती है; परन्तु वह अपनी अवरोधित चेतना-शक्ति को व्यय करने का कोई साधन अवश्य प्राप्त करती हे। वह ऐसे अनुभवों को निश्चित करने में सफल हो सकती है जो संघर्ष को एकदम अभिज्ञता (awareness) के स्तर पर न ला सकें। ऐसे अनुभव एक प्रकार से दोषहीन होते हैं और अपने वास्तविक उद्गम को नहीं दिखाते। इस प्रकार हमारे अनुभव के बहुत से तथ्य दूसरों के बदले में हैं जिनका यदि अस्तित्व होने दिया जाय तो वे चेतन मन में एक दुखद संघर्ष उत्पन्न कर देंगे। उदाहरण के लिए, निरन्तर हाथों का धोना प्रतीक रूप से स्वच्छता हो सकता है— उन स्मृतियों का स्थानापन्न, जो लज्जा और अपराध के असहनीय आशय अपने साथ लायेंगे। अँग्रेजी साहित्य में पाइलेट (Pilate) और लेडी मेकबेथ (Lady Macbeth) इसके प्रसिद्ध उदाहरण हैं, और हिन्दी साहित्य में मंथरा।

ऐसे प्रतीकों (symbols) का आविर्भाव बहुधा स्वप्नों (dreams) में होता है। यह सत्य है कि बहुत से स्वप्नों में कोई प्रतीक नही होता। प्रतिहारी अपने पहरे पर नहीं है, और अपराध का तत्त्व नहीं रहता; इसलिए, अवरोधित ग्रन्थियों को चेतन इच्छाओं को निश्चित करने का अधिक अवसर मिलता है जो अपक्व और अस्पष्ट हैं। यदि वे हमें जगने पर याद रहते हैं तो

ऐसे स्वप्न हमारे नैतिक बोधन को गहरा धक्का पहुँचाते हैं। परन्तु हम में स्वप्नों के भूलने की प्रबल प्रवृत्ति है और हम इस परिणाम पर पहुँचते हैं, कि स्वप्न जिनको स्मरण करना कठिन है ठीक वे ही है जिनका यदि हम पुनः आवाहन करें तो संघर्ष हो जाय। परन्तु अन्य स्वप्नों में सामान्य जाग्रत अवरोध (inhibition) एक विन्दु तक क्रियाशील रहते है; अवरोधित ग्रन्थियों को अपना स्वरूप छिपाना पड़ता है और वे अपने प्रतीकों के रूप में प्रदर्शित होती है। मनो-विश्लेषकों का कथन है कि बहुत से स्वप्न-प्रतीक समस्त मानव जाति में पाये जाते है। इस प्रकार, उदाहरणार्थ, स्वप्न में राजा का अर्थ पिता से हो जाता है। जोसेफ़ के स्वप्न में ऐसे प्रतीकों के बहुत सुन्दर उदाहरण मिलते हैं, जहाँ सूर्य, चन्द्रमा और तारों का अर्थ क्रमशः स्वप्न देखने वाले के पिता, माता तथा भाइयों से है।

फ्रॉयड, जंग और उनके अनुयायियों के परिश्रम ने स्वप्नों पर बहुत प्रकाश डाला है, और उन्होंने प्राचीन विश्वास का पोषण किया है कि प्रवीण व्याख्याकार उनका बोधगम्य अर्थ लगा सकता है। हम उनकी गवेषणा का ज्ञान करने का लोभ यहाँ छोड़ते हैं। फिर भी, सामान्य भय-स्वप्न हमारे लिए कुछ महत्त्व का है, क्योंकि वह बाल्य-अवस्था और किशोर-अवस्था में बहुधा हुआ करता है। ऐसे स्वप्न में हमको विकराल भय मालूम होता है, और हम जाग उठते हैं यह न जानते हुए कि हमारे भय का कारण क्या है। कहा जाता है कि यह अस्पष्ट भय वास्तव में ऐसा भय है कि अवरोधित ग्रन्थि एक व्यञ्जना के रूप में प्रस्फुटित होने वाली है जिसको प्रधान व्यक्तित्व इतनी तीव्रता से अस्वीकार करता है, और जो व्यक्ति के समय पर जाग पड़ने से घटक द्वारा रोक दी जाती है। गिरने-के-स्वप्न का समाधान भी इसी प्रकार किया जा सकता है; भौतिक (दैहिक) गिरावट

आत्मसन्मान के पतन का प्रतीक है जो अवश्य हो जाय यदि अवरोधित तथ्यों को अवसर दे दिया जाय। हम अवश्य ही खड़ी चट्टान के किनारे पर पहुँचने से पहले ही जाग पड़ते है और इस प्रकार गिरने का पूर्वबोधन प्राप्त करते है और उससे बचते है।

निद्राभ्रमण या निद्राचार (somnambulism) एक कार्यरत स्वप्न है और सदा मानसिक संघर्ष का प्रतीक है। फिर प्रधान व्यक्तित्व—अवरोधित शक्ति—ने अपना स्थान छोड़ दिया है और अवरोधित तथ्यों को अनुभव तथा कार्य को निश्चित करने का अवसर प्राप्त हुआ है। इसलिए निद्रा-चालक (नीद में चलने वाला) जगने पर अपने निद्राचारी अनुभवों के विषय में कुछ नही स्मरण कर सकता, क्योंकि वह अपने व्यक्तित्व के अवरोधित भाग के प्रभाव में है।

अवरोधनों के अन्य प्रादुर्भाव उन छोटी-छोटी चालाकी की बातों तथा व्यक्तिरीतियों (mannerisms) में पाये जाते है जो युक्तियुक्त नही है और जो प्रायः किसी दूसरी वस्तु के प्रतीक मात्र है। ऐसे आत्म-कार्य (antomatisms) सरल छोटी आदतो से लेकर अत्यन्त जटिल क्रियाओं तक विभिन्न प्रकार के हो सकते है। हक़लाना (stammering) प्रायः मानसिक संघर्ष का चिह्न है और कुछ व्यक्तियो में तो इसका कारण पिता का अवरुद्ध (repressed) भय है; जब कि यह कहा जाता है बाँये हाथ से काम करना और लिखना भी पिता के प्रति विरोध का चिह्न हो सकता है, जो बच्चे की उदासीन रहने की इच्छा को प्रकट करता है। ऐसे व्यक्तिविशिष्टवर्तनों (idiosyncracies) के पीछे अवरुद्ध प्रवृत्तियों को खोजने के लिए तथा मुख्य व्यक्तित्व में उनके व्यवस्थित करने के लिए किशोर-अवस्था अन्तिम व्यावहारिक अवसर है।

अन्त.मानसिक (endopsychic) संघर्ष कभी-कभी

निरन्तर चिन्ता के रूप में देख पड़ता है, जो नितान्त अस्पष्ट हो सकता है अथवा किसी निश्चित दिशा की ओर उद्देशित हो सकता है, परन्तु जो सदा ही युक्ति के विरुद्ध है। फिर, यह भी सम्भव है कि व्यक्ति में किन्हीं वस्तुओं अथवा परिस्थितियों का विशिष्ट दूषित भय हो—उदाहरण के लिए, घिरे हुए अथवा खुले स्थानों का, अथवा पैने चाकुओं का भय। ऐसे भय सदा किसी दूसरी वस्तु के प्रतीक हैं, और केवल मनोविश्लेषण द्वारा उनका उद्गम ज्ञात किया जा सकता है।

फ्रॉयड और उसकी विचार-धारा वाले विद्वानों का मत है कि छोटी भूलें, घटनाएँ और लोप वास्तव में केवल अकस्मात् और अकारण ही नहीं होते, वरन् वे अचेतन में संघर्ष के प्रादुर्भाव हैं। दुर्घटनाएँ प्रायः तब होती हैं जब हम अधिकतम सावधानी बर्तते हैं; कोई वस्तु हमारी उँगलियों से निकल पड़ती है, लिखते-लिखते चिट्ठी पर धब्बा पड़ जाता है, हमारे मुँह से गलत बात निकल जाती है, हम वह लिख जाते हैं जो नहीं लिखना चाहते। ऐसी घटनाओं का उद्गम, जो देखने में बहुत साधारण जान पड़ती हैं, अचेतन में होता है। वे ऐसे कार्य हैं जिनको निर्णीत करने के लिए प्रतिहारी (censor) अवरोधित ग्रन्थियों को अनुमति दे देता है और जो छिपे हुए आवेगों के छद्मवेशी प्रत्यक्षी-करण है। यह हमारी अवरोधित ग्रन्थि है, जो मानो हमारी कुहनी को हिला देती है और वस्तु को गिरा देने का अथवा धब्बा डालने का कारण होती हैं। उदाहरणार्थ, पाठशाला में कापियों को सदा गन्दा करते रहना अध्यापक के निरंकुश शासन और पाठशाला की सुव्यवस्था के विरुद्ध बच्चे के विद्रोह की अचेतन प्रवृत्ति का चिन्ह हो सकता है; जब कि 'विनयपूर्ण' पत्रों में हमारी अशुद्धियाँ स्वयं हमारे प्रति हमारा अचेतन दम्भ या मिथ्याचार हो सकता है।

जिसको हम प्रायः 'फ़ॉयड-सम्बन्धी' अथवा 'क्रियाशील' (active) विस्मृति कहते है, उसका समाधान भी ऐसा ही है। हम आवश्यक पत्रों को लिख चुकने पर भी डाक में डालना भूल जाते है; हम नाम और आवश्यक कार्यो को भूल जाते है यद्यपि उनको याद रखने की हम में प्रबल चेतन इच्छा रहती है। वे वस्तुएँ जिनको हम इस प्रकार भूलते है प्रायः वे होती है जिनका स्मरण रखना अप्रिय होगा, अथवा जो किसी समय किसी प्रकार भी अप्रिय अनुभूतियों की ओर ले जायँगी। एक छात्र जो निरन्तर अपना कार्य करना भूल जाता है अथवा करने के बाद पाठशाला में लाना भूल जाता है, यह आवश्यक नही है कि वह असावधान अथवा कुटिल हो। उसकी मानसिक अन्तःवस्तु का अवरोधित अंश कदाचित् उसको उस कार्य को करने से ही रोकता है।

जब एक मनुष्य किसी दिशा में अत्यधिक और अकारण उत्साह दिखाता है, उस दशा में भी अवरोध (निरोध) का संदेह किया जा सकता है। मनोविश्लेषकों का कहना है कि ऐसा उत्साह एक 'रक्षक यन्त्र' (defence mechanism), अथवा 'प्रतिक्रिया रचन' (reaction formation) है जिसके द्वारा मुख्य व्यक्तित्व को अपने को सुरक्षित करना पड़ता है, जिससे कि अचेतन में उसका ठीक विपर्यय दृढ़तापूर्वक अवरोधित रहे। इस प्रकार अत्यधिक मिथ्याविनय (predery) यौनिक विषयों में विकृत व अवरोधित रुचि प्रदर्शित कर सकती हैं; अत्यधिक स्वच्छता अपराध के छिपे हुए आशय का प्रदर्शन हो सकती है; जब कि किसी ऐसे कार्य को अन्धाधुन्ध कर बैठना जो व्यक्ति की कार्यक्षमता से बाहर है, लघुता के अवरोधित आशय की एक प्रतिक्रिया हो सकती है। फिर, दूसरों में अपराधों का असहन प्रायः अपने में समान अपराधों की अवरोधित प्रवृत्तियों के आवेग के विरुद्ध अचेतन रक्षण है। हमारी चेतन रुचियाँ भी प्रायः

उन मूलप्रवृत्तियों का प्रतिपूरण है जिनको हमारे दैनिक जीवन में प्रत्यक्ष व्यंजना नही प्राप्त होती।

यह आवश्यक है कि शिक्षक अन्त.मानसिक संघर्ष और अवरोधन के इन सिद्धान्तों को समझे, क्योंकि किसी अन्य मनोवैज्ञानिक सिद्धान्त की अपेक्षा वे कठिन (difficult) बच्चा और किशोर के समझने और उपचार में अधिक सहायक होती है। किशोर वास्तव में सामान्य रूप से मानसिक संघर्ष मे रहता है, और उसके असन्तोषजनक व्यवहार का उद्गम प्रायः सदा ज्ञात किया जा सकता है।

किशोर के सामने जैसा हम देख चुके हैं, एक मुख्य समस्या अपने को बाह्य संसार से पुनःसमायोजित (readjusting) करने की है। चूँकि यह कठिन कार्य है, हमको अचम्भा नही होना चाहिए कि वह अन्तर्मुख (introvert) होने की प्रवृत्ति रखता है; अर्थात् अपने से बाह्य वस्तुओं की अपेक्षा स्वयं अपने आन्तरिक मानसिक जीवन में संलग्न रहना चाहता है। एक अन्तर्मुख के लिये यह कठिन है कि वह मनःशक्ति को बाह्य ओर निर्देशित करे और जीवन को सफल बनाये; और स्वभावतः वह बाह्य संसार का विकृत रूप देखता है। इस प्रकार अन्तर्मुखी किशोर जाग्रत्स्वप्न (day dreams) देखता है जो उसके रहने के लिए कृतकश्रद्धा (make-believe) का आनन्दमयी संसार बना देते है। वह बहुधा चारपाई पर पड़ा रहना चाहता है, और सुस्ती व थकावट, अथवा किसी काल्पनिक बीमारी की शिकायत करता है; परन्तु कभी तथा कभी नहीं, संग्राम से बिल्कुल पीछे हट जाने की और वास्तविक जीवन से दूर भागने की अचेतन इच्छाओं के ये आविर्भाव है। ऐसी थकावट का इलाज आराम नहीं है, क्योंकि वह तो कठिनाई को और बढ़ाता है। वरन् हमको चाहिए कि हम ऐसे किशोर को यथाशक्ति अपने

से बाह्य के कार्यों में भाग लेने के लिए प्रोत्साहित करें। कोमल दशाओं में खेल सुन्दर उपचार सिद्ध होंगे, क्योंकि कठिनाई प्रायः दूर भाग जाती है जब नवयुवक को यह मालूम होता है कि ऐसे कार्य आत्म-व्यञ्जना के आनन्दमय साधन हैं। अधिक गम्भीर दशाओं में प्रवीण मनोवैज्ञानिक उपचार की तुरन्त आवश्यकता है, क्योंकि अन्तिम परिणाम पागलपन का वह रूप हो सकता है जिसे *विमनस्कता उन्माद* (*dementia prœcox*) कहते हैं।

जाग्रत्स्वप्नों की प्रवृत्ति सदा प्रतिगामी (regressive) होती है; अर्थात् वे विकास के प्रारम्भिक प्रक्रमों की ओर ले जाते हैं, जिस पर व्यक्ति वर्तमान दशा की अपेक्षा अधिक समायोजित था। सांवेगिक व्यवस्था के नये स्तर की प्राप्ति सदा बहुत परिश्रम चाहती है; पुराने स्तरों पर संलग्न रहने की प्रबल रूढ़िवादी प्रवृत्ति होती है और नयों से उनको बदलने की अनिच्छा रहती है जिनसे कम आनन्द प्राप्त होता है। विकास के किसी एक प्रक्रम पर स्थिरीकरण हो जाने (fixated) का भय बहुत अधिक रहता है। मानसिक परिपक्वता प्राप्त करने में माता-पिता अपने बच्चों के सहायक होने के स्थान पर बाधक हो सकते हैं यदि वे बढ़ते हुए नवयुवक अथवा नवयुवती के प्रेम को केवल अपनी ओर निर्देशित होने दें, और उनको 'अपने मनों' को रखने में आपत्ति करें। उत्साही अध्यापकों को भी सावधान रहना चाहिए; क्योंकि अपने छात्रों के लिए प्रत्येक सम्भव कार्य करने की चिन्ता में वे अत्यधिक कर बैठते है, और इस प्रकार निर्भरता की प्रवृत्ति बढ़ती है जो एक स्थिर वस्तु हो सकता है।

एक किशोर में अत्यधिक वक्रभाव (moodiness) आन्तरिक संघर्ष का निश्चित चिह्न है। उसकी सतत उदासी, जिसको

वह स्वयं किसी दूसरे की अपेक्षा कम समझता है, का कारण पूर्व के भाविक बन्धनों से उसका पृथक् हो जाना हो सकता है, जिसका उसे ज्ञान नहीं है। उसका चिड़चिड़ापन स्वयं अपने प्रति असन्तोष के बाह्य संसार की उत्कल्पना (projection) समझी जा सकती है, और उसके प्रति हमारा व्यवहार सहानुभूतिपूर्ण होना चाहिए।

जब कि यह कथन तो अत्युक्ति होगा कि किशोर-अवस्था में नियम की अवहेलना के प्रति एक प्राकृतिक प्रवृत्ति है, परन्तु यह अवश्य ही सत्य है कि जीवन का यह समय कभी-कभी अत्यन्त दूषित जीवनियों का आरम्भ होता है। 'नवीन' मनोविज्ञान के दिनों से पहले किशोर-अवस्था की विकृतियों का कारण प्रायः मौलिक पाप की अतिमात्रा बताई जाती थी। परन्तु अब हमारे भावमूलक संघर्ष का बोध हमको अधिक सहानुभूतिपूर्ण और सहायक बनाता है। यह प्रायः मान्य है कि पापप्रवृत्ति (delinquency) का कारण समायोजन (adjustment) का न होना है; व्यक्ति पूर्व बाल्यावस्था से नैतिक मापदण्डों की ओर लौटता है, और उसकी अवरुद्ध (repressed) मूलप्रवृत्त्यात्मक प्रेरणाएँ मार्ग से विचलित होकर समाज-विरुद्ध कार्यों का रूप अंगीकार कर लेती हैं। शक्तिशाली यौन-प्रवृत्ति अधिकांश अपराधों के लिए उत्तरदायी है; उसके परिणाम केवल यौनिक अपराध ही नहीं होते, वरन् दूसरे भी होते हैं, जो प्रत्यक्ष रूप से यौनिक न होकर इस आद्य प्रेरणा के स्थान पर होते हैं। असामाजिक आचार भी स्वाधीनता और शक्ति के प्रदर्शन में एक खंडित स्व-स्थापन मूलप्रवृत्ति की चेतना-शक्ति के व्यय का तुरन्त साधन है, और अन्ततोगत्वा बृहत् समाज एक पितास्थानापन्न (father-substitute) है।

हमारा यह विश्वास कि मानसिक संघर्ष इस कठिनाई का

मुख्य कारण है, इस निश्चयता से बढ़ जाता है कि अनेक किशोर अपराधी नहीं जानते कि वे अपराध क्यों करते हैं। वे समझते हैं कि वे अपनी कार्य-विधि के लिए विवश हैं और युक्ति उनको रोकने में असमर्थ है। निस्सन्देह कुछ ऐसी जन्मजात नैतिक कमियाँ हैं जिनकी प्रकृति ही व्यक्तित्व का संश्लेषण नहीं करने देती। परन्तु इसमें कोई युक्तसंगत सन्देह नहीं हो सकता कि किशोर-अवस्था के अधिकांश पाप सामान्य प्रवृत्तियों के कारण हैं जो व्यक्ति के वास्तविक विकास में असम्बद्ध हो गये हैं। और जब कि यह कहना ठीक है कि अनेक अपराधी मानसिक रूप से दोषपूर्ण हैं, परन्तु यह परिणाम निकालना ठीक न होगा कि मानसिक दोष अपराध का कारण है। बुद्धि की कमी पापी को केवल आवेगों को रोकने की कम शक्ति देती है जो कम या अधिक सभी में एक-से पाये जाते हैं।

किशोर के पाप अनेक रूपों में पाये जाते है जिनमें से हर एक में समाज के आत्मरक्षा-मूलक कार्य की आवश्यकता नहीं है। एक छोटा-सा अपराध परिभ्रमण उन्माद (wandering mania) है, जिसका सम्बन्ध घर या पाठशाला से है न कि विस्तीर्ण समाज से। आवारा लड़के को माता-पिता के प्रभुत्व से बचने की प्रबल इच्छा का ज्ञान हो सकता है; परन्तु जब वह अपने कार्य का समाधान नहीं कर सकता तो हमको निम्न में से एक समाधान मान लेना चाहिए, या तो स्वाधीन रहने की उसकी प्रेरणा और अपने माता-पिताओं के संरक्षण में चैन से रहने की इच्छा के मध्य में संघर्ष, अथवा पिता के विरुद्ध विद्रोह की अचेतन दशा।

झूठ बोलना एक और अपराध है जो शिक्षक के लिए अधिक चिन्ता का विषय है। सामान्य झूठ वास्तव में जानबूझ कर सत्य की विकृति है और यह दण्ड से बचने के लिए अथवा कठि-

नाइयों से पार पाने के लिए बोला जाता है। परन्तु यह मानना भूल होगी कि सभी असत्य इसी प्रकार के होते हैं और उनको ऐसा ही समझा जाय। उसमें बहुत-सा, मानसिक संघर्ष के होने के कारण, मन का रोग है न कि नैतिक अपराध। बचपन के 'सफेद झूठों' का कारण प्रचुर कल्पना है और साथ ही काल्पनिक और यथार्थ संसारों से भेदीकरण की असमर्थता है; और यही समाधान किशोर की असत्यताओं के विषय में दिया जा सकता है, जो निरन्तर जाग्रत्स्वप्न की दशा में रहता है। दूषित असत्य-भाषण का कारण सदा अन्तःमानसिक संघर्ष है, और उसका रूप प्रायः अवरुद्ध ग्रन्थियों की प्रकृति का सूत्र होता है। इस प्रकार नाटकीय झूठ निरुद्ध स्व-स्थापन की मूलप्रवृत्ति की व्यञ्जना होते हैं, जो अद्भुत प्रभाव डालने के लिए तथा व्यक्ति के महत्त्व को एक-दम बढ़ाने के लिए होते हैं। ऐसे असत्य भाषी अपनी झूठों पर वास्तव में विश्वास करते हैं, और उनके बार-बार बोलने में अपनी अचेतन इच्छाओं की पूर्ति करते हैं।

प्रत्येक शिक्षा-संस्था के अधिकारियों को किसी न किसी समय चोरी के मामलों पर विचार करना पड़ता है, और उनकी प्रवृत्ति सदा यह रहती है कि वे पाठशाला-समाज के वायुमण्डल को स्वच्छ करने के लिए अपराधी से छुटकारा पाने का प्रयत्न करते हैं। परन्तु क्या कोई उत्तम शिक्षक ऐसे मार्ग से सन्तुष्ट हो सकता है जो एक कु-आयोजित व्यक्ति को संसार में बिना सुधरे हुए और बिना स्वस्थ हुए भेज दे? चोरी, जब कि वह कुछ अंश तक चेतन वस्तु के लिए है, निश्चय ही क्रियाशील उपार्जक मूलप्रवृत्ति है। हम समझ सकते हैं इस मूलप्रवृत्ति का पूर्ण उत्कर्षण कितना कठिन है जब हम यह विचार करते हैं कि अत्यन्त नैतिक मनुष्य उधार ली हुई पुस्तकों को रख लेना अपराध नहीं समझते, रेल वालों को धोखा देते हैं और आय-कर

(income-tax) से बचने के अनेक उपाय करते हैं। फिर भी, चोरी प्रायः केवल अर्जन से कुछ अधिक है, उसका कारण माता-पिताओं के प्रति विद्रोह की अचेतन प्रवृत्तियाँ हैं जो सामान्य समाज को स्थानान्तरित कर दी गई हैं, और कदाचित् जिनका कारण यौन-प्रवृत्ति का अवरोधन ही है। अपराधी की दृष्टि में अनेक चुराई हुई वस्तुओं का प्रतीकात्मक यौनिक अर्थ हो सकता है, जो केवल मनोविश्लेषण द्वारा ही ज्ञात किया जा सकता है। सामान्य रूप से कहा जा सकता है कि अर्जन दूसरी सहज प्रवृत्तियों के स्थान पर रंचमंच पर आता है जो अवरुद्ध हो चुकी हैं। ऐसा क्यों होता है? डाक्टर बर्ट (Dr. Burt) का कथन है कि यह इसलिए है कि अवरोधित आवेग अपने उद्देश्यों को नहीं प्राप्त कर सके हैं, और अर्जन वह उपकरण है जो प्रकृति ने हमको उसे प्राप्त करने के लिये दिया है जिसकी हमें आवश्यकता है परन्तु जो हमारे पास नहीं है। यह स्मरण रखते हुए कि मूलप्रवृत्तियाँ मन में पृथक् यन्त्र नहीं है, वरन् प्रयोजन व प्रेरणा (horme) रूपी वृक्ष की शाखाएँ हैं, हम तुरन्त विश्वास कर सकते हैं कि एक मूलप्रवृत्यात्मक मार्ग से दूसरे मार्ग को चेतना-शक्ति स्थानान्तरित होती है और ऐसी परिस्थितियों में अर्जन स्वभावतः क्रियाशील हो जायगा। क्रियाशील होने पर वह अपने स्वाभाविक लक्ष्य को तलाश करेगा और जो कुछ उसे सुगमता से प्राप्त हो सकेगा उसे अधिकार में कर लेगा।

किशोर बहुधा अपने को उत्पादी दलों में व्यवस्थित कर लेते हैं, जिनका जीवन में प्रमुख उद्देश्य सामान्य रूप से समाज के प्रति युद्ध करना हो जाता है। यह मालूम किया गया है कि ऐसे समुदाय समझाने-बुझाने और सहानुभूति के पूर्ण उपचार से ठीक मार्ग पर आ जाते हैं, और इस प्रकार व्यय की हुई चेतना-शक्ति को सामाजिक सेवा के उपयोगी मार्गों में पुनः निर्दे-

शित किया जा सकता है। एक सुव्यवस्थित पाठशाला-समाज ऐसी प्रवृत्तियों के उत्कर्षण के लिए कोई बात न उठा रखेगा।

ये थोड़े-से उदाहरण हमारी इस धारणा की व्याख्या करने तथा स्पष्ट करने में सहायक होंगे कि किशोर की अधिकांश पाप-प्रवृत्ति अचेतन मानसिक संघर्ष के कारण है। ऐसे मत का उप-प्रमेय (corollary) यह है कि सुस्थता (cure) संघर्ष की निश्चयता है, अवरोधित आवेगों का उत्कर्ष (sublimation) है, और व्यक्तित्व का पुनः संघटन है। दंड नितान्त अनुपयोगी है, क्यों कि उससे सामान्यतः केवल किशोर का समाज के प्रति चेतन अथवा अचेतन विद्रोह बढ़ता है और विशेष रूप से नियम और व्यवस्था के व्यक्तिगत प्रतिनिधियों के प्रति। अवरुद्ध शिक्षा के खतरे स्पष्ट हैं, जब हम यह मानते हैं कि अध्यापक माता-पिता के स्थान पर हैं और वे सुगमतापूर्वक किशोर के अचेतन कोप के भाजन हो सकते हैं। यदि शिक्षक यह समझ लें कि व्यवहार के अति अवांछनीय रूपों का (जिनकी चर्चा हम कर रहे हैं), यह मान कर कि वे विवेकपूर्ण हैं और अपराधी को अशुद्ध कारण देने के लिए मजबूर करने से, समाधान नहीं किया जा सकता, तो अच्छे फल प्राप्त हो सकते हैं। हम सब में अपने प्रेरकों को न्याय-संगत करने की और व्यवहार के कारण बताने की प्रवृत्ति है, जिनके वास्तविक उद्गम के विषय में हमको यथार्थ ज्ञान नहीं है। अचेतन के मनोविज्ञान ने हमको विश्वस्त रूप से सिखाया है कि व्यवहार के मूलस्रोत तर्क में नहीं मिलते वरन् भाव-संस्कारों (emotional dispositions) में, जो कभी मुख्य व्यक्तित्व के साथ व्यवस्थित होते हैं और कभी अकेले। पाप-प्रवृत्तियों का उपचार इस ज्ञान पर आधारित होना चाहिए। यह सुझाव नहीं दिया जा रहा है कि अध्यापक को पाठशाला में मनोवैज्ञानिक रुग्णशाला स्थापित करनी चाहिए, और अपने सामान्य कार्यों के

अतिरिक्त मनोविश्लेषण के कार्य भी करने चाहिएँ; परन्तु वह अपने सीमित ज्ञान के बुद्धिमूलक प्रयोग द्वारा बहुत कुछ कर सकता है, और जो उग्र मामले हैं उन्हें प्रवीण मनोवैज्ञानिक को सौंप सकता है, जो निकट भविष्य में निश्चय ही शिक्षा के शासन के प्रत्येक क्षेत्र में एक अधिकारी के रूप में होगा। यदि शिक्षा में नवीन प्रगति का उद्देश्य हमारे समाज को अधिक शुद्ध, स्वतन्त्र और उत्तम बनाने में सफल होना है, तो किशोर के व्यवहार की समस्याओं को बिना समझे अब यों ही नहीं छोड़ा जा सकता।

विशेष अध्ययन के लिए

The works of Freud, Jung and the other psyeho-analysts.
Hart : *The Psychology of Insanity.*
Tansley : *The New Psychology.*
Hingley : *Phocho-analysis.*
Crichton-Miller : *The New Psychology and the Teacher.*
Hafield : *Psychology and Morals.*
Low : *The Unconcious in Action.*
Rees : *The Health of the Mind.*
Read : *The Struggles of Male Adolescence.*
Flugel :*The Psycho-analytic Study of the Family.*
Green : *Psych-analysis in the Classroom; The Daydream; The Mind in Action.*
Burt : *The Young Delinquent.*
McDougall : *An Outline of Abnormal Psychology.*

: १० :

अवधान और रुचि

(Attention and Interest)

यह अस्वीकार नही किया जा सकता कि *अवधान* (attention) प्राप्त करने की समस्या प्रत्येक अध्यापक के लिए अत्यन्त महत्वपूर्ण है। अति सुन्दर पाठ नितान्त प्रभावहीन हो सकता है केवल इसलिए कि छात्रो का अवधान न हो। कुछ सीमाओं के भीतर भी दोषपूर्ण विधि से पाठ पढ़ाना जिस पर छात्रो का ध्यान हो कही अच्छा है उसकी अपेक्षा कि पाठ सुस्पष्ट और शुद्ध रीति से पढ़ाया जाय जब कि उनका ध्यान दूसरी ओर हो। अवधान के अत्यधिक महत्त्व का कारण यह है कि यह प्रत्येक मानसिक प्रक्रिया में निहित है; मन, यदि वह क्रियाशील है, तो किसी न किसी बात की ओर ध्यान देता रहता है। हम सब भली भाँति जानते है कि ध्यान देना क्या है। परन्तु यदि हम अपने छात्रों का ध्यान स्वेच्छापूर्वक एकत्र करना और निर्देश करना चाहते है तो हमको अवश्य ही अपने सामान्य सिद्धान्त के अनुरूप अवधान की समस्या के विषय में विचार करना होगा। थोड़ा बोध अनेक आदेशो से अधिक मूल्यवान होगा।

एक समय था जब अवधान मन की शक्ति समझी जाती थी, जिसका निर्देश किसी वस्तु की ओर किया जा सकता था और जिसे प्रशिक्षित किया जा सकता था। परन्तु स्पष्ट है कि अवधान जैसी कोई स्वतंत्र वस्तु नही है, अवधान का अस्तित्व

केवल तभी है जब कोई व्यक्ति किसी वस्तु पर ध्यान दे रहा है। अतएव, यह कहने की अपेक्षा कि "मेरा ध्यान मेरे काम की ओर निर्देशित है," यह कहना अधिक उचित है कि "मैं अपने काम पर ध्यान दे रहा हूँ।" संवेग (emotion) की भाँति अवधान भी ध्यान देने वाले मनुष्य की प्रक्रिया है। यह वह नाम है जिन से हम अनुभव की विशेष विधि का वर्णन करते हैं, और अवधान के घटक और विषय के अतिरिक्त यह कुछ भी नहीं है।

पुराने मनोवैज्ञानिक अवधान को बौद्धिक दृष्टि से देखते थे, और केवल उसके ज्ञानसम्बन्धी पहलू पर बल देते थे। इस प्रकार वे उसे विचार की किसी वस्तु अथवा प्रत्यय (idea) पर चेतना के केन्द्रीकरण (focussing) के रूप में वर्णन करते थे। जब हम किसी वस्तु पर अपनी आँखों का केन्द्रण करते हैं, हम उसे बिल्कुल स्पष्ट देखते हैं; हम अन्य निकटवर्ती वस्तुओं को कुछ कम स्पष्ट देखते हैं, और जो वस्तुएँ और भी अधिक दूर हैं उन्हें और भी कम स्पष्ट देखते हैं; अन्त में, कुछ ऐसी वस्तुएँ होती हैं जिन्हें हम केवल 'आँखों के कोने से' देखते हैं। जैसा कि दृष्टि के क्षेत्र में होता है, वैसा ही चेतना के क्षेत्र में भी होता है। अवधान की वस्तु स्पष्ट है, अन्य उपस्थापनाएँ (presentations) कम स्पष्ट हैं, और फिर विचार की अन्य वस्तुएँ हैं जो केवल "चेतना की सीमा" पर हैं। इस प्रकार अवधान विचार की वस्तु को मन के सामने स्पष्ट लाने की प्रक्रिया है। जैसे कि कैमरा (camera रूपित्र) से हम केन्द्रीकरण द्वारा किसी धुँधली वस्तु को स्पष्ट देख सकते हैं, उसी प्रकार किसी प्रत्यय (idea) पर अपनी चेतना के केन्द्रीकरण द्वारा हम उसे अधिक अच्छा जान सकते हैं। एक दूसरा रूपक लीजिए। अवधान-अनुभव (attention-experience) में चेतना के प्रवाह की चाल मंद हो जाती है, और अवधान की वस्तु अधिक स्थिर और निश्चित हो जाती है।

इस प्रकार स्पष्टता अवधान का फल है। टिशनर (Titchener) को उद्धृत करते हुए हम कह सकते हैं कि "अवधान की समस्या इन्द्रियगम्य स्पष्टता के तथ्य में है" (the problem of attention centres in the fact of sensible clearness.)

अवधान के विषय में उपर्युक्त मत महत्वपूर्ण है, और उसकी सत्यता अस्वीकार नही की जा सकती। परन्तु ऐसा प्रतीत होता है कि उसमें मुख्य विन्दु छूट गया है, क्योंकि वह निम्न प्रश्न का उत्तर नहीं देता है कि "हम ध्यान देते ही क्यों हैं ?" ध्यान की प्रक्रिया में प्रेरणा कहाँ से प्राप्त है ? वह आती है अत्यधिक आवश्यक संवेग-पूर्ण तथा चेष्टापूर्ण तथ्यों से, जिनकी हम बुद्धिमूलक दृष्टि से एक-दम उपेक्षा करते हैं। केवल बोध और स्पष्टता ही यथेष्ट नहीं हैं, क्योंकि अवधान की किसी वास्तविक प्रक्रिया में मन क्रियाशील हो जाता है और कुछ करना चाहता है; और अच्छा अध्यापक, जिसका लक्ष्य सदा बोध (understanding) से अधिक है, इस मानसिक क्रियाशीलता का स्थापन और पथ-प्रदर्शन करना चाहता है। अवधान के ये भावपूर्ण-चेष्टापूर्ण (affective-conative) पहलू अब आधुनिक मनोवैज्ञानिकों द्वारा सर्वथा मान्य हैं। मेकडूगल ने अवधान को "जानने का प्रयत्न" बतलाया है, अथवा अधिक पूर्णरूप से "अवधान चेष्टा अथवा यत्न मात्र है, ज्ञान की प्रक्रिया पर उसके प्रभावों की दृष्टि से।"[1] मन की बुद्धि-विषयक शक्ति कहने के स्थान पर हम उसे प्रयत्न करने का एक विशेष प्रकार कहेंगे। चेष्टा जितनी अधिक प्रबल होगी, अवधान उतना ही अधिक तीव्र होगा।

हम देख चुके है कि प्रत्येक चेष्टामूलक अनुभव (striving experience) में मानसिक रचना की कोई चेष्टासम्बन्धी मनः-

[1] *An Outline of Psychology*, pp 271, 272.

व्यवस्था की क्रिया निहित है। अतएव अवधान में कोई मनः-व्यवस्था (disposition) अवश्य ही क्रियाशील होनी चाहिए—दूसरे शब्दों में मानसिक चेतना-शक्ति (energy) का कोई आगार (भांडार reservoir) अवश्य खुलना चाहिए। इन चेष्टा-सम्बन्धी स्वभावों पर विचार के द्वारा हम इस प्रश्न का उत्तर दे सकेंगे कि "किन वस्तुओं की ओर हम ध्यान देते हैं ?"

अवधान कदाचित् चुनने की सामान्य शक्ति की सबसे अधिक महत्वपूर्ण व्यंजना है, जिसको ड्रेवर ने मनोगत तथ्यों के तीन मुख्य लक्षणों में एक बताया है। *वह क्या है जो एक वस्तु को दूसरी वस्तु की अपेक्षा अवधान की वस्तु चुनने का निश्चय करता है ?* यह प्रायः कहा जाता है कि इन्द्रिय-संस्कार (sense impressions) अपनी प्रचंडता अथवा आकस्मिकता के कारण चुने जाते हैं। उदाहरण के लिए, हम विद्युत् की चमक अथवा किसी वस्तु के गिरने की आहट की ओर तुरन्त ध्यान देते हैं। परन्तु इससे हम वास्तविक तथ्य पर नही पहुँचते हैं, क्योंकि यदि हम किसी कार्य में वास्तव में लवलीन हैं, तो हम उस पर ध्यान देते ही रहेंगे यद्यपि एक निरंतर उच्च ध्वनि हमारे कानों को प्रभावित कर रही है। ऐसी वस्तुएँ विशेष रूप से हमारे अवधान के कारण क्यों हो जाती हैं—इसका मुख्य कारण यह नहीं है कि वे प्रचंड अथवा आकस्मिक हैं, वरन् यह है कि वे हम में तुरन्त ही आश्चर्य अथवा भय का संचार कर देती हैं। दूसरे शब्दों में, मेकडूगल का प्रसिद्ध रूपक प्रयोग करते हुए हम कह सकते हैं कि वे कुञ्जियाँ हैं जो मूलप्रवृत्त्यात्मक मनःव्यवस्थाओं के तालों में ठीक-ठीक लग जाती हैं। मनुष्य में तो अवश्य ही, मूलप्रवृत्तियों के ये प्राकृतिक उत्तेजक आवश्यक नहीं है कि वे इन्द्रिय-संस्कार हों; वे उसी प्रकार स्मृति-आकृतियाँ (memory-images) अथवा प्रत्यय (ideas) भी हो सकते हैं। जब हमको नींद नहीं आती है तब

हम थोड़े अंतःप्रेक्षण से ज्ञात कर सकते हैं कि हम किसी ऐसी वस्तु पर ध्यान दे रहे हैं जो मूलप्रवृत्त्यात्मक मनःव्यवस्था (instinctive disposition) को उत्तेजित कर रही है। हम ऐसे पदार्थों की ओर ध्यान देते हैं क्योंकि वे हमारे लिए अत्यन्त आवश्यक है—दूसरे शब्दों में, क्योंकि हम उनमें रुचि रखते है अथवा वे रुचिकर है; और जो वस्तुएँ हमारे लिए अत्यन्त आवश्यक हैं वह वे पदार्थ हैं जो हमारी मूलप्रवृत्तियों को जाग्रत करते है। इस प्रकार *सर्वप्रथम, हमारी मूलप्रवृत्तियाँ हैं जो हमारे ध्यान की वस्तुएँ चुनती हैं।*

हमने अभी-अभी, बिना अधिक सोचे हुए, 'रुचिकर' शब्द का प्रयोग किया है। पहले इसके कि हम रुचि और अवधान का घनिष्ठ सम्बन्ध बतायें हमको इस अति प्रचलित शब्द का अर्थ स्पष्ट कर देने का प्रयत्न करना चाहिए। कम से कम तीन भिन्न अर्थ निकलते है।

इस शब्द की व्युत्पत्ति पर ध्यान देना लाभदायक है। लेटिन भाषा में 'interest' (=रुचि) शब्द का अर्थ है 'यह सम्बन्ध रखता है।' (हिन्दी में रुचि शब्द का अर्थ है 'प्रवृत्ति।') अब, जो वस्तु हमारे लिए रोचक होती है वह हमसे सम्बन्धित है। हम कह सकते हैं कि किसी मनुष्य की रुचियाँ उसके अनुभव की वे वस्तुएँ हैं जो उससे सम्बन्धित हैं। यदि हम ऐसा कहते हैं तो हम इस शब्द को वस्तुगत अर्थ दे देते है और उसका प्रयोग उस मनुष्य से परे किसी वस्तु के विषय में करते हैं जो रुचि रखता है, अथवा एक मनोगत पदार्थ जो उसके बाहर की किसी वस्तु से उत्पन्न हुआ है। उदाहरण के लिए, यदि हम कहते हैं कि एक मनुष्य भाचित्रण (फोटोग्राफी photography) में रुचि रखता है तो हमारा आशय है कि भाचित्रण उससे सम्बन्धित है; और हम कह सकते हैं और कहते भी है कि भाचित्रण उसकी

मुख्य रुचियों में एक है।

परन्तु हम 'रुचि' शब्द का मनुष्य के अनुभव वर्णन करने के लिए भी प्रयोग कर सकते हैं जब कि वह अपने भाचित्रण में लवलीन है। यहाँ रुचि व्यक्ति के अनुभव की विधि है, और आत्मगत अर्थ है। शब्द का यह प्रयोग कई प्रसिद्ध मनोवैज्ञानिकों ने मान लिया है। इस प्रकार स्टाउट ने इसको व्यापक पद के रूप में माना है, जिससे अनुभव के प्रवृत्तिपूर्ण-चेष्टापूर्ण (affective-conative) पहलुओं का अर्थ होता है; जबकि ड्रैवर यौगिक शब्द "प्रवृत्ति-रुचि" (interest-instinct) का प्रयोग समस्त अनुभव के मूलभूत प्रभावपूर्ण पहलू के अर्थ में करता है।

किन्तु, यदि हम इस शब्द को विशेष प्रकार के अनुभव के वर्णन के लिए प्रयोग करें, जो अभी यहाँ है और दूसरे क्षण दूर है, तो हमारा अवश्य ही यह आशय है कि एक व्यक्ति किसी वस्तु में रुचि लेना बन्द कर देता है जब वह उसके विषय में विचार करना समाप्त कर देता है। यह तथ्यों के अनुरूप नहीं है। हम निश्चयपूर्वक जानते है कि हमारा भाचित्रक भाचित्र में अपनी रुचि रखता है जबकि वह किसी अन्य विषय के बारे में सोच रहा है। "इस प्रकार, रुचि रखना व्यक्ति की स्थायी दशा है"[1]। जैसा कि हम कई बार देख चुके हैं मानसिक जीवन के स्थायी आकारों को सिद्ध करने के लिए हमको मानसिक रचना की अपनी परिकल्पना का सहारा लेना है। यहाँ हमको यह कहना है कि रुचि लेने की स्थायी दशा में जैसे भाचित्र में, मानसिक रचना में एक मनःव्यवस्था का अस्तित्व उपलक्षित है जो भाचित्र के विचार के चारों ओर व्यवस्थित है। इस प्रकार, रुचि के आपेक्षिक स्थायित्व के विचार से, हम, दूसरे अर्थों के प्रति अन्याय न करते हुए, कह सकते हैं कि रुचि यही व्यवस्था है, जो

1 McDougall : *An Outline of Psychology*, p. 274.

शब्द को रचनामूलक अर्थ देती है। इस प्रकार अन्य स्थान पर ड्रैवर ने कहा है, रुचि अपने गतिमान रूप मे मन व्यवस्था हे।"२ (An interest is a disposition in its dynamic aspect)

वर्तमान लेखक की राय में, उपर्युक्त अर्थ सब से अधिक उपयोगी और स्पष्ट है जो 'रुचि' शब्द का किया जा सकता है। स्वयं शब्द को उस वस्तु के लिए प्रयोग करने की अपेक्षा जिसमें किसी व्यक्ति को रुचि है, हमारे लिए उत्तम होगा कि हम 'रुचि की वस्तु' (object of interest) के विपय मे चर्चा करें; और जैसा कि हम देखेंगे, अनुभव को रुचि कहने की अपेक्षा, अधिक उपयुक्त होगा कि हम रुचिमूलक प्रक्रिया अथवा रुचि लेने की विधि के विषय में कहें।

अतएव मनुष्य की मूल रुचियाँ मूलप्रवृत्तियाँ स्वयं है, अर्थात् वे वंशानुगत रचनामूलक मन.व्यवस्थाएँ जो अपने स्वामी को बोध करने के लिए और कुछ वस्तुओ की ओर ध्यान देने के लिए निर्णीत करती है। परन्तु उन जन्मजात रचनाओं के अतिरिक्त कुछ अधिक जटिल अर्जित मनःव्यवस्थाएँ है, जिनको हम स्थायीभाव (sentiments) कहते है; और वह प्रत्यय (idea) जिसके चारों ओर स्थायीभाव व्यवस्थित है रुचि का अर्जित विषय है। यह कहना कि एक मनुष्य भाचित्र मे रुचि लेता है केवल यह कहने का दूसरा रूप है कि भाचित्र के लिए उसमें स्थायीभाव (sentiment) है, जब कि स्थायीभाव स्वयं अर्जित रुचि है। इससे एक महत्त्वपूर्ण निष्कर्ष यह निकलता है कि किसी वस्तु के ज्ञानमात्र से यह आशय नही है कि उसमें प्रत्यक्ष रुचि हो ही। रुचि चेष्टामूलक (conative) है न कि ज्ञानमूलक (cognitive); संवेगों को रुचि की वस्तु पर केन्द्री-

2 *Introducton to the Psychology of Education*, p. 126.

भूत करना आवश्यक है। अवश्य ही यह सत्य है कि स्थायीभाव पर अधिकार किसी वस्तु के विषय में ज्ञान प्राप्त करने के लिए प्रेरित करता है; परन्तु साथ ही, बहुत से मनुष्य उन वस्तुओं के विषय में ज्ञान प्राप्त कर लेते है जिनमें उनको प्रत्यक्ष रुचि नही है।

अब हम ने अवधान और रुचि में अत्यन्त घनिष्ठ सम्बन्ध देख लिया। वे केवल एक ही वस्तु के दो पक्ष है, जैसे कि मुद्रा (सिक्का) के दो पक्ष होते है। दोनों में एक ही तथ्य निहित है, और वह है मानसिक रचना में संघटित मनःव्यवस्था (organised disposition)। हम 'रुचि' शब्द को रचना या संस्थान के लिए ही प्रयोग करते है, और 'अवधान' शब्द को उस अनुभव के वर्णन के लिए प्रयोग करते है जिसे वह रचना सदा ही निश्चय करने के लिए तैयार है—कुछ वस्तुओं के बारे में सोचने का और उनके सम्बन्ध में क्रियाशील होने का अनुभव। "किसी वस्तु में रुचि रखना उस पर ध्यान देने के लिए तैयार होना है;"[१] जब कि ध्यान (या अवधान) सदा किसी मानसिक रचना की क्रिया को उपलक्षित करता है। "रुचि सुप्त अवधान है, और ध्यान क्रियाशील रुचि है।"[१] "अवधान रुचि है जो ज्ञान-सम्बन्धी प्रक्रिया को निर्णीत करती है।"[२]

अब तक हमने केवल उस अवधान के सम्बन्ध में विचार किया है जो मूलप्रवृत्तियों अथवा स्थायीभावों द्वारा नियन्त्रित है। ऐसा अवधान, क्योंकि उसको स्थिर रखने के लिए संकल्प का कोई प्रयत्न करने की आवश्यकता नही है, *अप्रेरणिक* (non-volitional) कहा जा सकता है। यह शब्द अनात्मप्रेरित involuntary) शब्द से अच्छा है क्योंकि सामान्य बोलचाल में हम इस प्रकार के ध्यान को 'आत्मप्रेरित' (voluntary)

---

1 McDougall, *An Outlino of Psychology* p. 277,

2 Stout, *The Groundwork of Psychology*, p. 48.

कह सकते हैं। अवधान जो मूलप्रवृत्ति द्वारा निश्चित किया जाता है सहज प्रेरित (instinctive) कहा जा सकता है, परन्तु उसे प्रायः *प्रेरित अप्रेरणिक अवधान* (enforced non-volitional attention) कहते है। किन्तु अवधान जिसकी प्रेरक शक्ति कोई अर्जित रुचि या स्थायीभाव है उसे *स्वयंभव अप्रेरणिक अवधान* (spontaneous non volitional attention) कह सकते है। परन्तु विचारशील पाठक ने अवश्य ही देख लिया होगा कि संकल्प द्वारा सतत अवधान के विषय में हम ने अभी तक कुछ नही कहा है। हम ऐसी वस्तुओं की ओर ध्यान दे सकते है और देते है जो स्वयं मूलप्रवृत्तियों अथवा स्थायीभावों (sentiments) के विषय नही है, और ऐसे अवधान को उपक्रम (initiate) तथा स्थिर (sustain) रखने के लिए, हम को संकल्प (will) का सहारा लेना पड़ेगा। पहले यह प्रतीत होगा कि यह प्रेरणिक अवधान, रुचि तथा अवधान के घनिष्ठ सम्बन्ध के सिद्धान्त की सुन्दर सरलता को नष्ट कर देगा, जिसके विषय में हम चर्चा कर रहे है; परन्तु यदि हम 'रुचि' (interest) शब्द के निर्माणमूलक अर्थ को माने तो ऐसा नहीं होगा। यह सत्य है कि एक छात्र संकल्प के प्रयत्न द्वारा अध्ययन के किसी ऐसे विषय पर ध्यान देने लगे जिसमे उसके लिए कोई आकर्षण नही है और जो किसी विशेष मूलप्रवृत्ति अथवा स्थायीभाव की क्रियाशीलता नही चाहता। फिर भी, ऐसा प्रतीत होता है कि किसी न किसी प्रकार ऐसा विपय उसके लिए महत्त्व रखता है—दूसरे शब्दों मे वह रुचि का परोक्ष विषय है। कदाचित् वह उसके लिए महत्त्वपूर्ण इसलिए है कि वह परीक्षा का विषय है जिसमें वह उत्तीर्ण होना चाहता है; कदाचित् वह उसकी जीवन-वृत्ति में जो उसने पसन्द की है सहायक होगा; अथवा,

कदाचित् अपने आत्म-सम्मान की रक्षा करने के लिए वह उससे हार नही मानना चाहता।

परन्तु यह *संकल्प* (will) क्या वस्तु है जिसका उपयोग वह उस परिस्थिति में करना चाहता है ? जैसा हमने देखा है यह पूर्ण व्यवस्थित आत्म की क्रियाशीलता है। गमक (dynamic), जो एक संकल्पशील कार्य को संबद्ध करती है वह न तो मूलप्रवृत्ति है और न स्थायीभाव, वरन् संपूरित व्यक्तित्व है। अतएव रुचि जो प्रेरणिक अवधान के पीछे है कोई विशेष संवेग अथवा स्थायी भाव नही है, परन्तु स्वयं महान् स्थायीभाव है, अत्यन्त विस्तृत मनःव्यवस्था और इसलिए अति अभिव्यापक रुचि जो हमारे पास है। संकलपमूलक अवधान इस सूक्ति को नही तोड़ता कि "अवधान क्रियाशील रुचि" है वरन् उसका अनुमोदन करता है। यहाँ क्रियामूलक रुचि आत्म-गौरव अथवा आत्म-सम्मान का स्थायीभाव है।

प्रेरणिक अवधान प्रायः दो वर्गो में विभाजित किया जाता है। प्रथम प्रेरणिक (ऐच्छिक) अवधान, जो प्रेरणा (volition) के एक ही कार्य द्वारा आरम्भ हो कर बहुत काल तक स्थिर रह सकता है; और दूसरा वह है जिसको क्रियाशील रखने के लिए अनेक आवर्तित संकलपमूलक या प्रेरणिक कार्यो की आवश्यकता पड़ती है। इनको क्रमशः 'अव्यक्त प्रेरणिक' तथा 'व्यक्त प्रेरणिक'

कहते है। इस प्रकार हम निम्न सारिणी बना सकते है—

अवधान (Attention)

- अप्रेरणिक (Non-volitional)
  - प्रेरित (Enforced) (किसी मूलप्रवृत्ति द्वारा स्थिर)
  - स्वयंभव (Spontaneous) (स्थायीभाव द्वारा स्थिर)
- प्रेरणिक (Volitional)
  - अव्यक्त (Implicit) (संकल्प का एकाकी कार्य)
  - व्यक्त (Explicit) (संकल्प के आवर्तित कार्य)
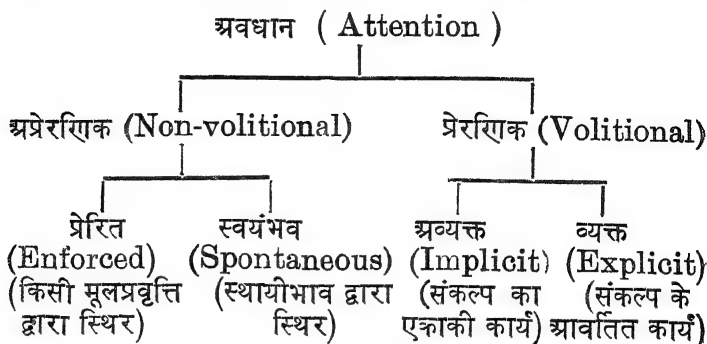
अब हम पाठशाला मे रुचि और अवधान के प्रश्न पर लाभपूर्वक विचार कर सकते है। इस पर किसी ने कभी सन्देह नहीं किया कि छात्र को ध्यानावस्थित (attentive) होना चाहिए, परन्तु अपेक्षाकृत वर्तमान काल मे ही यह घोषित किया गया है कि उसे रुचिसम्पन्न (interested) भी होना चाहिए। शिक्षा मे रुचि के इस आधुनिक सिद्धान्त की प्रबल आलोचना की गई है कि यह 'नम्र शिक्षा-शास्त्र' (soft pedagogics) की ओर ले जाती है, अध्यापको से कहा जाता है कि प्रत्येक वस्तु को रोचक बनाने से वे अपने शिष्यो का आचार नष्ट कर रहे है और गम्भीर प्रौढ जीवन के लिए उन्हे नही तैयार कर रहे है। परन्तु, यदि हमारा तर्क ठीक है कि समस्त अवधान के पीछे रुचि अवश्य होनी चाहिए, तब रुचि के सिद्धान्त के आलोचक भूल कर रहे है। कठिनाई यह है कि 'रुचि' को 'विनोद' अथवा 'आनन्द' समझ लिया जाता है। कोई इनकार न करेगा कि दन्तवैद्य (dentist) की कुर्सी रोचक स्थान है, परन्तु ऐसे मनुष्य बहुत कम होगे जो उसे आनन्ददायक बतायेंगे। हम फिर कहते है कि रोचक वस्तु वह है जो हम से सम्बद्ध है। इस विषय मे आनन्द-

दायक तथा आनन्दविहीन होना मुख्य प्रश्न नहीं है, क्योंकि आनन्द-दायक भावना केवल गौण फल (by-product) की भाँति आती है जब कि हमारी रुचियाँ सफलतापूर्वक अपने लक्ष्यों की ओर पहुँच रही है। आलोचकों को, जिनमें अधिकांश कदाचित् स्वयं अध्यापक हैं, उचित है कि वे शिक्षा में रुचि के सम्बन्ध में अपने विचारों को विस्तृत करें। रुचि क्रियाशील मनःव्यवस्था है; वह मूल प्रवृत्ति स्थायीभाव अथवा व्यवस्थित आत्म (self) हो सकती है। अन्तिम रूप में वह संकल्प (will) है जो किसी विषय पर ध्यान जमाये रहता है, जो न आनन्ददायक है और न विनोदकारी, और आलोचक को संतुष्ट हो जाना चाहिये। हम रुचि के सिद्धान्त का बराबर निर्वाह कर सकते हैं यदि हम मान लें कि प्रेरणिक अवधान भी रुचि द्वारा ही पोषित होता रहता है, जिसमें प्रशासन करने वाली रुचि आत्म-सम्मान का स्थायी-भाव है। हम को स्कूल का कार्य कुछ सीमा तक कष्टसाध्य करना ही पड़ेगा, परन्तु वह बालक के लिए अवश्य ही उपयोगी सिद्ध होना चाहिये। कभी-कभी हम उसके सामने एक ही प्रेरक (motive) रख सकते हैं, और वह है स्वयं अपने आत्म-सम्मान की रक्षा; परन्तु हम कह सकते हैं कि प्रासंगिक संतुष्टि जो कठिनाइयों पर विजय प्राप्त करने के साथ-साथ आती है, घृणा के योग्य नहीं है। हम प्रसन्नतापूर्वक उस आलोचक की बात कुछ अंश तक मान लेते हैं, जो इस कठोर सिद्धान्त का प्रचार करता है कि बालक को बहुत-से ऐसे कार्य करने पड़ेंगे जो अरोचक होंगे, और इस प्रकार उसे अपनी संकल्प-शक्ति काम में लेनी पड़ेगी; परन्तु हम यह भी कहेंगे कि, उसकी श्रेष्ठ सलाह मानते हुए, हम रुचि के उतने ही कठोर सिद्धान्त से दूर नहीं जा रहे हैं।

शिक्षा-विधि में रुचि के समस्त विभिन्न स्तरों में प्रत्येक का एक स्थान है। अवश्य ही शिक्षा के आरम्भ में मूल प्रवृत्त्यात्मक अव-

धान का ही अधिक प्रयोग करना पड़ेगा, क्योंकि अभी तक छात्र के पास कोई स्थायीभाव अथवा आत्म-सम्मान का स्थायीभाव नहीं है जिसको विलोभित किया जा सकता है। शिशुओं के अध्यापक को असंस्कृत जिज्ञासा (crude curiosity), असंस्कृत स्व-स्थापन, तथा अन्य मूलप्रवृत्तियों का सहारा टटोलना पड़ेगा और इस प्रकार अवधान स्थापित करके शिक्षा के कार्य में आगे बढ़ना होगा। परन्तु बुद्धिमान अध्यापक को मानना पड़ेगा कि यहाँ वह केवल आम-द्रव्य (raw material) से काम ले रहा है, और आगे चल कर अवधान की इन आदि रीतियों के स्थान पर उच्च रूप काम में लेने पड़ेंगे। अधिक वय वाले छात्रों के अध्यापकों को समस्त चकित करने वाली विधियों से दूर रहना ही उत्तम होगा। विदूषक के समान अभिनय करना अथवा मेज़ पर घूँसा मारना अवश्य ही ध्यान को आकर्षित करेंगे, परन्तु जहाँ तक कार्य का संबंध है इस प्रकार उत्तेजित अवधान असफल ही होगा।

बुद्धिमूलक शिक्षा *भाव-रुचि* (sentiment-interest) और *स्वयंभव अप्रेरणिक अवधान* (spontaneous non-volitional attention) अत्यन्त महत्वपूर्ण हैं। प्रथम तो एक विचारशील अध्यापक सदा उन स्थायीभावों का प्रयोग करेगा जो पहले ही वहाँ प्रस्तुत हैं, और छात्रों की अभिरुचियों (hobbies) के आधार पर कार्य करेगा और इन प्रबल रुचियों के चारों ओर अपनी शिक्षा का ताना-बाना प्रवीणता-पूर्वक बुनेगा। परन्तु उसका यह कार्य यहीं पर समाप्त नहीं होता; उसको अध्ययन के विभिन्न विषयों के प्रति प्रेम के स्थायीभाव बनाने होंगे और उनका पोषण करना होगा। उदाहरण के लिए, गणित के अध्यापक को अपने छात्र में गणित के प्रति प्रेम के भाव उत्पन्न करने होंगे और ऐसी भावना उत्पन्न करनी होगी कि वह कार्य को भार-रूप न समझे वरन् एक आनन्द-दायक बुद्धिमूलक अनुशीलन

समझे। ऐसा अध्यापक *नवयुवक गणितज्ञों के प्रशिक्षण का लक्ष्य अपने सामने रखेगा, जिनमें यथार्थ गणितमूलक उत्साह होगा, न कि वह छोटे तोते तैयार करेगा जो केवल परीक्षाओं में उत्तीर्ण हो सकें।* फलदायक बुद्धिमूलक कार्य के लिए स्वप्रेरित (स्वयंभव) अप्रेरणिक अवधान ही सर्वोच्च अवधान है। जब ऐसे स्थायीभाव बन जायँगे तो छात्र स्वयं अपनी शिक्षा को अपने हाथ में ले लेगा, वह अपने अध्यापक को कठोर स्वामी के रूप में न देखेगा, वरन् एक मित्र और पथ-प्रदर्शक के रूप में देखेगा जो उसके खोज-कार्य (researches) में उसका सहायक है। वास्तव में इसी प्रकार की रुचि और अवधान को ही खोज के कार्य की सच्ची लगन का द्योतक कहते है।

कुछ लोग कहेंगे कि उपर्युक्त सलाह पूर्णता की सलाह है। अवश्य ही यह एक आदर्श है जो हमारा उद्देश्य होना चाहिए—यह लक्ष्य है न कि अधिकांश बुद्धिमूलक शिक्षा की प्रक्रिया। हमको अपने अधिकांश काम में प्रेरणिक या ऐच्छिक अवधान से काम लेना चाहिए, और प्रत्येक उपलब्ध साधन द्वारा अपने शिष्यों को प्रोत्साहन देना चाहिए कि वे अपने अध्ययन में लवलीन हों। हमें उन के आत्म-सम्मान को पोषण करना होगा और उनको प्रोत्साहित करना होगा कि वे कठिनाइयों से विचलित न हों। परन्तु स्पष्ट है कि जो अवधान संकल्प द्वारा पोषित है वह उस अवधान से स्पर्धा नहीं कर सकता जिसके पीछे प्रत्यक्ष रुचि है, और प्राप्त बुद्धिमूलक फल भी इतने उत्तम न होंगे। परन्तु जब हम बुद्धिमूलक शिक्षा के प्रश्न से आगे बढ़ते हैं और चरित्र-निर्माण की बात सोचते हैं, तो बात दूसरी ही हो जाती है। इस दशा में संकल्पमूलक (ऐच्छिक) ध्यान अधिक महत्त्वपूर्ण है। कोई भी मनुष्य उन विषयों में बालक के प्रशिक्षण के महत्त्व पर सन्देह नहीं कर सकता जो आन्तरिक दृष्टि से रोचक नहीं हैं।

संकल्प (will) का शिक्षण प्रारम्भ में अभ्यास द्वारा ही होता है और एक क्षेत्र जिसमें इसका अभ्यास लाभदायक रूप से किया जा सकता है निस्सन्देह बुद्धिमूलक प्रयत्न का क्षेत्र है।

अवधान के विषय में अनुसन्धान के लिए प्रयोगात्मक मनोवैज्ञानिकों ने बहुत परिश्रम किया है और उनके प्राप्त फल बहुत महत्वपूर्ण है। पूरे विवरण के लिए विद्यार्थी को प्रयोगात्मक मनोविज्ञान और शिक्षा की पुस्तकों का अनुशीलन करना होगा, परन्तु उसके लिए सुविधाजनक होगा कि मुख्य परिणाम यहाँ संक्षिप्त रूप से दे दिये जायँ।

इस विषय पर विस्तृत कार्य करने के फलस्वरूप आचार्य स्पीअरमेन (Spearman) ने एक महत्त्वपूर्ण परिमाणात्मक नियम निर्मित किया है। जिसको वह "विस्तार का नियम" (law of span) कहता है। "प्रत्येक मन की प्रवृत्ति है कि वह अपने सकल समकालिक ज्ञानमूलक उत्पाद के परिमाण में स्थिरता रखता है, यद्यपि वह गुण में विभिन्न होता है।"[१] (Every mind tends to keep its total simultaneous cognitive output constant in quantity however varying in quality)। उसका मत है किसी व्यक्ति की मानसिक चेतना-शक्ति परिमाण में सीमित है, और यदि वह एक दिशा में व्यय होती रहती है तो दूसरी दिशा में नहीं व्यय हो सकती। निम्न अनुच्छेदों में उदाहरणों द्वारा यह नियम स्पष्ट हो जायगा।

प्रयोगकर्ताओं ने दार्ष्टिक अवधान की अवधि अथवा विस्तार को निश्चित करने का प्रयत्न किया है। इसके लिए उन्होंने *अल्पदर्शी* (tachistocope) का प्रयोग किया, जो एक प्रकार का उपकरण है जिससे पदार्थों का बहुत थोड़ी देर के लिए विगोपन

---

1. *The Nature of 'Intelligence' and the Principles of Cognition*, p. 131.

(expose) किया जा सकता है। किसी व्यक्ति को कुछ अव्यवस्थित विन्दुओं अथवा अक्षरों को देखने का क्षणिक अवसर दिया जाता है और फिर उससे पूछा जाता है कि उसने कितने देखे। यह ज्ञात किया गया है कि प्रौढ़ केवल एक निगाह में, पाँच या छ. अव्यवस्थित विन्दुओं को देख सकते हैं; परन्तु वे अधिक ज्ञात कर सकते है यदि वे विशेष आकारों में व्यवस्थित हों, जैसे कि खेलने-की-ताशों पर। अवश्य ही पिछली दशा में, व्यक्ति नमूने को पहले देखता है और बाद के विश्लेषण से विन्दुओं की संख्या को ज्ञात करता है; और प्रश्न उठता है कि क्या व्यक्ति सदा ऐसा नही करता। मन में मिश्रित समष्टियों (complex wholes) को जानने की सामान्य प्रवृत्ति है, और तत्पश्चात् वह उनका विश्लेषण उनके भागो में करता है। यहाँ इस बात का थोड़ा-सा प्रमाण है कि ध्यान देने वाला व्यक्ति सम्पूर्ण नमूने को देखता है जब उसको वह दिखाया जाता है, और विन्दुओं को स्मृति-मूर्ति (memory-image) द्वारा गिनता है; क्योकि यह ज्ञात किया गया है कि उन व्यक्तियों में अवधान का बड़ा विस्तार होता है जिनकी सतत स्मृति-मूर्तियाँ (persistent memory images) होती है। अवधान की एक कृति में कितनी वस्तुएँ देखी जा सकती है यह वास्तव मे इस बात पर निर्भर है कि पृथक्-पृथक् है अथवा एक पूर्ण वस्तु के अंश है जो "भिन्नता मे एकता" के द्योतक है।

श्रव्य अवधान के विस्तार पर भी प्रयोग किये जा चुके है। व्यक्ति को शीघ्रवर्ती अनुक्रम में होने वाली सम-ध्वनियाँ सुनाई गई, जैसे तालमान (metronome) के स्पन्दन। यह ज्ञात किया गया है कि प्रौढ़ ऐसी आठ ध्वनियों का आभास प्राप्त करते है।

अवधान की निरन्तरता के प्रश्न पर अन्वेषण किया गया

है। *हम कितने समय तक ध्यान जमा सकते हैं?* हम लगातार कई घण्टों तक एक कार्य पर ध्यान देने की चर्चा करते हैं, परन्तु इसका अर्थ यह नहीं है कि सारे समय तक चेतनता के केन्द्र (focus) पर एक ही वस्तु रहती है। इस विषय पर किये जाने वाले प्रयोगों में व्यक्तियों को एक अत्यन्त धूमिल दृष्टव्य अथवा श्रवण उत्तेजक दिया जाता है, और उनको आदेश दिया जाता है कि वे प्रयोगकर्ता को बतायें कि उनका अवधान कब समाप्त हो जाता है अथवा कब पुनः आरम्भ होता है। अधिकांश व्यक्तियों के विषय मे यह ज्ञात किया गया है कि प्रति पाँच या छः सैकिण्ड के पश्चात् अवधान का पतन हो जाता है। इस प्रकार हमारा ध्यान किसी कार्य में निरन्तर नही रहता, विशेषतः छोटे-छोटे आकस्मिक प्रयत्नों में।

मनोवैज्ञानिकों ने एक और समस्या को प्रयोगों द्वारा सुलझाने का प्रयत्न किया है कि, *क्या हम दो या तीन वस्तुओं पर एक साथ ध्यान दे सकते हैं?* स्पष्ट है कि ऐसा करने की क्षमता अध्यापक के लिए मूल्यवान् सम्पत्ति है, जिसको बहुधा अपना अवधान अपने शिष्यों के व्यवहार तथा वास्तविक पाठ के मध्य में विभाजन करना पड़ता है। अवधान के विभाजन की जाँच की विधि निम्न है। एक व्यक्ति से पहले दो या तीन कार्य अलग-अलग करने के लिए कहा जाता है, और प्रत्येक कृति का मूल्यांकन एक नियत समय में किया जाता है; फिर उससे इन कामों को एक साथ करने के लिए कहा जाता है, और उनका मूल्यांकन किया जाता है। इस उद्देश्य के लिए सुविधाजनक कार्य हैं—खेल की ताशों को किसी विशेष क्रम से लगाना और अंकों के एक क्रम को समानान्तर-वृद्धि में लिखते रहना, उदाहरणार्थ २६, ३३, ३७,....। यह मालूम किया गया है, जैसी हमको आशा करनी चाहिए, कि एक साथ कृति में दोनों कार्यों को हानि पहुँचती है;

और यह विस्तार के नियम (law of span) का बहुत स्पष्ट उदाहरण है। मानसिक चेतना-शक्ति, एक मार्ग में प्रवाहित होने के बजाय दो मार्गों में प्रवाहित होती है, और प्रत्येक के लिए जो प्रदाय (supply) उपलब्ध है वह कम है। परन्तु जब कार्यों में से एक लगभग यान्त्रिक होता है जैसा अधिकतम गति से खुटखुटाना, कृति को अधिक हानि नहीं पहुँचती जब कि वह किसी दूसरी वस्तु के साथ संयुक्त हो जाती है; कदाचित् ऐसे कार्य के लिए बहुत कम मानसिक चेतना-शक्ति की आवश्यकता पड़ती है। अवधान के विभाजन के इन प्रयोगों में व्यक्ति के अन्तःप्रेक्षण द्वारा एक रोचक और महत्त्वपूर्ण बात ज्ञात हुई है—वह है कि अवधान एक कार्य से दूसरे पर दोलायमान होता (fluctuates) है। हमारा ध्यान एक कार्य की ओर जायगा और कुछ देर तक यह यान्त्रिक ढंग से चलता रहेगा, जब कि हम दूसरे कार्य पर ध्यान देते हैं। इस प्रकार हम वास्तव में एक-साथ दो बातों पर ध्यान नहीं देते; चेतनता के केन्द्र पर दो वस्तुओं का कम या अधिक तीव्र विकल्प होता है।

हमको यहाँ मेकडूगल के महत्त्वपूर्ण सिद्धान्त का उदाहरण मिलता है कि "ज्ञान (cognition) की अपेक्षा चेष्टा (conation) अधिक देर तक रहती है जब कि ज्ञान ही उसको आरम्भ करता है।"[1] वह सामान्य अनुभव है कि कुछ कार्य करने का विचार करना और फिर भूल जाना कि यह कार्य क्या है। हमको चेष्टा अथवा प्रयत्न का अनुभव होता है, परन्तु प्रयत्न की वस्तु हमारे पास से चली गई है। उदाहरण के लिए, हम पुस्तक-आवेष्टन से एक पुस्तक लेने के लिए कुर्सी मे उठ सकते हैं और फिर कुर्सी की ओर लौट सकते हैं यह मालूम करने के लिए कि हम किस अभिप्राय से उठे थे। मेकडूगल बताता है कि उसने चिन्ताकुल

1 *An Outline of Psychology*, p. 282.

भावना (uneasy feeling) पर विश्वास करना सीख लिया है कि उसको कुछ न कुछ करते रहना चाहिए; वह कहता है कि यह निश्चित चिह्न है कि कोई बात भुला दी गई है।

जब व्याकुलता के प्रभाव के विषय में अन्वेषण किया जाता है तो प्रायः विरोधाभास (paradoxical) परिणाम मिलता है। पाठक को किसी कार्य में संलग्न किया जाता है और उसका ध्यान हटाने का प्रयत्न किया जाता है; परन्तु बहुधा बाधा से उसको प्रोत्साहन मिलता है; बहुधा वह संकट का सामना करता है, और अधिक उत्तम कार्य करता है उसकी अपेक्षा जब कि उसके कार्य में कोई बाधा नहीं डाली गई थी। इस परिणाम का फल सुगमतापूर्वक ज्ञात हो सकता है; व्यक्ति संकल्प का प्रयत्न करता है जो प्रतिकूल दशाओं की क्षति-पूर्ति करता है। वे मनुष्य जो हो-हल्ला में कार्य करने के अभ्यस्त हैं कभी-कभी यह मालूम करते हैं कि जब बाधा नहीं रहती तो वे आवश्यक प्रयत्न नहीं कर सकते। फिर भी, सम्भावना यह है कि बाधक दशाओं के काम में थकावट अधिक होती है। पहले, देखने में यह ज्ञात होता है कि इन प्रयोगों का फल 'विस्तार के नियम' (law of span) का विरोध करता है; परन्तु ऐसी सम्भावना नहीं है। व्यक्ति ने जो चेतना-शक्ति व्यय की है वह उस अधिकतम चेतना-शक्ति से अधिक नही है जिसको व्यय करने की क्षमता उसमें है; वह केवल अपनी संग्रहीत चेतना-शक्ति को काम में लेता है।

प्रयोगात्मक कार्य द्वारा अवधान के प्रकार ज्ञात हुए हैं; पृथक्-पृथक् व्यक्ति स्वभाव से ही भिन्न-भिन्न प्रकार से ध्यान देते हैं। कुछ मनुष्य, सम्भवतः झटके से, अपने अवधान को अनेक प्रकार के पदार्थों पर फैलाते हैं, जब कि अन्य मनुष्य केवल एक पर ही अपना ध्यान केन्द्रित कर सकते हैं। इनमें से पहले *विन्यासमूलक प्रकार* (distributive type) के हैं, और पिछले *घनीभूत*

प्रकार (intensive type) के। विस्तार के नियम से यह परिणाम निकलता है कि यदि कोई मनुष्य कई बातों पर ध्यान देता है तो वह उतनी घनिष्ठता से ध्यान नहीं दे सकता जितनी कि उस दशा में जब कि वह केवल एक ही वस्तु पर ध्यान देता है। परन्तु क्या इससे यह निष्कर्ष निकाला जाय कि विन्यासमूलक प्रकार का मनुष्य तीव्रता से ध्यान नही दे सकता ? जैसा हम देख चुके है, वह कदाचित् वास्तव में एक ही क्षण में कई वस्तुओं पर ध्यान नही देता, वरन् शीघ्र क्रम में एक के बाद दूसरी पर ध्यान देता है; इस प्रकार उसका अवधान जब तक वह रहता है, प्रत्येक के प्रति बहुत तीव्र हो सकता है। परन्तु दोनों में से किसी दशा में हम उसे अल्पज्ञानी (dilenttante) नही कह सकते और अवश्य ही यह परिणाम भी नहीं निकलता कि यदि कोई व्यक्ति गम्भीरता-पूर्वक ध्यान नही दे सकता है, तो वह विन्यासमूलक रीति से ध्यान दे सकता है क्योंकि यह भी सम्भव है कि उसमें मानसिक चेतना-शक्ति (mental energy) की कमी हो। परन्तु ये प्रकार पाये जाते है और इस बात के भी प्रमाण हैं कि शिक्षक उनको बदलने में शक्तिहीन है। स्पष्ट है कि दोनों प्रकार के मनुष्यों के लिए उपयोगिता के पृथक्-पृथक् क्षेत्र प्रस्तुत हैं। उदाहरण के लिए, घनीभूत प्रकार का मनुष्य गम्भीर वैज्ञानिक खोज में सफल हो सकता है, परन्तु इस क्षेत्र में विन्यासमूलक मनुष्य की कृतियाँ बहुत कम होने की सम्भावना है। कदाचित् सब बड़े वैज्ञानिक घनीभूत प्रकार के ही होते हैं। इसके विपरीत, आधुनिक कार्य-प्रणाली की जटिलता के लिए विन्यासशील मनुष्य घनीभूत मनुष्यों की अपेक्षा अधिक सफल हो सकते है। यह स्पष्ट है कि दोनों प्रकार के बालक स्वभावतः कार्य करने की भिन्न-भिन्न रीतियों को काम में लेंगे; और इस समस्या का हल, जैसा कि इसी प्रकार की

अन्य व्यावहारिक समस्याओं के विषय में है, व्यक्तिगत कार्य की अधिकता को स्वीकार करने में है।

ऐसा ही, यद्यपि बिल्कुल यही नही, *स्थिर* (fixating) और *चंचल* (fluctuating) प्रकार के मनुष्यो में भेद है। स्थिर स्वभाव के मनुष्य सावधानी से ध्यान देते है और केवल उसी को ज्ञात करते हैं जो वहाँ है; उनके वर्णनों में वस्तुगत अनुराग (objective fidelity) के लक्षण मिलते है। इसके विपरीत, चंचल वृत्ति के मनुष्य अवधान की वस्तु स्वयं अपनी कल्पनाओं के टुकड़ों से सजाते है और सूचित करते है जो वे सोचते है कि उन्होंने देखा, अथवा देखने की आशा की। ये दोनों प्रकार वाचन (reading) के शिक्षण में स्पष्ट रूप से देखे जाते है। कुछ छात्र ठीक-ठीक पढ़ते है, और जो वे वास्तव में देखते है, उस पर ध्यान देते है; जब कि दूसरे छात्र शब्दों को अटकल से पढ़ते है और उनके सामान्य रूपों द्वारा उनका निर्णय करते है।

गतिशील (*Dynamic*) और *स्थिर* (*static*) प्रकारों का अन्तर अस्पष्ट और स्पष्ट प्रेरणिक अवधान के अनुरूप है जिसके विषय में हम पढ़ चुके है। जो गतिशीलता से ध्यान देते है उनको ध्यान देने के लिए बार-बार याद दिलाना पड़ता है; परन्तु जो स्थिर प्रकार के है वे प्रारम्भ में प्रयत्न करते है और कार्य में लगातार ध्यान लगाते है। यह अन्तर जन्मजात भी हो सकता है।

हमने अवधा-प्रक्रिया के अनेक मनोवैज्ञानिक सहवर्तन (accompaniments) शरीर की दशा और अधिक गम्भीर आन्तरिक परिवर्तनों दोनो मे देख लिये। उनके कारण हम को यहाँ रुकने की आवश्यकता नहीं है। प्रत्येक अनुभवी अध्यापक छात्रो के चेहरों की विकृतियों तथा उनके शरीरों के आसनों द्वारा अवधान के चिह्नों को जानता है। छोटे बच्चों के अध्यापक उनके चेहरे

की और दैहिक वृत्तियों से भली भाँति परिचित है जो एकाग्रता की प्रक्रिया के साथ पायी जाती है; अँग्रेज़ी के प्रसिद्ध चित्र *लेखन-पाठ* (*The Writing Lesson*) में वे मनोरम ढङ्ग से दिखाये गये है । शरीर की ऐसी अनावश्यक गतियाँ लुप्त होती जाती है जैसे-जैसे बच्चा प्रवीणता प्राप्त करता जाता है।

बच्चों और प्रौढ़ों के अवधान में कुछ मोटे भेद किये जा सकते है; परन्तु रुचि का सिद्धान्त बराबर लागू है। बच्चे अमूर्त विचारों की अपेक्षा उन वस्तुओं पर अधिक ध्यान देते है जिनको वह देख या सुन सकते है; इसका कारण केवल यह है कि वे ऐसी वस्तुओं में अधिक रुचि लेते है। इसका व्यावहारिक उपप्रमेय यह है कि छोटे बच्चों को पढ़ाते समय हम को वास्तविक वस्तुओं और चित्रों का प्रयोग करना चाहिए, और केवल बातचीत की धारा से बचना चाहिए; शब्द विचारों (प्रत्ययों) के वाहन हैं, और अधिक मूर्तिमान विधि की आवश्यकता है। फिर, बच्चे की रुचियाँ उसके स्थायीभाव न हो कर उसकी मूलप्रवृत्तियाँ है, और उसका आत्म-सम्मान का स्थायीभाव (self-regarding sentiment) न हो कर उसके स्थायीभाव (sentiments) है। इस प्रकार यह ज्ञात करके हम को आश्चर्य नही होता है कि बच्चे का अवधान उस की मूलप्रवृत्तियों द्वारा प्रशासित है, जैसे जिज्ञासा (curiosity) और स्व-स्थापन (self-assertion) न कि स्थायीभाव (sentiments) अथवा सकल्प (will) द्वारा। और जब हम प्रेरणिक ढङ्ग से उसे ध्यान देने में प्रलोभित कर लेते है, तो हम मालूम करते है कि उसका ध्यान स्थिर (static) न हो कर गतिमान (dynamic) है।

उपर्युक्त समस्त विचारो से तरुण अध्यापक को अवधान को जुटाने और एकाग्र करने के अति महत्त्वपूर्ण कार्य मे सहायता मिलेगी। उसको सदैव, अपने शिष्य के विकास के प्रक्रम के

अनुसार उसकी किसी रुचि को अवश्य जाग्रत करना चाहिए— मूलप्रवृत्ति स्थायीभाव अथवा आत्म (self)। आरम्भ में उसका मुख्य सहायक जिज्ञासा की मूलप्रवृत्ति है; यहाँ उसे उन उत्तेजकों की सहायता को .अस्वीकार न करना चाहिए जो अद्‌भुत और नवीन है। आगे चल कर, उसे अपना शिक्षण अपने छात्रों की अभिरुचियों (hobbies) तथा अन्य अर्जित रुचियों (acquired interest) को केन्द्रित करके निर्मित करना चाहिए, जब यह न किया जा सके तो वह अपने उदाहरण बहुधा इन्हीं रुचियों से ले सकता है। वह यह भी प्रदर्शित कर सकता है कि उसके पाठ उन समस्याओं को सुलझाने में सहायक होंगे जिनमें छात्रों को रुचि है; और यह कि उनमें नवीन बल उत्पन्न होगा जो वांछनीय है। आरम्भ में ही पाठ का उद्देश्य स्पष्ट कर देना उचित है, और यह ठीक नहीं है कि बच्चे अटकल लगाते रहें कि पाठ किस विषय के सम्बन्ध में है। अन्त में अध्यापक को जानना चाहिए कि संकल्पमूलक या प्रेरणिक (volitional) अवधान और चरित्र-शिक्षण दोनों साथ-साथ चलते हैं; और प्रेरणिक अवधान की सफलता चरित्र-शिक्षण के महान् कार्य की सफलता के अनुपात में रहती है।

विशेष अध्ययन के लिए उपयोगी पुस्तकें

Stout : *A Manual of Psychology*, chapter ii; *The Groundwork of Psychology*, chapter vi.

James : *The Principles of Psychology*, chapter xi.

McDougall : *An Outline of Psychology*, chapter ix.

Rusk : *Experimental Education*, chapter iv.

Collins and Drever : *Experimental Psychology*, chapter vii.

Spearman : *The Nature of 'Intelligence' and the Principles of Psychology*, chapter xi.

Adams : *Primer on Teaching*, chapter iii.

: ११ :

स्मृति

(Memory)

"ज्ञानमूलक घटनाएँ घटित होकर मनःव्यवस्थाओं (dispositions) का स्थापन करती हैं जिनसे उनके पुनः होने में सुविधा होती है"। इन शब्दों में आचार्य स्पीयरमैन[1] ने स्मृति का आधारभूत नियम बतलाया है। संचय-शक्ति (mneme) अथवा स्वयं अपनी प्रक्रिया के उत्तर-प्रभावों के संचय करने की मन की सामान्य शक्ति का निरूपण हम पहले ही कर चुके हैं। हम देख चुके हैं कि हमारे समस्त वर्तमान अनुभवों पर भूतकालीन अनुभवों की छाप पड़ती है और वे उनसे सम्बद्ध हैं, जिन्होंने अपने पीछे मानसिक रचना में व्यवस्थाओं (dispositions) या संस्कारों (engrams) को छोड़ा है। मन.व्यवस्थाओं की इस परिकल्पना के संबन्ध में ही हम विगत घटनाओं को स्मरण रखने की शक्ति की व्याख्या करते हैं।

सही अर्थ में 'स्मृति' (memory) शब्द 'संचय-शक्ति' (mneme) की अपेक्षा अधिक संकीर्ण है; वह ज्ञान के स्तर पर उठी हुई संचय-शक्ति है। हमारे समस्त अनुभवों का आधार संचयशक्ति-मूलक है, परन्तु वे सब स्मृति नहीं हैं। स्मृति में "भूत काल से वह निर्देशन (reference), जो प्रत्येक मानसिक प्रक्रिया में निहित है, अन्य कार्यों की अपेक्षा अधिक स्पष्ट और प्रमुख है।"[2] व्यक्ति को वर्तमान अनुभव और पूर्व अनुभव का

1 *The Abilities of Man*, p. 271.

2 McDougall, *An Outline of Psychology*, p. 209.

संबंध अवश्य ज्ञात करना है, अर्थात् एक अनुभव केवल स्मृति है यदि उसकी अनुभूति स्मृति के रूप में होती है। यह मान लेना निश्चय ही भूल है कि पूर्व अनुभव इस समयान्तर में शीत-संग्रहण (cold storage) में संग्रहीत है और पुनः अविकल अर्थात् त्यों का त्यों उसका आविर्भाव हो जाता है। स्मृति एक नया अनुभव है जो उन मनःव्यवस्थाओं द्वारा निश्चित होता है जिनका आधार एक पूर्व अनुभव है, और दोनों के बीच का सम्बन्ध स्पष्ट समझा जाता है।

केवल कुछ ही अनुकूल दशाओं में ऐसा होता है कि अनुभवों द्वारा स्थापित मनःव्यवस्थाएँ स्मृतियों को निश्चित करती है। परन्तु स्मरण रखने में विफलता यह नही सिद्ध करती कि मनः-व्यस्थाएँ नहीं स्थापित की गई हैं अथवा वे क्रियाशील नही है। उदाहरण के लिए, हम कुछ पहले सीखे हुए निरर्थक शब्दों के एक क्रम का पुनस्मरण (recall) करने अथवा पहचानने तक में भी असफल हो सकते है। परन्तु यदि हम प्रयत्न करें तो हमको अवश्य ही ज्ञात होगा कि क्रम को फिर याद करने के लिए कम पुनरावर्त्तनों (repetitions) की आवश्यकता होगी, जिससे पहले याद करने के फलस्वरूप मन.व्यवस्थाओं का अस्तित्व और क्रियाशीलता सिद्ध होती है। यहाँ कोई वस्तु नही है जिसे स्मृति कहा जा सके। फिर भी, यदि किसी बाद के अवसर पर हम पहचान लें कि यह वही क्रम है जिसको हमने पहले सीखा था, तो हमारा अनुभव स्मृति के शीर्षक के अन्तर्गत आ जायगा। संचय-शक्ति का पहला व्यंजन या प्रकाशन अभिज्ञान (recognition) है, जिसे हम स्मृति कहते हैं, क्योंकि इसी में भूतकाल का वह स्पष्ट संकेत है जिसकी आवश्यकता हम देख चुके है। भूत का अस्पष्ट उल्लेख यथेष्ट नही है। उदाहरण के लिए, एक पिल्ले के लिए जिस पर पत्थर फेंके जा चुके है, यह आवश्यक नही है

कि किसी भविष्य के अवसर पर उन लड़कों को पहचान ले जिन्होंने उस पर पत्थर फेंके थे। उसके व्यवहार का निर्देशन केवल पूर्व अनुभव का अस्पष्ट संकेत है, और इससे अधिक कुछ नहीं है। परन्तु यथार्थ अभिज्ञान में वर्तमान और भूत अनुभवों के बीच के सम्बन्ध का ज्ञान निहित है।

यदि हम फिर से बिना देखे हुए अपने निरर्थक शब्दों को पुनर्स्मरण कर सकें तो हमको अभिज्ञान से ऊँचा स्मृति का एक रूप मिल जायगा। यथार्थ स्मृति पूर्व अनुभवों का प्रत्याह्वान (पुनर्स्मरण) है जैसे वे हुए थे। हम को स्मृति-अनुभव होता है जब हम किसी पदार्थ के विषय में पुनः विचार करते हैं जिसके बारे में पहले विचार किया जा चुका था और हम प्रत्यक्षीकरण करते हैं कि हम ऐसा कर रहे हैं; और स्मृति की शुद्धता उसके बारे में ठीक वैसा ही सोचने में है जैसा कि उसके विषय में किसी पूर्व अवसर पर विचार किया गया था।

संचय-शक्ति (mneme) और स्मृति (memory) के विभिन्न वर्गों के भेदों को स्पष्ट करने के लिए एक सरल उदाहरण सहायक होगा। कल्पना कीजिए कि मैं दर्शन पर एक कठिन ग्रन्थ पढ़ रहा हूँ, और जो कुछ मैं पढ़ रहा हूँ वह मेरी समझ में नहीं आ रहा है। मुझे बाधा पड़ती है, मैं कार्य बन्द कर देता हूँ और पुस्तक को एक ओर रख देता हूँ। जब मैं अपना पठन फिर आरम्भ करता हूँ मुझे नहीं ज्ञात है कि मैंने कहाँ छोड़ा था, अतएव एक संभावित स्थान पर आरम्भ करता हूँ। एक पृष्ठ पढ़ने के बाद मुझे एक ऐसा अनुच्छेद मिलता है जिसे मैं पहचान लेता हूँ कि मैंने पहले पढ़ा था। इस पृष्ठ के पूर्व वाचन का मेरे ऊपर क्या प्रभाव है जब कि मैं उसे दूसरी बार पढ़ने पर पहचानने में विफल होता हूँ? इससे अवश्य

ही दूसरा वाचन सरल हो गया होगा उन मनःव्यवस्थाओं के कारण, कदाचित् निर्बल, जिनको वह पीछे छोड़ गया था। अब यदि मैं उस कठिन अनुच्छेद को हृदयंगम करने का निश्चय करता हूँ तो मैं उसे बार-बार पढ़ूँगा और शीघ्र ही उसे पहचानने के प्रक्रम पर पहुँच जाऊँगा जब कि मैंने उसे पढ़ा था, क्योंकि पुनरावर्तन के वाचनों ने मनःव्यवस्थाओं को दृढ़ कर दिया है। अन्त में मनःव्यवस्थाएँ इतनी बलवान् और इतनी मान्य हो सकती हैं कि मै अनुच्छेद का पुनर्स्मरण अपनी इच्छानुसार कर सकता हूँ।

इस प्रकार स्मृति एक जटिल प्रक्रिया है जिसमें मनःव्यवस्थाओं का स्थापन, उनकी धारणा, (retention) और अनुभवों का पुनर्स्मरण जिन्होंने मनःव्यवस्थाओं को पीछे छोड़ दिया है, सम्मिलित है। बर्गसन (Bergson) मनःव्यवस्थाओं के केवल अधिकार और पुनर्स्मरण, की क्षमता पर बहुत बल देता है। वह स्वभाव-स्मृति (habit-memory) और यथार्थ स्मृति (true memory) में महान् भेद बताता है; इनमें से पहली तो केवल कारक यंत्र (motor mechanisms) पर निर्भर है और पिछली स्वतंत्र अनुबोध (independent recollections) है। मनःव्यवस्थाओं के स्थापन तथा व्यवस्था के द्वारा हम किसी परिस्थिति में ठीक प्रतिक्रिया करने के योग्य होते हैं; दूसरे शब्दों में, हमने एक आदत बना ली है। किसी बात को रट कर सीखना केवल एक मौखिक आदत है; हम "उसे अपनी जिह्वा पर से ढकेल देते हैं" और सीखने के साथ की परिस्थितियों को तनिक भी पुनःस्मरण नहीं करते। इसके विपरीत, यथार्थ स्मृति में विगत परिस्थितियों की प्रतिमाएँ अथवा मानसिक चित्र सम्बद्ध हैं।[1] (Nunn) का कहना है कि बर्गसन के मत में शरीर और मन का अवांछनीय विभाजन

1 *Education : its Data and First. Principles*. pp. 45, 46.

है, स्वभाव-स्मृति तो शारीरिक यन्त्र का विषय है और यथार्थ स्मृति मानसिक क्रिया से सम्बद्ध है। बर्गसन के भेद को बहुत आगे न बढ़ाते हुए हम उसके महत्त्व को स्वीकार कर सकते हैं; कदाचित् यह प्रकार का भेद न हो कर परिणाम का भेद है। किसी बात को रट कर याद करते समय भी हम वास्तविक सीखने के अनुबोध (recollections) रख सकते हैं; और यह संभव प्रतीत होता है कि आरम्भ में कोई स्वभाव-स्मृति रूपहीन नहीं है। चेतना, स्मृति-प्रतिमाओं के रूप में, नहीं रहती जब उसका उपयोग नहीं रहता। एडम्स (Adams) के प्रसिद्ध सिद्धान्त "वास्तविक सीखना विवेकपूर्ण भूलना है" (true learning is judicious forgetting) की व्याख्या इस अर्थ में ही की जा सकती है।

स्मृति के विषय पर अनेक प्रयोगात्मक कार्य किये जा चुके है और उनसे अनेक रोचक परिणाम प्राप्त हुए हैं। इन प्रयोगों की दशाएँ सदा ही निरर्थक शब्दों के प्रयोग द्वारा, सरल कर दी जाती हैं, जिनमें अर्थ और रुचि के अधिक परिवर्तनशील तत्त्व नहीं हैं। यदि यह आपत्ति की जाय कि इस सामग्री पर कार्य करने के पश्चात् हम जिन परिणामों पर पहुँचते है यह आवश्यक नहीं है कि वे बुद्धि-मूलक याद करने पर भी लागू हों, तो इसका उत्तर यह दिया जा सकता है कि निश्चित फल तभी मिल सकते हैं जब एक बार में एक तत्त्व में परिवर्तन किया जाय।

निरर्थक शब्दों की माला का प्रयोग उन बातों के निश्चय करने में भी किया जा सकता है जो एक बार दोहाराने के पश्चात् तुरन्त ही कहे जा सकते हैं, और इस प्रकार स्मृति-विस्तार (memory-span) का मापदण्ड मिल सकता है; या वे व्यक्ति की धारणा (retention) की शक्ति की जाँच-पड़ताल करने

में लगाये जा सकते है। पिछली दशा में विभिन्न विधियाँ प्रयोग मे लायी जाती है। 'सीखने और बचाने' (learning and saving) की विधि मे निरर्थक शब्दों की मालाएँ एक बार में एक ही नियमित समय से दिखाई जाती है। घटक उनको देख कर बोलता है, और पुनरावृत्ति करने का प्रयत्न करता है। उसी प्रकार से वे दूसरी बार दिखाई जाती है और फिर पुनरावृत्ति की जाती है। ऐसा होता रहता है, जब तक कि माला शुद्ध रूप से दोहराई न जा सके। पुनरावृत्ति की आवश्यक संख्या व्यक्ति के सीखने की शक्ति के विलोम माप में होती है। उचित समयान्तर के पश्चात् वह शब्दमाला को दोहराने का प्रयत्न करता है और फिर सीखता है यहाँ तक कि वह प्रवीण हो जाता है। दूसरी बार सीखने में दोहराने की संख्या मे बचत उसकी धारणा-शक्ति का माप है।

'उत्तेजन' (prompting) विधि में शब्दमाला अधूरी सीखी जाती है, और सीखने की योग्यता की जाँच उतनी बार की संख्याओं द्वारा होती है जितनी बार व्यक्ति को पूर्ण पुनरावर्तन के लिए प्रोत्साहन मिलता है। 'गणन' (scoring) विधि में माला निश्चित बार दोहराई जाती है, जो पूरा सीखने के लिए यथेष्ट नही होती। एक विशेष प्रकार की अक्षर-लय प्रयोग में लायी जाती है, जिससे शब्दांश (syllables) जोड़ों (pairs) में सीखे जाते है। कुछ समयान्तर के पश्चात् जोड़ों में पहले शब्दांश किसी भी क्रम में, घटक के सामने रखे जाते है जिसे उनके साथियों को दोहराने के लिए कहा जाता है। सही पुनरा-बर्तन की संख्या ही गुणांक है। पदों के पुनर्स्मरण में जो समय लगता है वह भी नापा जा सकता है; इसको गुणांक का समय कहते है।

एक महत्त्वपूर्ण तथ्य जो ऐसे प्रयोगों से प्रदर्शित होता है

वह यह है कि तुरन्त पुनरावर्तन की शक्ति धारणा की शक्ति से भिन्न है। तुरन्त पुनरावर्तन अथवा अस्थायी धारणा दोहराने की संख्याओं और कार्य पर प्रेरणिक (volitional) ध्यान के परिमाण पर निर्भर है। अध्यवसाय (perseveration) नामक एक दूसरा तत्त्व और आ जाता है। अध्यवसाय (perseveration) मनःव्यवस्थाओं (dispositions) की उन प्रवृत्तियों को कहते हैं जो उन अनुभवों के दोहराने की हैं जिन्होंने उनको घटक के बिना प्रयास के और अपने आप जन्म दिया। इसके उदाहरण हैं सिर में राग का झङ्कृरित होना अथवा शब्दों के रूपों का अस्तित्व, अथवा दिन की घटनाओं का बार-बार आना जब हम सोने का प्रयत्न कर रहे हैं। यह स्पष्ट है कि वे घटक जिनमें अध्यवसाय की विशेष प्रवृत्ति है तत्कालिक स्मृति के जाँचों में अच्छे सिद्ध होंगे।

अवस्था के साथ तत्कालिक स्मृति के अन्तर पर भी अन्वेषण किया गया है, और परिणाम यह ज्ञात किया गया है कि इस दिशा में प्रौढ़ की अपेक्षा बच्चे की शक्ति कम है। म्यूमेन (Meumann) ने ज्ञात किया कि तेरह वर्ष की अवस्था तक तत्कालिक स्मृति का विकास धीमा होता है, फिर तेरह से सोलह तक तीव्र होता है और फिर पच्चीस वर्ष तक और भी अधिक उन्नति होती है, जब वह अधिकतम होती है। उस अवस्था के पश्चात् थोड़ा ह्रास आरम्भ हो जाता है। यह बात ध्यान देने की है कि इस शक्ति की तीव्र उन्नति किशोर-अवस्था के साथ संपातन करती है (concides)। तत्कालिक स्मृति का विचार, क्योंकि वह प्रत्येक व्यक्ति में भिन्न होती है, विभिन्न व्यवसायों में जाँच के कार्य में करना चाहिए; उदाहरण के लिए, दूरभाष चालक (telephone operator टेलीफून आपरेटर) की स्मृति।

परन्तु यह आवश्यक नहीं है कि शीघ्र कण्ठस्थ करने वाला

निश्चय धारण करने वाला भी हो। दीर्घकालीन धारणा मनः-व्यवस्थाओं के निर्माण और संघटन पर निर्भर है, और उसका सम्बन्ध सीखने के परिमाण से है जिसे हम स्थायी सम्पत्ति के रूप में समझ सकते हैं। जो सीखा जाता है उसे धारण करने की शक्ति में बच्चे अवश्य ही बड़ों की अपेक्षा अधिक श्रेष्ठ होते हैं। धारणा एक निश्चित अवस्था तक बढ़ती है, कदाचित् ग्यारह या बारह वर्ष तक, और फिर घटने लगती है। इस प्रकार बाल्य-अवस्था (छः से बारह वर्ष तक) कंठस्थ करने के लिए अनुकूल नहीं है, परन्तु धारणा (retention) के लिए अनुकूल है। जैसा कि रस्क (Rusk) ने कहा है[1] कि पुरानी कहावत 'छोटी अवस्था में सीखो, अच्छा सीखो' (Learn young, learn fair), का व्यावहारिक मनोविज्ञान द्वारा अनुमोदन हो जाता है, यदि धारणा से आशय है। इसलिए, इस भाव के लिए कुछ उचितता है कि जो कुछ समस्त जीवन भर धारण करने के लिए है वह भली भाँति बाल्यावस्था में सीखा जाता है।

यह भी खोज की गई है कि *विशेष स्मृतियाँ* भी होती हैं। पदार्थ, स्वर, शब्द, अमूर्त पद (abstract terms), भाव (ideas), संख्या और संवेग एक दूसरे से बिल्कुल भिन्न हैं और प्रथक्-प्रथक् आयु पर विकसित होते हैं। सम्भावित समाधान यह है कि स्मृति सामान्य रूप से रुचि पर निर्भर है।

कविता को सीखने की सर्वोत्तम विधि ज्ञात करने के लिए प्रयोग किये गये हैं, कि वह आंशिक रूप से सीखी जाय अथवा पूर्ण रूप से। सैद्धान्तिक दृष्टि से हम आशा करेंगे कि 'सम्पूर्ण विधि' (entire method) इसके लिए उपयुक्त होगी, क्योंकि पद के अन्तिम और प्रथम शब्दों में अनावश्यक बन्धन के निर्माण को वह त्यागती है और एक पद के अन्तिम शब्द तथा दूसरे के

1. *Experimental Education*, pp. 91, 92.

प्रथम शब्द के मध्य जो आवश्यक बन्धन है उनको प्रोत्साहित करती है। यह निश्चित रूप से सिद्ध किया जा चुका है कि "सम्पूर्ण विधि" २४० पंक्ति तक की लम्बाई की कविताओं के लिए उपयुक्त है। परन्तु इस परिणाम की कुछ सीमाएँ है। विंच (Winch) के अनुसार बच्चों के लिए 'अंश' विधि 'सम्पूर्ण' विधि की अपेक्षा उत्तम है। बच्चे को लम्बा कार्य मिलने से जो निराशा होती है उसका विचार रखना आवश्यक है, और एक पद को पूर्णतया याद करने के पश्चात् जो सन्तोष का आनन्द प्राप्त होता है वह एक अतिरिक्त प्रेरक है जिसकी उपेक्षा नहीं की जा सकती। स्पष्ट परिणाम यह निकलता है कि बिना निराशा के बालक को जितनी भी बड़ी अन्विवितियाँ हो सकें सीख लेनी चाहिए।

'मिश्रित' विधियाँ (mixed methods) दोनों के लाभों को मिलाती हैं। पाठ्य वस्तु सुविधाजनक अन्विवितियों में विभाजित कर दी जाती है, जो जितनी बड़ी सम्भव हों रखी जाती हैं; पहली अन्विति सीखी जाती है, फिर दूसरी और इसके पश्चात् पूर्ण विषय आरम्भ से ही कहा जाता है, और तत्पश्चात् तीसरी अन्विति को लेते हैं।

'सम्पूर्ण विधि' में एक सम्भावित असुविधा प्रौढ़ों के लिए भी यह है कि इसमें सरल भागों को दोबारा अनावश्यक रूप से ही सीखना पड़ता है जब कि पाठ कठिनाई में भिन्नता रखता है। ऐसी दशा में कठिनाइयों पर आरम्भ में ही पूर्ण रूप से अधिकार प्राप्त किया जा सकता है, और फिर 'सम्पूर्ण' विधि का प्रयोग किया जा सकता है। दूसरी 'मिश्रित' विधि यह है कि आरम्भ से ही शुरू किया जाय और आगे बढ़ा जाय जब तक कि हम प्रथम कठिनाई पर न पहुँच जायँ, और वहाँ रुक जायँ जब तक कि पहली कठिनाई को अधीन न कर लिया जाय; फिर आरम्भ

से ही शुरू किया जाय और आगे बढ़ा जाय जब तक कि दूसरी कठिनाई न आ जाय और उस पर विजय प्राप्त न हो जाय, और इसी प्रकार अन्त तक आगे बढ़ते जायँ।

सीखने में मितव्यता (economy in learning) सीखने के घण्टों के उचित वितरण से भी प्राप्त हो सकती है। लगातार दस दिनों तक प्रत्येक दिन एक-ही कविता पढ़ना अधिक लाभ-दायक है इसकी अपेक्षा कि वह एक ही दिन में दस बार पढ़ी जाय। समयान्तरों से दृढ़ीकरण होता है जो सीखने में सदा एक महत्त्वपूर्ण तत्त्व है। क्योंकि मनःव्यवस्थाओं को स्थापित होने में समय लगता है, विराम वांछनीय हैं।

क्या स्मृति अभ्यास द्वारा बढ़ाई जा सकती है? स्मृति-शिक्षण की कुछ प्रणालियों की आर्थिक सफलता से ऐसा प्रतीत होता है कि वह उन्नत की जा सकती है। प्रयोगों द्वारा स्पष्ट किया जा चुका है कि कंठस्थ करने की शक्ति अभ्यास से बढ़ती है, और यह उन्नति दूसरे द्रव्य पर भी स्थानान्तरित की जा सकती है उसके अतिरिक्त जिससे वह उन्नति हुई। यह विश्वास किया जाता है कि यह सामान्य उन्नति स्मरण करने की अधिक अच्छी विधियों को जान-बूझ कर अङ्गीकार करने के कारण है। घटक अधिक प्रभावपूर्ण ढङ्ग से कार्य में संलग्न हो जाता है; वह स्मरण करने के कार्य का अभ्यस्त हो जाता है; वह लय का अधिक प्रवीण प्रयोग करता है; और वह अपनी स्वयं की उन्नति में रुचि लेने लगता है। परन्तु क्या मनुष्य जो कुछ सीखता है उसे धारण करने की शक्ति अभ्यास द्वारा बढ़ाई जा सकती है? इस प्रश्न का उत्तर प्रायः 'नही' में दिया जाता है। जेम्स (James) शरीर-शास्त्र की दुहाई दे कर निश्चय रूप से कहता है, "संस्कृति का कोई भी परिमाण मनुष्य की सामान्य धारणा-शक्ति को रूपांतरित नही कर सकता अर्थात् घटा-बढ़ा नहीं सकता। यह

दैहिक गुण है, जो उसके संस्थान के साथ उसे सदा के लिए दे दिया गया है, और जिसे वह कभी नहीं बदल सकता।"[1] यह कथन अपना बल खो देता है यदि स्मृति मन का कार्य समझा जाय और स्नायु-संस्थान का भी; और, वास्तव में, डा० मेकडूगल ने, कुमारी एम० स्मिथ (Miss M. Smith) के सहयोग में, कुछ प्रमाण प्राप्त किये हैं कि धारण-शक्ति भी अभ्यास द्वारा बढ़ाई जा सकती है। यह तो अवश्य ही निश्चित है कि अध्यापक को अपने छात्रों को कण्ठस्थ करने की उत्तम विधियों का शिक्षण देना चाहिए और ऐसी विधियों की उपयोगिता की ओर उनका ध्यान आकर्षित करना चाहिए।

"अच्छी स्मृति रखना सुव्यस्थित मन को रखना है।" हम उन वस्तुओं को शीघ्र स्मरण कर लेते हैं जो हमारी निकटवर्ती अथवा दूरवर्ती रुचियों से सम्बन्धित हैं। सरल प्रयोगों द्वारा सिद्ध किया जा चुका है कि अर्थपूर्ण वस्तुओं को स्मरण रखना कहीं सुगम है उन निरर्थक शब्दों की अपेक्षा जिनका कोई अर्थ नहीं है। इसका कारण यह है कि पहलों में हमारी तत्कालिक रुचि हो सकती है और है, और वे स्मृति-चिन्हों को हमारी वर्तमान मानसिक प्रणालियों के साथ तुरन्त व्यवस्थित कर सकती हैं। जैसा अवधान की दशा में था, वैसे ही स्मृति की दशा में हम भावात्मक-चेष्टा-मूलक (affective-conative) तथ्य की ओर वापस लौटते हैं। रुचि और संकल्प स्मृति की मितव्यता में अत्यन्त महत्व-पूर्ण हैं; घटनाएँ जिनको हम शीघ्र स्मरण कर लेते हैं वे हैं जो हमारे संवेगों, हमारे स्थायीभावों, अथवा हमारे आत्म-भाव से संबंधित है।

अब हम विस्मृति की विपरीत घटना की ओर दृष्टिपात कर के प्रश्न पूछते हैं, "हम क्यों भूलते हैं?" अधिक अच्छा प्रश्न

1 *The Principles of Psychology*, vol. i, pp. 663, 664.

यह होगा कि, "स्मरण रखने में हम विफल क्यों होते हैं?" क्योंकि स्मरण रखने की अयोग्यता पुनर्स्मरण (recall प्रत्याह्वान) की विफलता है धारण की नहीं। यह विश्वास करने के प्रबल कारण हैं कि समस्त अनुभवों के उत्तर-प्रभाव स्थायी हैं, और सिद्धान्त रूप से, अवश्य ही जो कुछ कभी भी हमारे साथ घटित हो चुका है उसे स्मरण रखना असम्भव नहीं है। परन्तु व्यावहारिक रूप से, केवल अनुकूल परिस्थितियों में ही उत्तर-प्रभाव इतने शक्तिशाली और व्यवस्थित होते हैं कि वे स्मृति-अनुभव को निर्णीत कर सकें।

पुनर्स्मरण (recall) की विफलता के मुख्य कारण समय का बीतना तथा रुचि की कमी हैं। ये तत्त्व स्वतंत्र रूप से काम करते हैं—यह इस बात से सिद्ध होता है कि अत्यन्त रोचक घटनाएँ घटित होने के बहुत समय बाद भी बिल्कुल स्पष्ट याद रहती हैं। समय का तत्त्व काम करता है जब कि रुचि और अर्थ का अंश न्यूनतम रहता है, जैसा कि निरर्थक शब्दों की दशा में। 'शीघ्र विस्मृति (active forgetting) का फ्रॉयड (Freud) का सिद्धान्त भी याद रखने योग्य है। यहाँ रुचि का अभाव नहीं है जो पुनर्स्मरण को रोकता है वरन् उसका अत्यधिक मात्रा में होना है। हममें उन मनःव्यवस्थाओं (dispositions) को दबाने की प्रवृत्ति है जिन्हें यदि स्मृति को निर्णीत करने दिया जाय तो वे एक संघर्ष को चेतनता के स्तर पर ले आयेंगी।

समय व्यतीत होने के कारण विस्मृति की दर की जाँच सबसे पहले एबिनगौस (Ebbinghaus) ने १८८५ ई० में की थी। निरर्थक शब्दों की सूची को कंठस्थ करने से और विभिन्न समयान्तरों पर उनको फिर सीखने से उसने, बचत-पद्धति (saving method) द्वारा, भूले हुए परिमाणों की गणना की। उसने मालूम किया कि बीस मिनट पश्चात् ५८

प्रतिशत याद रहा आता है; एक घण्टे बाद ४४, प्रतिशत; नौ घण्टे बाद, ३६ प्रतिशत; एक दिन के उपरान्त, ३४ प्रतिशत; दो दिन के पश्चात्, २८ प्रतिशत; छः दिन के व्यतीत होने पर, २५ प्रतिशत; और तीस दिन के उपरान्त, २१ प्रतिशत। इस प्रकार भूलने की गति सीखने के तुरन्त बाद ही अत्यन्त तीव्र होती है। तीस दिन की अवधि के पश्चात् पाँचवाँ भाग फिर भी स्मरण रहता है; और सम्भावना यह है कि एक अच्छे भाग की स्थायी धारणा रही आती है जो फिर किसी समय भी माला को फिर से सीखने में सहायक हो सकती है। यदि वैसे ही परिणाम बुद्धि-मूलक विषय को सीखने पर लागू हैं तो हम इस निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि किसी बात को दोहराना जिसको कंठस्थ करना है, सीखने के ठीक पश्चात् ही अत्यन्त मितव्ययतापूर्वक किया जाता है।

अन्य खोज करने वाले भी ऐसे परिणामों पर पहुँचे है। धारणा का वक्र (curve) पहले बड़ी शीघ्रता से गिरता है, फिर धीरे-धीरे एकसम हो जाता है, परन्तु समय-धुरी (time axis) तक कभी नही पहुँचता। एक खोजी ने निरर्थक शब्दों[1] के साथ यह ज्ञात किया जब कि छः घण्टों के पश्चात् ४७ प्रतिशत याद रहा आया, एक और दो दिन के परिमाण क्रमशः ६८ प्रतिशत और ६१ प्रतिशत रहे। समय के अधिक निकल जाने पर स्मृति क्यों उन्नति करती है ? सबसे अधिक स्पष्ट कारण थकावट से मुक्ति मालूम होता है जो एक रात के आराम के पश्चात् प्राप्त होती है, और मनोवैज्ञानिकों को, जो इस विषय पर व्यवहारवादी के दृष्टिकोण से विचार करते हैं, इस समाधान से संतुष्ट हो जाना चाहिए। परन्तु दूसरे मनुष्य, थकावट के सिद्धान्त में इस घटना का पर्याप्त कारण ज्ञात करने में असफल हैं, और दृढ़ीकरण के सिद्धान्त की सहायता लेते हैं,

1 Radossawljewitsch.

जिसका वर्णन तीसरे अध्याय में किया जा चुका है। विस्मृति के साथ-साथ जो समय व्यतीत होने के फलस्वरूप होती है, पुनः-स्मृति भी होती है जिसका कारण अंत मानसिक दृढ़ीकरण और स्मृति-चिन्हों (memory traces) का भावना-ग्रन्थियों (engram-complexes) के रूप में व्यवस्थित होना है।

डाक्टर पी. बी. बेलार्ड (P. B. Ballard)[1] ने अपने प्रसिद्ध लेख में इस विषय में अपनी विस्तृत खोज का वर्णन किया है। वह कहता है—

"पुनः स्मरण (Reminiscence) की ओर सबसे पहले मेरा ध्यान इस प्रकार पहुँचा। नगर के एक गन्दे भाग की पाठ-शाला में बच्चों की स्मृतियाँ बहुत खराब बतायी गयीं; यह कहा गया कि उनको बहुत ही कम याद होता है और जो थोड़ा-सा वे सीख लेते हैं उस को धारण नहीं कर सकते अर्थात् याद नहीं रख सकते। मैंने इस कथन का परीक्षण इस प्रकार किया कि बालकों की सर्वोच्च कक्षा को, जिनकी औसत अवस्था बारह वर्ष दस महीने थी, अंग्रेजी की कविता कूपर कृत लॉस आव दि रॉयल जार्ज (Cowper's *Loss of the Royal George*) कंठस्थ करने को दी। उनको १३ मिनट दिये गये, और अवधि के पश्चात् पुस्तकें एकत्र कर ली गयीं, और बालकों से कहा गया कि जितनी पंक्तियाँ उन्हें याद हुई हों लिखें। उन बालकों को दूर हटाने के पश्चात् जो किसी प्रकार कविता से परिचित थे, उन्नीस बालक प्रयोग के घटक रहे। केवल एक लड़का संपूर्ण छत्तीस पंक्तियों को लिख सका, और कक्षा के लिए औसत पंक्तियों की संख्या २७·६ थीं। दो दिन के समयान्तर के पश्चात् मैंने बालकों की फिर जाँच की। उनसे कहा गया कि जो कुछ उन को उस समय

1 *Obliviscence and Reminiscence* (*Brit. Jour. Psych.* Monograph. Supplement, No. 2)

स्मरण हो सब लिखें। न अध्यापक और न छात्र ही इस जाँच की आशा कर रहे थे, और दोहराने के लिए उनको कोई अवसर नहीं दिया गया था। अध्यापक को यह देख कर आश्चर्य हुआ कि आठ लड़कों ने पूरी कविता ठीक-ठीक लिख दी, और शुद्ध पंक्तियों का औसत ३०·६ था—यह पहली संख्या के ऊपर १० प्रतिशत से अधिक की बढ़ती थी। उन्नीस लड़कों में से किसी ने अवनति नहीं दिखाई और सोलह ने उन्नति दिखाई। यह फल इतना आश्चर्य-जनक प्रतीत हुआ कि मैंने वैसी ही जाँच दूसरे प्रकार की अनेक पाठशालाओं में की, और सदा वही परिणाम निकला। सीखने के तुरन्त बाद की अपेक्षा दो दिन के समयान्तर के पश्चात् अधिक याद रहा।"

ऐसे अनेक प्रयोग किये गये, जिनमें से हमारे अभिप्राय की दृष्टि से एक के परिणाम बताना यथेष्ठ होगा। दि एन्शेंट मेरीनर (*The Ancient Mariner*) नामक अँग्रेजी कविता के दूसरे भाग से चौंतीस पंक्तियाँ चुनी गईं और प्रारम्भिक पाठ-शालाओं के बयालीस उच्च विभागों के ५,१९२ बच्चों को ये पंक्तियाँ जाँच में दी गईं। बच्चों को अवतरण की प्रतियाँ दी गईं, जो उनको पढ़कर सुना दिया गया; फिर उनको पन्द्रह मिनट उसे सीखने के लिए दिये गये, और अवधि के अन्त में उनसे कहा गया कि जो कुछ उनको याद हो उसे लिखें। दूसरी जाँच अकस्मात् दी गई, कुछ पाठशालाओं में एक दिन के पश्चात्, कुछ में दो दिन के बाद, कुछ में तीन दिन के उपरान्त और इसी प्रकार सात दिन तक के अधिकतम समयांतर पर। अंक शुद्ध लिखी हुई पंक्तियों के अनुसार दिये गये और क्रम का कोई विचार नहीं किया गया। सम्पूर्ण परिणामों को देखते हुए, पंक्तियों की औसत संख्या जो कण्ठस्थ करने के पश्चात् तुरन्त ही शुद्ध दोहरा दी गई वह लगभग चौदह थी। लाभ अथवा हानि विभिन्न समयान्तरों के

पश्चात् निम्न तालिका के अनुसार मिली।

समयान्तर (दिनों में)	लाभ (प्रतिशत)	हानि (प्रतिशत)
१		१·६
२	६·४	
३	६·१	
४		२·०
५		५·८
६		८ ७
७		१२·१

जिस प्रकार विस्मृति (obliviscence) भूतकालीन अनुभवों को पुनरावाहन (revive) करने की क्षमता में ह्रास की क्रमिक क्रिया है, उसी प्रकार पुनःस्मृति (reminiscence) उस योग्यता में उन्नति की क्रमिक क्रिया है।[1]

डाक्टर बेलर्ड ने अपने लेख के एक महत्त्वपूर्ण भाग में यह सिद्ध किया है कि पुनःस्मृति और विस्मृति साथ-साथ चलती रहती हैं और एक-दूसरे के प्रभावों को प्रतिरुद्ध (counteract) करती रहती हैं। दो दिन के पश्चात् उन्नति वास्तव में पुनःस्मृति के पक्ष में समाकलन-आधिक्य (credit balance) की द्योतक है। ऊपर की तालिका से यह स्पष्ट है कि दूसरे और तीसरे दिन विस्मृति की अपेक्षा पुनःस्मृति का महत्त्व अधिक रहा, परन्तु अन्य समस्त दिनों इसका विपरीत सत्य रहा। डा० बेलर्ड ने लिखावटों के विस्तृत विश्लेषण द्वारा पुनःस्मृति को विस्मृति से प्रथक् कर दिया। उसने ज्ञात किया कि प्रथम बार और बाद के लेख न केवल परिणाम में ही भिन्न थे, वरन् वास्तविक रूप में

1 Ballard, *op. cit.*

भी; पहली बार में जो पंक्तियाँ आईं वे दूसरी में नहीं आईं, परन्तु जो पंक्तियाँ पहली में नहीं थी वे दूसरी में प्रस्तुत थीं। इस प्रकार जब एक समयान्तर के पश्चात् उन्नति प्रदर्शित हुई, पुनः-स्मृति अधिक थी उसकी अपेक्षा जो पहले हुई, क्यों कि उस विस्मृति को सन्तुलन करने के लिए उसके कुछ परिमाण की आवश्यकता थी। उदाहरण के लिए, एक जाँच में आरम्भ की लिखावटों में छयालीस लड़कों ने ४४६ पंक्तियाँ लिखीं; और बाद की जाँच में ४६५ पंक्तियाँ। इस प्रकार सम्पूर्ण कक्षा की दृष्टि से १६ पंक्तियों का लाभ हुआ। परन्तु विश्लेषण से पता लगा कि बाद की ४६५ पंक्तियों में से १०७ नयी थीं; मौलिक, पंक्तियों में से ९१ पंक्तियाँ भूली जा चुकी थीं। यहाँ पुनःस्मृति १६ से नहीं प्रदर्शित की गई वरन् १०७ से, जब कि ९१ की संख्या विस्मृति को बताती है।

इन अति रोचक परीक्षणों के ब्यौरों के लिए विद्यार्थी को मौलिक लेख देखने की आवश्यकता है। लेखक के मुख्य परिणाम ये है कि *वृद्धि या उन्नति समयान्तर में विषय पर ध्यान दिये बिना ही होती है, यद्यपि बालक जो जाँचों के बीच में विषय पर कभी-कभी विचार कर लेते हैं उनकी अपेक्षा जो नहीं विचार करते हैं, कुछ अधिक उन्नति कर लेते हैं; उन्नति का परिणाम रुचि पर निर्भर है; उन्नति का परिमाण बालक की अवस्था के साथ विभिन्न होता है, यह छोटे बच्चों के साथ सबसे अधिक होता है और प्रौढ़ों के साथ लगभग नहीं के बराबर; विस्मृति और पुनःस्मृति साथ-साथ होती हैं; अधिकतम स्मृति के लिए समयान्तर लगभग दो दिन है।*

समाधान के लिए डा० बेलर्ड थकावट के सिद्धान्त को अपर्याप्त मान कर त्याग देता है, और मनःव्यवस्थाओं अथवा मस्तिष्क की रचना की वृद्धि के विचार से उसका विकल्प बताता है। इन पृष्ठों में बताये हुए सिद्धान्त के अनुसार यह विश्वास करना

ठीक होगा कि "किसी मनःव्यवस्था की उत्तेजना उसके अनुरूप (corresponding) अनुभव को चेतना के बाहर निकालते ही तुरन्त नहीं समाप्त हो जाती है, परन्तु उसके कई दिनों बाद तक निम्न अथवा परिवर्तित (modified) रूप में जारी रहती है और इस प्रकार विसर्जन की क्रिया को रोक देती है अथवा पलट देती है।[1]

विशेष अध्ययन के लिए

McDougall : *An Outline of Psychology*, chapter x.
Nunn : *Education : its Data and First Principles*, chapter iv.
Spearman : *Tho Abilities of Man*, chapter xvi.
Rusk : *Experimental Education*, chapter vii.
Collins and Drever : *Experimental Psychology*, chap. xiii.
James : *The Principles of Psychology*, chapter xvi.
Ballard : *Obliviscence and Reminiscence*.

---

1 *Obliviseence and Reminiscence*, p. 53.

: १२ :

विचार और तर्क

(Thinking and Reasoning)

आरम्भ के अध्यायों में हम अपने मानसिक जीवन के भावनात्मक (affective) और चेष्टामूलक (conative) रूपों के विषय में विचार कर चुके हैं, और अब हमको चेष्टामूलक अथवा जानने के पहलू के विषय में विचार करना है। प्रत्येक अनुभव में किसी मनोमूलक वस्तु का जानना निहित है। मूलप्रवृत्ति-अनुभव (instinct-experience) में इस मनोमूलक वस्तु का कारण बाह्य संसार की कोई वस्तु है जिसके प्रति पशु, अपनी प्रकृति के कारण ही, उदासीन नहीं रह सकता। अतएव हम को यह कल्पना करनी पड़ेगी कि मूलप्रवृत्त्यात्मक मनःव्यवस्था स्वयं इस प्रकार व्यवस्थित है कि वह ऐसी वस्तुओं की उपस्थिति में जाग्रत हो जाती है; और जैसा कि मेकडूगल ने कहा है, वह ऐसा ताला रखती है जो किसी विशेष प्रकार की कुंजियों से ही खोला जा सकता है। यह ताला मूलप्रवृत्ति की ज्ञानमूलक (cognitive) आकृति है; यह ज्ञानमूलक मनःव्यवस्थाओं (cognitive dispositions) का उदाहरण है जो मन में संचित रहती हैं और जिनको हम इस प्रकार कह सकते हैं, "स्थायी दशाएं जो कुछ पदार्थों के विषय में विचार करना सम्भव करती हैं।"[1]

[1] McDougall, *An Outline of Psychology*, p. 259.

जैसे भावमूलक-चेष्टामूलक मनःव्यवस्थाएँ (affective- conative dispositions) असीमित विस्तार और रूपान्तर की क्षमता रखती हैं, वैसे ही बुद्धिमूलक व्यवस्थाएँ हैं, और परिणामस्वरूप मन में ज्ञान-प्रणालियों की वृद्धि होती है। किसी वस्तु को जानना उससे सम्बद्ध क्रियाशील ज्ञानमूलक मनःव्यवस्था रखना है; पूर्ण ज्ञान भली-भाँति संघटित ज्ञानमूलक मनःव्यवस्थाओं का रखना है, जिनमें समस्त बातों के लिए एक-के-प्रति एक समरूपता है। ऐसा मन ब्रह्माण्ड का उसके समस्त रूपों में यथार्थ दर्पण होगा।

अनेक लेखक 'विचार' (thinking) शब्द को उच्च मानसिक क्रियाओं से ही परिमित करते हैं जो केवल मनुष्य में ही पाई जाती हैं, परन्तु यह मर्यादा अनावश्यक और अवांछनीय प्रतीत होती है। ऊँचे स्तरों पर कोई नया रहस्य नहीं है जो मानसिक क्रिया के कम उच्च रूपों में निहित नहीं है। अतएव यह उचित मालूम होता है कि विचार करने की एक बहुत सामान्य परिभाषा बनाई जाय जैसे कि "अपने ज्ञानमूलक रूप में मानसिक क्रिया", अथवा "मनमूलक वस्तुओं की दृष्टि से मानसिक क्रिया", चाहे इन वस्तुओं का अस्तित्व बाह्य संसार की वस्तुओं द्वारा हो अथवा न हो। उस दशा में हम भेद कर सकते हैं, विचार करने की विभिन्न रीतियों में नहीं, वरन् उन विभिन्न स्तरों में जो मनोमूलक वस्तु की प्रकृति द्वारा निर्णीत किये जाते हैं।

पहला स्तर बोधनिक या प्रत्ययमूलक विचार (perceptual thinking) है जिसकी परिभाषा प्रायः इस प्रकार की जाती है, "इन्द्रियों के साथ उपस्थित रहने वाली तथा उनको प्रभावित करने वाली वस्तुओं के सम्बन्ध में मानसिक क्रिया।" फिर भी, हमको स्मरण रखना चाहिए कि, यथार्थ रूप में, यहाँ

पर विचार का विषय बाह्य संसार की वस्तु नहीं है वरन् उसके द्वारा उत्पन्न मनोसम्बन्धी वस्तु है। दोनों के बीच का सम्बन्ध अवगुण्ठित और अस्पष्ट है। मैं अपने मन के भीतर कोई भौतिक वस्तु नहीं रख सकता हूँ और उसकी परीक्षा नहीं कर सकता हूँ; और उदाहरण के लिए, मैं जब एक क़लम की ओर देखता हूँ, तो वह स्वयं क़लम नहीं है जो मेरी विचार करने की वस्तु है। उससे व्योम (ether) की तरंगें मेरी आँख की ओर आती हैं और इससे आँख में भौतिक और रासायनिक प्रक्रियाएँ होती हैं, जिसका परिणाम होता है मस्तिष्क के कुछ क्षेत्रों में स्नायुमूलक तरङ्गों का प्रवाह, जो पुनः क्रियाशील हो जाती हैं। भौतिक और मनसम्बन्धी संसारों के बीच का रहस्यमय रिक्त स्थान तब पट जाता है और विचार की वस्तु या मनमूलक वस्तु मेरे मन के सामने आती है। ऐसी मनमूलक वस्तु, जो ज्ञानेन्द्रिय की उत्तेजना के परिणाम-स्वरूप है, संवेदना या वेदन (sensation) कहलाती है; इसको बाह्य संसार की किसी वस्तु का प्रतीक बतलाया जाता है, परन्तु यह स्वयं वह वस्तु नहीं है। फिर, एक 'संवेदना' शुद्ध वस्तु-कल्पना है, क्योंकि वह बोधनिक विचार करने का वस्तुगत पहलू मात्र है। मनोवैज्ञानिक, चेतना का विश्लेषण करने के प्रयत्नों में, संवेदना को अन्तिम मानसिक तत्त्व बताते थे, और मन को संवेदनाओं का जड़ाव बताते थे; परन्तु ऐसा करने में, विचार-प्रक्रिया की आवश्यक क्रिया को उन्होंने भुला दिया था। इसलिए हमको इस बात पर बल देना चाहिए कि बोधनिक विचार, अथवा बोधन, संवेदनाओं की दृष्टि से मनमूलक क्रियाशीलता है, जिनका ऐसी क्रियाशीलता से पृथक् कोई अस्तित्व नहीं है।

ज्ञानेन्द्रियाँ, जिनके द्वारा हमको संवेदनाएँ प्राप्त होती हैं, विकास के प्रक्रम में विकसित हुई हैं। वह अपनी क्रिया में विशिष्ट

रूप से सङ्कलित हैं और यह निर्णीत करती हैं कि चेतनाशक्ति के अनेक प्रवाहों में से, जो बाह्य रूप से हमारे ऊपर प्रभाव डालते है, कौन-सा प्रवाह मनमूलक वस्तुओं के रूप में होगा। यह स्मरण रखना चाहिए कि स्वयं इन्द्रियाँ हमारे चारों ओर होने वाली भौतिक घटनाओं के पूर्ण ज्ञान को हमें देने के कार्य में नितान्त असमर्थ हैं। उदाहरण के लिए, जब मैं लिखने के लिए बैठता हूँ तो व्योम-तरंगें (ether waves) नभोवाणी-स्थात्र अर्थात् ब्राडकास्टिंग स्टेशन (broadcasting station) से मेरे पास पहुँच रही हैं, परन्तु मुझे उनका ज्ञान नहीं होता जब तक कि मैं अपने वितन्तु यन्त्र या रेडियो सेट (radio set) के द्वारा उन ध्वनितरङ्गों को परिवर्तित नहीं करता जो मेरे कानों को प्रभावित करेंगी। अवश्य ही कई और भी उत्तेजक हो सकते हैं जिनको जानने के लिए मेरे पास ऐसा कोई उपकरण नहीं है; और यह सम्भव है कि लोक-प्रसिद्ध छठी इन्द्री मेरे वातावरण के विषय में अतिरिक्त समाचार दे सके।

पाँच सुमान्य ज्ञानेन्द्रियों की रचना के ब्यौरे के लिए विद्यार्थी को समुचित पाठ्य-पुस्तकें देखनी चाहिएँ। देखने, सुनने, सूँघने और चखने के लिए हमारे पास विशेष आदायक (receptors) हैं; और, जबकि शरीर का कोई भाग स्पर्श के काम में लिया जा सकता है, अँगुलियों के सिरे अन्य किसी भाग की अपेक्षा इस ओर अधिक विशिष्टता प्राप्त किये हुए हैं। स्पर्श को 'मातृ-इन्द्रिय' (mother-sense) कहा गया है, क्योंकि अन्य सब उसकी विशिष्टताएँ ही समझी जायँगी जो विकास के प्रक्रम में उत्पन्न हुई हैं। आँख और कान को दूर से उत्तेजना मिलती है, और इसलिए वे, 'दूरवर्ती आदायक' (distance receptors) कहलाते हैं; बाह्य संसार का ज्ञान प्राप्त करने में दृष्टि और श्रवण ज्ञानेन्द्रियों का विशेष महत्त्व है। निस्सन्देह जाति के विकास में घ्राण-शक्ति

का बहुत बड़ा भाग है, परन्तु मानव-जाति में इसका महत्त्व बहुत कम रह गया है। क्योंकि गन्ध तीव्रता और प्रकार में सब से अधिक धरती के पास पायी जाती है, यह सम्भव है कि जब मनुष्य ने खड़ा आसन ग्रहण किया और उसकी नाक हवा में आ गयी तो भोजन खोजने तथा भय से भागने में वह अपनी घ्राण-इन्द्रिय पर कम भरोसा करने लगा।

हमें यह नहीं मान लेना चाहिए कि केवल पाँच ज्ञानेन्द्रियाँ ही वे साधन हैं जिनके द्वारा हम उत्तेजनाओं को प्राप्त करते हैं जिसके परिणाम-स्वरूप विशेष संवेदनाएँ होती हैं। तापक्रम अथवा दर्द का ज्ञान, देखना, सुनना, सूँघना, चखना और छूना नहीं है, फिर भी उसमें एक विशिष्ट गुण है; और ऐसे इन्द्रिय ज्ञान के लिए हमारी त्वचा में निश्चित आदायक (receptors) हैं। इसी प्रकार हमको आङ्गरिक संवेदनाएँ (organic sensations) भी होती हैं, जैसे भूख, प्यास सुस्थता की अनुभूति, अथवा रुग्णता की अनुभूति, जो हमारे अनुभव के महत्त्वपूर्ण अंश हैं। हम इन संवेदनाओं के स्थान नहीं बता सकते, क्योंकि उनके आदातृ शरीर के पाचन तथा अन्य भीतरी अङ्गों में हैं। अन्त में, हम में शरीर-व्यापारिक ज्ञान (kinæsthetic) है जिसके द्वारा हमको धड़, सिर और हाथ-पैरों की स्थिति का बोध रहता है। उसके विभिन्न आदातृ हैं, जोड़ों, पुट्ठों और कंडरों (tendors) में, और अत्यन्त विशिष्ट आदातृ गहन (labyrinth) अर्थात् भीतरी कान में है। एक चक्रगति (waltzer) की विभ्रान्ति गहन के अत्यधिक उत्तेजना के कारण हो सकती है, और एक पहलवान का संहार जो अपने जबड़े में गहरी चोट खाता है, उसी अङ्ग के आघात का फल है। यह जानने की बात है कि एक चक्र-चूहे को अत्यन्त जटिल अंतःकर्ण (labryinth) प्रदत्त किया गया है।

वस्तुबोधनिक या प्रत्ययमूलक (perceptual) के अति-

रिक्त सभी प्रकार के विचार करने को कल्पनाशील कहा जा सकता है, जिनमें प्रकार का अन्तर नहीं है केवल स्तर का भेद है। इसलिए, कल्पनामूलक विचार करना मनोमूलक वस्तुओं के सम्बन्ध में, जो संवेदनाएँ नहीं हैं, मानसिक क्रियाशीलता है—अर्थात् जो किसी ज्ञानेन्द्रिय की उत्तेजना से नहीं हुए हैं। कल्पना-मूलक विचार करने में हम मनोमूलक वस्तु की प्रकृति के अनुसार भिन्न-भिन्न स्तरों में भेद कर सकते हैं, जिसका सरलतम रूप प्रारम्भिक स्मृति-प्रतिमा (primary memory image) है। जैसा ड्रैवर ने कहा है, "प्रतिमा स्वयं किसी वस्तु या वस्तुओं की अनुपस्थिति में, जिन्होंने आरम्भ में हमारे ऐन्द्रिय बोध या प्रत्यय (sense perception) को निश्चित किया था, किसी वस्तु या वस्तुओं का ज्ञान है।"[१] प्रारम्भिक स्मृति-प्रतिमाएँ वास्तविक ऐन्द्रिय बोध के स्थानापन्न समझी जा सकती हैं। उदाहरण के लिए, जब मैं वास्तव में एक पुस्तक को देखता हूँ, तो मनोमूलक वस्तु एक संवेदना (sensation) है; परन्तु यदि मैं आँखें बन्द कर लेता हूँ तो उसे फिर देख सकता हूँ, और अब मनोमूलक वस्तु एक दार्ष्टिक प्रतिमा (visual image) है। स्पष्ट है कि संवेदना के प्रत्येक प्रकार के तदनुरूप प्रतिमाएँ हो सकती हैं। कल्पना में एक लय सुनना श्रवण-प्रतिमा का उदाहरण है; कल्पना में गुलाब के फूल का आनन्द लेना घ्राण-मूर्ति है; कल्पना में नीबू खाना स्वाद-मूर्ति है; सिकता-पत्र (sandpaper) पर कल्पना में अँगुली फेरना स्पर्श-प्रतिमा है। इनके अतिरिक्त तापक्रम और पीड़ा की प्रतिमाएँ हो सकती हैं। उदाहरण के लिए, निम्न पंक्तियों को पढ़ कर हम कल्पना में काँपने से नहीं रुक सकते—

---

1 *Introducttion to the Psychology of Education*, p. 190.

बाहर निकलना मौत है आधी अँधेरी रात है,
अह ! शीत कैसा पड़ रहा है थरथराता गात है !

हम भूख या बीमारी की अनुभूतियों की कल्पना कर सकते हैं और इस प्रकार आंगरिक प्रतिमाएँ (organic images) प्राप्त कर सकते हैं; और हम शरीर व्यापारिक प्रतिमाएँ (kinæsthetic images) प्राप्त कर सकते हैं, जब उदाहरण के लिए, हम विचार करने लगें कि झुकना और फ़र्श से कोई वस्तु उठाना कैसा होता है। कल्पना-सृष्टि के इन रूपों में से एक या सब का होना संभव है; परन्तु ठीक जैसे कि ऐन्द्रिय संवेदन में देखना या सुनना अन्य ऐन्द्रिय शक्तियों की अपेक्षा कहीं अधिक महत्त्वपूर्ण है, इस प्रकार से कल्पना-सृष्टि में हमारे विचार करने के लिए दार्ष्टिक और श्रवण प्रतिमाएँ सामान्यतः अत्यधिक महत्त्वपूर्ण हैं। अधिकांश मनुष्य किसी दूसरे की अपेक्षा इन वर्गों में एक या दोनों में अधिक स्पष्ट प्रतिमाएँ प्राप्त करते हैं; परन्तु कुछ *'दार्ष्टिक'* (visiles) होते हैं जिनको दृष्टिमूलक कल्पनाएँ पसंद हैं, जब कि अन्य *श्रवणगोचर* (audiles) होते हैं जिनको श्रवण कल्पनाएँ अच्छी लगती हैं। सरल प्रयोगों से ज्ञात होता है कि दोनों प्रकार कहाँ मिलते हैं।

कल्पना-सृष्टि में हमारे शरीर के उन अंगों का कारक समायोजन (motor adjustments) आरंभ करने की ओर झुकाव रहता है जो तदनुरूप संवेदनों के साथ होते हैं; इस प्रकार एक स्पष्ट दार्ष्टिक प्रतिमा में हम आँख के पुट्ठों का केन्द्रण (focus) करने लगते हैं, एक स्वादप्रतिमा से हमारे मुँह में पानी भर आता है, और एक शरीर व्यापारिक प्रतिमा से शरीर में स्फूर्ति आ जाती है। व्यवहारवादियों ने ऐसे तथ्यों को पकड़ लिया है, जिनका तर्क है कि हमारा मानसिक जीवन उत्तेजकों के प्रति शरीर की प्रतिक्रियाएँ मात्र हैं। परन्तु मन की

कल्पना विचित्र अनुभव का एक गुण है; अंतःप्रेक्षण से पता लगता है कि प्रतिमा के आवश्यक लक्षणों में से एक यह है कि उसकी अनुभूति इस प्रकार की जाय मानो वह इन्द्रियों के लिए उपस्थित नही है; दूसरे शब्दों में यों कहना चाहिए कि वह वस्तु-बोध (percept) की भाँति अनुभव न की जाय, वरन् प्रतिमा के समान। समानुकूल बोध के साथ तुलना में वह कम स्पष्ट है, कम स्थिर है, और कम ब्यौरेवार है; परन्तु यह वस्तुबोध से कुछ अधिक है जिसमे ये गुण नही है।

अब तक हमारे वर्णन में मनोमूलक वस्तु में विशेषता का गुण था। सामान्य प्रत्ययों या भावों के रखने की शक्ति हमको कहाँ से मिलती है ? कुछ सीमा तक मन सामान्यित प्रतिमाएँ (generalised images) बना सकता है, व्यक्तिगत प्रतिमाओं से समस्त विशिष्ट को हटा करके, और सब में सामान्य को मिश्रित करके। इस प्रकार 'कुत्ते' की छायामूलक तथा अवर्णित मूर्ति हो सकती है, जो किसी विशेष कुत्ते की स्मृति-प्रतिमा (memory-image) नही है। फिर भी, ऐसी प्रतिमा पूर्ण सामान्य नही हो सकती; मानसिक चित्र में कुत्ते के प्रधान गुण अवश्य होने चाहिएँ कुछ विशेषताओं के अंश सहित, जिसके कान, पूँछ और टाँगे विशिष्ट लम्बाई की हों, और कोई रंग हो चाहे उसका वर्णन न किया जा सके। जाति और व्यक्ति ने सामान्य रूप से वस्तुओ के सम्बन्ध में विचार करने की उत्तम विधियाँ ज्ञात करली है न कि सामान्यित प्रतिमाएँ जो सामान्य होते हुए भी कष्टकर और अमितव्यय होंगी। इन विधियों के समझने के लिए हम को प्रात्ययिक प्रक्रिया (conceptual process) और भाषा के प्रश्नों का समाधान करना होगा।

कुछ लोगों ने इस बात को बिल्कुल अस्वीकार किया है कि मन के सामने मनोमूलक वस्तु हो सकती है, जो संवेदना अथवा

एक प्रतिमा, स्पष्ट, सामान्य या अमूर्त, नहीं है। परन्तु जब मैं किसी वस्तु के विषय में सोचता हूँ जैसे कुत्ता, बोध रूप से अथवा कल्पनामूलक ढंग से, तो मैं विचार की वस्तु में दो पहलुओं को निर्णीत कर सकता हूँ। सब से पहले तो विशिष्टता है; कुत्ता सब प्रकार के विवरण में एक विशेष कुत्ता है। फिर, दूसरे, वस्तु में एक व्यापक लक्षण है जिसकी मिसाल इस विशिष्ट उदाहरण में मिलती है; यह तथ्य कि उसे किसी नाम से पुकारा जा सकता है इस के अस्तित्व को सिद्ध करता है। इस प्रकार मनोमूलक वस्तु में विशिष्टता और व्यापकता दोनों एक साथ हैं। विशेष और व्यापक दोनों के बीच के संबंध के स्वभाव पर प्रायः वाद-विवाद किया जाता है, और अनेक समस्याओं में यह मुख्य थी जिसकी ओर मध्य युग के अंत में पाठशाला वालों का ध्यान गया। उनकी रायें तीन मुख्य सिद्धान्तों में घनीभूत हुईं—यथार्थ-वाद (realism), नामवाद (nominalism), और बोधवाद (conceptualism)। यथार्थवादियों ने उसकी विशेष मूर्त्ति-मत्ता से पृथक् व्यापक का वास्तविक और स्वतन्त्र अस्तित्व बताया। स्कूल के अध्यापकों के दिनों से बहुत पहले प्लेटो (Plato) ने मनोहारिणी भाषा में बताया कि व्यापक (universals) विशिष्टों (particulars) से अलग रहते हैं और उनका प्रदेश स्वर्ग से भी ऊपर है, और वे अधिक यथार्थ हैं। नामवादियों ने इसको एक-दम अस्वीकार किया और कहा कि जिसको हम विश्वव्यापी कहते हैं वह केवल एक नाम है जो हम उन अनेक वस्तुओं के लिए प्रयोग करते हैं जो एक नाम के अन्त-र्गत आने के लिए एक-दूसरी से काफ़ी मिलती-जुलती हैं; केवल व्यक्ति ही यथार्थ है, और विश्वव्यापियों का कोई वस्तुगत अस्तित्व नहीं है। बोधवादी, जिनमें प्रमुख ओकहम का विलियम (William of Ockham) है जो ऑक्सफ़र्ड में चौदहवीं

शताब्दी में निवास करता था, नामवादियों से कुछ सीमा तक सहमत थे, परन्तु उन्होंने आगे बताया कि स्वयं हमारे मनों में विश्वव्यापियों का यथार्थ अस्तित्व है।

यथार्थवाद और नामवाद के बीच का वादविवाद वास्तव में दार्शनिक के लिए विषय है न कि एक मनोवैज्ञानिक के लिए; जिसको बोधवाद (conceptualism) की स्थिति से मतलब है। व्यापक लक्षणों का वास्तविक वस्तुगत अस्तित्व हो या न हो, परन्तु इसमें कोई सन्देह नहीं है कि हमारे मनों में व्यापक लक्षणों अथवा वस्तुओं के नमूनों से व्यवहार करने की शक्ति है और स्वयं वस्तुओं से भी। ऐसा करने में वे विचार की प्रक्रिया के उच्चतम स्तर पर काम करते हैं।

अब तक हम व्यापक (universal) को मनोमूलक वस्तु का एक स्वरूप मानते आये हैं; परन्तु ऐसे स्वरूप के विषय में विचार करने की शक्ति से ध्वनित होता है कि हमारे मनों में व्यवस्थित ज्ञानमूलक मनःव्यवस्थाएँ (या रचनाएँ) हैं जिनमें सामान्यता का उच्च अंश है। ऐसी ही मनोवृत्तियों के लिए हम बोध या 'प्रत्यय' (concepts) शब्द का उपयोग अधिकतम लाभप्रद रीति से कर सकते हैं। इस दृष्टिकोण से बोध नमूने, प्रतिमान अथवा मानसिक रूप में हैं जिनके द्वारा हम अपने विचार के विषयों की व्याख्या कर सकते हैं चाहे वे बोधक हों अथवा कल्पनामूलक। उनको हमें क्रियाशील ज्ञानमूलक मनोवृत्तियाँ समझना चाहिए जो हमारे ज्ञान को निर्देशित करती हैं। [1]उदाहरण के लिए, जब हम किसी वस्तु को देखते हैं तो जो कुछ हम देखते हैं उस प्रतिमान या नमूने (pattern) पर निर्भर है जो हमारे विचार में आ जाता है। "जाकी रही भावना जैसी" प्रसिद्ध उक्ति है। साथ का चित्र मुड़े हुए काग़ज के तख़्ते का रेखाचित्र समझा

---

1 Nunu *Education : its Dnta and First Principles*, p. 105.

जा सकता है जिस का मोड़ बाहर की ओर अथवा भीतर की ओर हो सकता है; या, गणितज्ञ के लिए इसका अर्थ दो समान समानान्तर चतुर्भुज हो सकते हैं जिनकी एक भुजा उभयनिष्ट (common) है। सब मन के प्रत्यय (बोधवस्तु) अथवा नमूने पर निर्भर है जो इन्द्रिय-उपकरणों की व्याख्या करने में लगाया जाता है, जो सब के लिए एक-से हैं। एक और उदाहरण लीजिए। जब दीवार या फर्श पर एक नमूना देखा जाता है तो अशिक्षित मस्तिष्क उसमें केवल नमूना ही देखता है जो कम या अधिक कलात्मक है, जब कि गणितज्ञ उसमें गणित की कुछ विश्वव्यापक सत्यताएँ देखता है। अँग्रेजी कवि वर्ड्सवर्थ ने हमारे लिए अकल्पक (unimaginative) पीटर बैल (Peter Bell) का रेखा-चित्र खींचा है।

A primrose by a river's brim,
A yellow primrose was to him,
And it was nothing more.
सरिता के तट पर था एक पीतसेवती,
उसके लिए वह एक पीला पीतसेवती था,
और वह इससे अधिक और कुछ न था।

परन्तु, स्वयं कवि के लिए,

the meanest flower that blows can give
Thoughts that do often lie too deep for tears.
तुच्छ फूल भी जो झूमता है दे सकता है
वे विचार जो आँसुओं के लिए प्रायः बहुत गहन हैं।

एक मन में वास्तविक प्रत्यय थे जो सामान्य वस्तुओं से सम्बद्ध थे, परन्तु दूसरे मन में दार्शनिक प्रत्यय थे जो मार्ग के वनैले फूल की भी व्याख्या करने को तैयार थे।

ऐसे प्रतिमान (नमूने) हमारे पास किस प्रकार आते हैं ? सामान्य वर्णन जो दिया जाता है वह अनुभव की वस्तुओं के विश्लेषण और संश्लेषण से सम्बद्ध है। मन वस्तुओं का विश्लेषण करता है और जो सब में सामान्य है उसका संश्लेषण करता है, और जो केवल विशिष्ट है उसकी अवहेलना करता है। इस प्रकार, उदाहरण के लिए, बिल्ली-परिवार का प्रत्यय (बोध) घरेलू बिल्ली, सिंह, चीता, तेंदुआ, प्यूमा इत्यादि में जो सामान्य है उसके निष्कर्षण से बनाया गया प्रतीत होता है, जो प्रत्यय में संघटित महत्तम समापवर्तक है। हम ऐसे मानसिक संश्लेषण और विश्लेषण का उदाहरण अंकगणित में किसी सामान्य नियम के पढ़ाने में देख सकते हैं। हम कई अंकीय उदाहरण देते हैं, जैसे किसी दिये हुए समय में किसी मूलधन पर साधारण ब्याज निकालना। प्राप्त फल यह होता है कि छात्र सब में सामान्यित क्रिया का निष्कर्षण करता है, और क्रिया पर ध्यानावस्थित होना सीखता है न कि किसी अभ्यास के वास्तविक संख्यामूलक विवरण पर।

विश्लेषण-संश्लेषण विधि, जो ऊपर बताई गई है प्रत्ययों (बोधों) के बनने में अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है, परन्तु जो वर्णन बताया गया है वह अत्यन्त अपक्व है। केवल तार्किक दृष्टि से इसका आशय यह है कि प्रत्यय या वस्तुबोध (concept) मन में एक अपवर्जित वस्तु है, जो एक शुष्क प्रतिरूप है जिसमें समस्त विवरणों का अभाव है जो उसके लिए मूल्यवान् हो सकते हैं। यह वास्तव में संदिग्ध है कि ऐसी क्रिया का फल यह हो सकेगा जिसको हम प्रत्यय कह सकते हैं, क्योंकि सामान्य तत्त्व भी अपने विशेष उदाहरणीकरण के विवरण में भिन्न होते हैं। इसके विपरीत, एक प्रत्यय समाविष्ट (inclusive) है न कि अपवर्जित (exclusive); वह एक समृद्ध वस्तु है जो विशिष्टों

को एक-दूसरे से बाँधती है और उनको एक समष्टि ऐक्य में संलग्न करती है। निस्सन्देह हमारे बिल्ली के परिवार के प्रत्यय में कुछ 'सामान्य तत्त्व' हैं जो मुख्य लक्षण हैं, परन्तु वह चीते की धारियों की सम्भावना को सम्मिलित करती है न कि उसका निषेध।

डा० एवलिंग (Dr Aveling) ने अपने प्रसिद्ध अन्वेषण में अपने घटकों को चित्रों की विभिन्न मालाएँ दीं जिनमें प्रत्येक माला के समस्त चित्रों में कोई एक विशेषता थी और जिन में प्रत्येक का नाम एक-ही निरर्थक शब्द था। उदाहरण के लिए, चित्रों की एक माला का नाम, जिनका एक सामान्य लक्षण एक वेगवान लड़के का प्रतिमान था, 'फ़िरोद' रक्खा गया। चित्रों के निरीक्षण के पश्चात् घटक ने शब्द का एक अर्थ लगा लिया। आचार्य स्पीअरमेन ने अपने अनुभव को, घटक के रूप में वर्णन करते हुए, अस्वीकार किया है कि प्रत्यय (वस्तुबोध) का विकास केवल अनुभवों के प्रथक्कीकरण और सामान्य लक्षण की धारणा के रूप में हुआ था। उसका कथन है कि "शेष, प्रत्येक चित्र का केवल सामान्य लक्षण न होते हुए, किसी रूप में समूचे विभिन्न चित्रों का एक अस्थायी *विभ्रम* (confusion) था, जिनमें यद्यपि अधिक (अस्पष्ट रूप से) असमान विशेषताएँ सम्मिलित थीं"[1] उसका साक्ष्य इस प्रकार प्रत्यय के समाविष्ट पक्ष को स्पष्ट करता है, जिसकी पुष्टि यहाँ की गई है।

मन में प्रत्ययों (concepts) की वृद्धि का अवलोकन कुछ सीमा तक किया जा सकता है जब छोटे बच्चे बोलना आरम्भ करते हैं। लगभग पन्द्रह महीने के एक बच्चे ने अंकातीक (dial) व सूई सहित एक स्कन्द तुला (spring balance)

---

1 *The Nature of 'Intelligence' and the Principles of Cognition*, p. 268.

देखी और अविलम्ब उसका नाम "टिक-टौक" (tick-tock) रख दिया, जिससे यह ज्ञात होता था कि कुछ सीमा तक उसने वास्तविक घड़ियों के विषय में अपने अनुभवों का विश्लेषण कर लिया था और अंकातीक (dial) तथा सूइयों के विशिष्ट तत्त्वों को प्रथक् कर लिया था। कुछ समय के पश्चात् उसको विशाल घड़ी (grandfather clock) का प्रथम अनुभव हुआ, और वह निदोल (लंगर pendulum) की गति में अत्यधिक रुचि लेने लगा। लगभग उसी समय उसने बिजली के प्रकाश का तार दीवार पर हिलते हुए देखा, और उसने पुनः 'टिक-टौक' शब्द का प्रयोग किया। ऐसा प्रतीत होता है कि दीवार-की-घड़ी (clock) का प्रत्यय समाविष्ट हो रहा था अपवर्जित नहीं, और एक ही समय में उसमें लंगर होने अथवा न होने की सम्भावनाएँ हुईं।

क्या हम अपने पूर्वजों से कोई प्रत्यय प्राप्त करते हैं जो स्वयं हमारे व्यक्तिगत अनुभव से स्वतन्त्र हैं? क्या जन्मजात प्रत्ययों के पुराने सिद्धान्त में कोई सचाई है? जंग (Jung) का विश्वास है कि हम कुछ जन्मजात ज्ञानमूलक मनःव्यवस्थाओं (dispositions) या आद्यरूपों (archetypes) के सहित संसार में जन्म लेते हैं, जिनके:द्वारा हम आरम्भ से ही अपने अनुभव का अर्थ लगाते हैं। इस मत के अनुसार हमारी मनीषाएँ (intellects) केवल व्यक्तिगत अनुभव के परिणाम ही नहीं है, वरन् वे अति सामान्य स्वभाव के कुछ प्रतिरूपों से प्रदत्त हैं जो "सहजज्ञान तथा ज्ञान को रूपों में नियंत्रित करते हैं, विशेषकर मानवी"। ऐसे आद्यरूपों (archetypes) के उदाहरण हमारे स्थान और समय के प्रत्यय हैं। अपने मनों की रचना के कारण ही हम अपने अनुभव की व्याख्या इन वर्गों के अनुरूप करते हैं। कदाचित् यही कारण है कि अंतरिक्ष-समय (space-time) के आधुनिक सिद्धान्तों के विषय में कोई स्पष्ट

कल्पना करना इतना कठिन है। "अंतरिक्ष में स्थिति के विषय में हमारे कुछ पूर्वनिर्णीत विचार हैं जिनको हमने अपने बानर-तुल्य पूर्वजों से प्राप्त किया है। वे हमारी विचार-विधि में गहरी जड़ जमाये हुए हैं, जिससे उनकी आलोचना निष्पक्षता से नहीं की जा सकती है और न यह समझा जा सकता है कि उनकी नींव कितनी अरक्षित है जिन पर वे आधारित हैं।"[1]

भाषा के बिना हमारी प्रत्यय (concepts) बनाने की शक्ति अति प्रारम्भिक होगी, जो वास्तव में हमारे विचार करने का मुख्य साधन है। भाषा का सबसे अधिक स्पष्ट कार्य दूसरों पर अपने विचार प्रकट करना है, और यह पद ऐसा करने के किसी साधन के लिए प्रयोग किया जा सकता है। इस विस्तृत अर्थ में किसी देश का नकशा, एक चित्र, संगीत की एक लय भाषा के उदाहरण हैं। परन्तु यह शब्द प्रायः चिह्नों की विशेष प्रणालियों के लिए प्रयोग किया जाता है जो विचार के संचार के विशेष उद्देश्य के लिए प्रयोजित किये गये हैं।

संकीर्ण अर्थ लेते हुए, हम भाषा में दो प्रकार के भेद कर सकते हैं—प्रथम, प्राकृतिक संकेतों की भाषा और दूसरे, कृत्रिम चिह्नों की भाषा। प्राकृतिक संकेतों का कुछ स्पष्ट सम्बन्ध लक्षित वस्तु से होता है, जैसा कि आदिम जातियों की भाव-भाषा तथा चित्र-लेखन में पाया जाता है। रूढ़ चिह्नों में ऐसा सम्बन्ध नहीं होता। उदाहरण के लिए, गूँगे-बहरों की वर्णमाला और विन्दुकरेख-वर्णमाला (Morse code मोर्स कोड) ऐसे चिह्नों से निर्मित हैं जिसके अर्थ केवल परम्परा द्वारा तय कर दिये गये हैं; और साधारण बोली में कोई कारण नहीं मालूम होता कि 'कुत्ता' और 'बिल्ली' शब्दों का निमयन क्यों न किया जाय, अर्थात् आपस में वे क्यों न बदल दिये जायँ। फिर भी हम देखेंगे

1 A.S. Eddington : *The Natuae of the Physical World*. P. 16.

कि मौखिक भाषा इतनी रूढ़ नहीं है जितनी वह दिखाई पड़ती है, और यह हो सकता है कि वह अधिक प्राचीन सांकेतिक भाषा से निकली हो।[1]

कुछ शब्दों की व्युत्पत्ति स्पष्ट है। वे ध्वनिमूलक (onomatopoetic) हैं; अर्थात् बोली में वे उन ध्वनियों के अनुकरण हैं जो वर्णित वस्तु या कार्य से सम्बन्धित हैं। ऐसे शब्दों के उदाहरण कड़-कड़, टैं-टैं, मर्मर, चहचहाना, ढब-ढब, धड़ाका इत्यादि हैं। अन्य शब्दों को ध्वनि-रूपक (sound-metaphors) कह सकते हैं, क्योंकि वे ध्वनि में उन भावों को प्रदर्शित करते हैं जो स्वयं ध्वनि नहीं हैं। 'कँपकँपाना' और 'थरथराना' से हिलने का भाव प्रकट होता है; 'अँगड़ाई', 'जँभाई' और 'करवट' से भद्दी हरकतों का विचार आता है; 'चाचा' के विपरीत 'अम्माँ' शब्द अपनी कोमल-ध्वनि द्वारा कोमल यौन (sex) की ओर इंगित करता है।

अन्य शब्द शारीरिक संकेतों के उत्कर्षण (sublimations) या परिष्कार (refinements) हैं। इनके प्रयोग करने में हम अपने केवल वाङ्मय अङ्गों से जैसे मुख आदि से उन संकेतों को करते हैं जो सारे शरीर से किये जाते थे। उदाहरण के लिए जब हम 'हाँ' कहते हैं केवल गले से ध्वनि निकालते हैं, और जब हम 'नहीं' कहते हैं तो होठों को भी चलाते हैं। ये सामान्य शब्द स्वीकारता और निषेध के संकेतों के अवशेष हैं जो जाति और व्यक्ति के विकास के प्रारम्भिक प्रक्रमों में समस्त शरीर से किये जाते थे। हम उनकी उत्पत्ति समझ सकते हैं जब हम देखते हैं कि एक शिशु अपना भोजन स्वीकार करते हुए अथवा अस्वीकार करते हुए अपनी दूध पीने की बोतल को

1 Nunn, *Education: Its Data oud First Principles*, pp. 211 *et seq.*

अपनी ओर खींचता है, अथवा अत्यन्त वेग से, चाहे भद्दे ढंग से, धक्का मारता है।

इसी प्रकार हम, 'strong', 'strangle', 'strenuous' जैसे अँग्रेजी शब्दों के विशेष औचित्य को समझा सकते हैं। इन शब्दों के उच्चारण में जो ओठों का फैलाना होता है वह विशेष शारीरिक संकेत का ही अवशेष है। बहुत से मनुष्य इस बात की आवश्यकता समझते हैं कि वे अपनी बोली हुई भाषा को उचित संकेतों द्वारा अधिक प्रबल करें; और वास्तव में कुछ आदि जातियों के विषय में कहा जाता है कि वे एक-दूसरे के भावों को अँधेरे में नहीं समझ सकतीं।

शब्द वस्तुओं और क्रियाओं के प्राकृतिक प्रतिनिधि हों अथवा न हों, परन्तु यह निश्चय है कि वे मनोवैज्ञानिक अर्थ में बहुत ही यथार्थ और सच्चे प्रतिनिधि हैं। कहा जाता है कि जंगली मनुष्यों को किसी वस्तु और उसके नाम में भेद करने में कठिनाई होती है, जो दोनों उनके मनों में संयुक्त हो जाते हैं। स्वयं हमारे नाम हमारे आत्म के भाग हैं, और, उदाहरण के लिए, हम रेल के डिब्बों में अनजान मनुष्यों को उन्हें एकदम नहीं बताते। इसी प्रकार से, छोटा बच्चा एक हितैषी अपरिचित को भी बहुत कठिनाई से अपना नाम बताता है। हम ऐसा प्रतीत करते हैं कि यदि लोगों का अधिकार हमारे नामों पर हो जायगा तो कुछ हद तक वे हम पर अधिकार कर लेंगे और हम पर प्रभाव प्राप्त कर लेंगे। कदाचित् यह सत्य इस परम्परा की जड़ में है कि इङ्गलैंड की लोक-सभा में उस सदस्य को नाम बताना ('naming') पड़ता है जिसका स्थगन (suspended) करना होता है। इसका अग्रेतर उदाहरण हम लोहनग्रिन (*Lohengrin*) नामक अंग्रेजी उपाख्यान में देखते हैं, जहाँ मुख्य पात्र (नायक) अपना नाम

छिपाता है। फिर, इसका कारण कि अनेक शब्द जिनका प्रयोग विनीत भाषा में वर्जित है, यह है कि या तो वे अत्यन्त पवित्र हैं अथवा अत्यन्त घृणास्पद हैं; यहाँ हम एक बार फिर एक वस्तु और उसके नाम का घनिष्ठ मनोवैज्ञानिक सम्बन्ध देखते हैं।

प्रत्येक अध्यापक जानता है कि उसका अपनी कक्षा पर वास्तविक प्रभुत्व नहीं हो पाता है जब तक कि वह व्यक्तिगत रूप से छात्रों के नाम नहीं जानता; और नवीन अध्यापक को सदा इसे अपना प्रथम कार्य बना लेना चाहिए। किसी नटखट बच्चे से उसका नाम पूछना अत्यन्त प्रभावशाली है, अथवा जैसा वार्ड (Ward) और रास्को (Roscoe) ने संकेत किया है ऐसे लड़के से नाम पूछा जाय और उसे लिख लिया जाय। लड़का तनिक भी नहीं जानता कि इस समाचार का क्या प्रयोग किया जायगा, परन्तु वह अनेक बातों की कल्पना करता है और जानता है कि रहस्यपूर्ण ढंग से उसके अध्यापक ने उस पर आधिपत्य जमा लिया है।

प्रात्ययिक विचार (conceptual thinking) में भाषा का महत्त्व अत्यधिक है। इसके बिना हम संवेदित अनुभव के विश्लेषण और संश्लेषण द्वारा प्रारम्भिक प्रत्यय ही बना सकेंगे; परन्तु, हमें उन को अपने मनों में स्थिरीकरण करने का अथवा उनको दूसरों तक पहुँचाने का कोई साधन नहीं मिलेगा, यदि उनका नामकरण करने के लिए हमारे पास कोई शब्द न होंगे। जैसा आचार्य स्पीअरमेन ने कहा है "भाषा हमारे प्रत्ययों को पिघला हुआ कलधौत (bullion) बना कर टंक-संचकों (coining moulds) में डालती है जहाँ से....वे सामान्य परिचलन के विधि-ग्राह्य मुद्रा (legal tender money) होकर निकलते हैं।"[1]

जब हम प्रात्यक्षिक (perceptual) अनुभव के विश्लेषण

[1] *The Nature of 'Intelligence,'* p. 264.

से प्रत्यय प्राप्त करते हैं और शब्दों द्वारा उनका नामकरण करते हैं, तो हम उनके अर्थ अधिक विस्तृत करने के लिए भाषा का प्रयोग करते हैं। उदाहरण के लिए, 'चीनी' का मेरा प्रत्यय बहुत प्रारम्भिक होगा, यदि मैं उसके विभिन्न पहलुओं के विषय में पढ़ न सकूँ अथवा बात न कर सकूँ, जो मेरे प्रात्यक्षिक अनुभव में कभी नहीं आये हैं। फिर, बिना भाषा के अमूर्त प्रत्यय, जैसे स्वतंत्रता, न्याय, भद्रता आदि रखना असंभव होगा। कुछप्रत्ययों के लिए अवश्य ही विशिष्ट भाषा की आवश्यकता है। बीजगणित के चिह्नों (symbols) के ज्ञान के बिना द्विपद प्रमेय (binomial theorem) न मन में रह सकता है और न उसका प्रकाशन किया जा सकता है और धूपेन्य वलय (benzene ring) की सुविधाजनक भाषा को प्रयोग में लाये बिना, कट्लिक आम्ल (picric acid) जैसे अपेक्षाकृत सुरभि मिश्र (aromatic compound) की रासायनिक संरचना (chemical composition) को समझना या वर्णन करना उतना ही कठिन होगा। बीजगणित और रसायन-शास्त्र के चिन्ह इस बात को बहुत स्पष्ट करते हैं जो समग्र भाषा के विषय में सत्य है—अर्थात् *भाषा न केवल हमारे विचारों के परिणामों को स्थिर करती है, वरन् वह एक मात्र साधन को उपस्थित करती है जिसके द्वारा वे विचार विस्तृत किये जा सकते हैं।*

इस प्रकार भाषा विचार का उपकरण या औजार (tool) है; जैसा आचार्य स्टाउट ने कहा है वह "अवश्य प्रात्ययिक विश्लेषण और संश्लेषण का साधन है (essential conceptual analysis and synthesis)।"[1] हम अधिकांश विचार शाब्दिक प्रतिमाओं (verbal images) द्वारा करते हैं—दार्ष्टिक, श्रव्य अथवा चेष्टामूलक (visual, auditory,

1 *Groundwork of Psychology*, p. 149.

or motor)। तो भी यह सुविधाजनक उपकरण सरलता से एक ज़ाल हो सकता है, क्योंकि शब्द बहुत शीघ्र ही विचार करने पर अत्याचार करने लगते हैं। हम वस्तुओं के नाम रखते हैं और फिर कल्पना करते हैं कि हम उन्हें समझते हैं, जब कि शब्द 'मानसिक पोताश्रय' (mental havens) का काम करते हैं, जहाँ हम रक्षा के लिए पहुँच जाते हैं। हमको यह भी समझना चाहिए कि हमारे शब्द ज्ञान के समस्त क्षेत्र को आवेष्टित नहीं किये हुए हैं जो अनवरत है जब कि हमारा शब्द-कोष अनवरत नहीं है। हम प्रायः यह कह सकते है कि रंगावलि (spectrum) में सात रंग है और हमने मिश्र शब्द 'हरित-पीत' 'पीतमय-हरित' निर्माण कर लिये हैं, उन प्रक्रमों को वर्णन करने के लिए जो दो मान्य रंगों के बीच में हैं और जिनको नाम दे दिये गये हैं; परन्तु स्पष्ट है कि रंगों की अनेक छायाएँ हैं जिनके लिए हमारे पास कोई भी शब्द नहीं हैं। अतएव यह कहना अवश्य ही अशुद्ध है कि प्रत्यय बिना भाषा के नहीं रह सकते। प्रायः हमको ऐसे प्रत्यय प्राप्त होते हैं जिनके लिए कोई उपयुक्त शब्द हमको नहीं मिलते, वे ऐसे विचार हैं जो व्यञ्जना के वश में नहीं आते। "इस प्रकार ज्ञान के क्षेत्र की तुलना एक महासागर से की जा सकती है जिसमें हिमप्लवा (icebergs) पड़े हुए हैं। ....केवल कहीं-कहीं विचार जमकर शब्दप्रात्ययिक परिदृढ़ता (verbo-conceptual rigidity) के रूप में आ गये हैं।"[1]

विचार के वर्णन में अब तक हमने मुख्यतः विचार के विषयों को बताया है, जैसे संवेदनाएँ (sensations), प्रतिमाएँ (images) और विश्वव्यापिन (universals), और हमने

1 Spearman, *The Nature of Intelligence and the Principles of Cognition*, p. 276.

ज्ञानमूलक मनःव्यवस्थाओं को भी बताया है जिनका अस्तित्व हमें ऐसे विचार की सम्भावना के कारण के लिए मानना चाहिए। *विचार की वास्तविक क्रिया का क्या रूप है ?* इस प्रश्न का उत्तर प्राप्त करने के लिए हमको दो गम्भीर सिद्धान्तों पर विचार करना उत्तम होगा, सम्बन्धों की शिक्षा और सानुबन्धों की शिक्षा, जिनकी स्थापना आचार्य स्पीअरमेन ने की और जिनको उसने सब स्तरों पर विचार-प्रक्रिया (thought-process) का आधार माना है।

सम्बन्धों की शिक्षा का सिद्धान्त इस प्रकार है—"कोई दो या अधिक वस्तुओं (सामान्य या जटिल) का मानसिक प्रतिपादन तुरन्त उसके बीच का सम्बन्ध जानने को उत्तेजित करता है।" "The mentally presenting of any two or more characters (simple or complex) tends to evoke immediately a knowing of relation between them." यह उसके ज्ञानमूलक रूप में मानसिक क्रिया का प्राथमिक नियम है, और मन इस प्रकार के बने हुए हैं कि उन्हें उसके अनुसार चलना ही पड़ता है। एक सरल उदाहरण इसके अर्थ को स्पष्ट कर देगा; यदि 'कालापन' और 'सफेदी' हमारे लिए विचार के विषय हैं, तो हमारे मन तुरन्त ही उनके मध्य 'विपरीत' के सम्बन्ध को उत्तेजित करते हैं। इन्द्रिय-प्रत्यय वस्तुओं अथवा मूल तत्त्वों (fundaments) का सरलतम रूप उपस्थित करता है, परन्तु नियम की क्रिया से निष्कृत सम्बन्ध स्वयं नये मूलतत्त्व हो सकते हैं जो स्वयं एक-दूसरे से सम्बन्धित होते हैं। वास्तव में नियम के व्यवहरण का कोई अन्त नहीं है।

सानुबन्धों (correlates) की शिक्षा का सिद्धान्त यह है कि "किसी वस्तु की उपस्थिति किसी सम्बन्ध के साथ सानु-

बन्धक वस्तु के ज्ञान को तुरन्त उत्तेजित करती है।" मानसिक क्रिया का यह दूसरा नियम पहले नियम का पूरक है, और यह भी उतना ही मौलिक व सारभूत है; फिर, हम कह सकते हैं कि हमारे मन इस प्रकार निर्मित हैं कि उन्हें इसे मानना ही पड़ता है। उपर्युक्त उदाहरण को हम पुनःव्यवस्थित करके उसका स्पष्टीकरण कर सकते हैं; यदि हमारे सामने आधारभूत 'कालापन' (blackness) और सम्बन्ध 'विपरीत' उपस्थित किये जाते हैं तो उसके सानुबन्ध 'सफ़ेदी' के निष्कर्ष पर भी हम तुरन्त पहुँच जाते हैं।

हम 'सादृश्यों' (analogies) के परीक्षण में नियमों का सम्मिलित कार्य देखते हैं। 'चन्द्रमा का सम्बन्ध पृथ्वी से है जो पृथ्वी का — से है।" रिक्त स्थान की पूर्ति करने में 'सूर्य' शब्द लाने में मन क्या करता है ? वह पहले सिद्धान्त के अनुसार 'चन्द्रमा' और 'पृथ्वी' के बीच में 'उपग्रह' सम्बन्ध ज्ञात करता है; तब वह इस सम्बन्ध को लेकर 'पृथ्वी' वस्तु की ओर जाता है, और दूसरे नियम के अनुसार सानुबन्ध वस्तु 'सूर्य' उपस्थित करता है।

इस प्रकार ये नियम उन दिशाओं को बताते हैं जिस ओर मन क्रियाशील है, और वे विचार करने के सभी स्तरों पर लागू हैं। जब हमने प्रात्यक्षिक विचार पर सोचा था तो हमने देखा था कि 'संवेदन' (sensation) एक वस्तु-कल्पना (hypostatization) है, क्योंकि वह उस मनोमूलक वस्तु का केवल नाम है जो सदैव विचार को प्रोत्साहित करती है। जब एक संवेदना मन के सामने है, तो मन अपने स्वभावानुसार सम्बन्ध तथा सानुबन्धों को ढूँढ़ने लगता है, और ऐसा करने से वह संवेदन को सार्थक बनाता है। जो अर्थ दिया जाता है वह उन मूल तत्त्वों तथा सम्बन्धों पर निर्भर है जो मन में पहले ही से संचित हैं; इस प्रकार एक-ही इन्द्रियजनित उत्तेजना के अर्थ पृथक्-पृथक्

मनुष्य अलग-अलग लगायेंगे। पृष्ठ २९९ के चित्र में हम देखते हैं कि वह मन, जो उसका अर्थ मुड़ा हुआ कागज का तख्ता बताता है जिसका मोड़ भीतर की ओर है, या तो संवेदना और ऐसे प्रत्यय के बीच की समानता का सम्बन्ध बताता है, अथवा उपस्थित संवेदना और समानता का सम्बन्ध लेकर एक प्रत्यय ज्ञात कर रहा है जो सानुबन्ध के रूप में है। हम अति स्पष्ट रूप से समझ सकते हैं कि अर्थ स्वयं मन से ही आता है, और वह उस वस्तु में गर्भित नहीं है जो अवगत की जाती है। हम बुरी लिखावट को तभी पढ़ सकते हैं जब हम जानते हैं कि वह किस विषय की है; अर्थात्, उस समय तक जब कि मन उचित सम्बन्ध और सानुबन्ध ज्ञात कर सकता है; परन्तु यदि कोई अपरिचित व्यक्तिवाचक नाम आ जाता है तो हम कठिनाई में पड़ जाते हैं, क्योंकि मन अपना अंशदान देने में असमर्थ हो जाता है।

प्रत्यक्षीकरण (perception) का अर्थ है, जो पहले भी था, "संवेदना कुछ अर्थ सहित" (sensation with a fringe of meaning), और अर्थ मन की क्रियाशीलता का परिणाम है। जब अर्थ बहुल और पूर्ण होता है, तब मानसिक प्रक्रिया को पूर्वानुवर्ती प्रत्यय (apperception) कहते हैं, जिसका आशय यह है कि केवल प्रत्यय के साथ कुछ जोड़ दिया गया है और ज्ञानमूलक मनःव्यवस्थाएँ स्थायी रूप से विस्तृत और प्रचुर कर दी गई हैं। पूर्वानुवर्ती प्रत्यय केवल प्रात्यक्षिक विचार में ही नहीं होता, वरन् कल्पना-मूलक विचार में भी। जब कभी विचार की किसी वस्तु की ओर अवधान जमाया जाता है, तो वह 'प्रत्यय' (idea), जैसा कि हरबार्टवादी कहते हैं, 'पूर्वानुवर्ती ज्ञान' (apperception mass) द्वारा प्राप्त किया जाता है, और मन में स्थायी स्थान प्राप्त कर लेता है।

कल्पनामूलक विचार (imaginative thinking) में सम्बन्ध और सानुबंध की निरंतर शिक्षा का परिणाम नवीन मानसिक अंतर्वस्तु (content) का निर्माण है। स्मृति कल्पना का पुनरोत्पादक रूप है, और उसमें वे अनुभव सम्मिलित हैं जिन के विगत अनुभवों से समान ज्ञानमूलक सम्बन्ध होते हैं; परन्तु जिसे हम बातचीत में कल्पना (imagination) कहते हैं वह इससे कुछ अधिक है, उसमें पूर्व अनुभव द्वारा प्राप्त तत्त्वों का निर्माण नवीन समष्टियों में होता है। यह रचनात्मक कल्पना (constructive imagination) दो मुख्य रूप धारण कर सकती है; हम सम्बन्ध और सानुबंध उन रीतियों से निकाल सकते हैं जो दूसरों ने बताई हैं, अथवा हम स्वयं उन रीतियों के उत्तरदायी हो सकते हैं जिनके अनुसार नयी मानसिक अंतर्वस्तुएँ निर्माण की जाती हैं। उदाहरण के लिए, उपन्यास पढ़ने में अथवा गणित का कोई तर्क समझने में हमारी रचनात्मक कल्पना अनुकरणशील है; परन्तु एक उपन्यास लिखने में अथवा नया प्रमेय बनाने में यह उत्पादक है। उत्पादक कल्पना (creative imagination) के भी कई उपभेद होते हैं जो शिक्षा में कुछ महत्त्व रखते हैं। ऐसा कल्पनामूलक विचार व्यावहारिक (pragmatic) कहा जाता है, जब बाह्य दशाओं द्वारा उस पर कठोर नियंत्रण रखा जाता है, और जब उसका निर्देशन एक विशेष उद्देश्य से होता है, कार्य अथवा बुद्धि का। इञ्जीनियर जो एक वृहत् पुल की योजना बनाता है भौतिक शास्त्र के नियमों से ऐसा नियंत्रण स्वीकार करता है, और नवीन वैज्ञानिक परिकल्पनाओं के निर्माता को अपने विचारों के उत्पादन के लिए सामग्री मान्य तथ्यों से स्वीकार करनी पड़ती है। कल्पना को हम कलात्मक (æsthetic) कह सकते हैं जब कि ऐसा कोई बाह्य नियंत्रण नहीं स्वीकार किया जाता है; जब विचारक अपनी सामग्री से स्वेच्छानुसार कोई भी

वस्तु बनाने के लिए स्वतंत्र है जैसे उपन्यास अथवा पद्य लिखने में, संगीत की रचना में और चित्रों के चित्रित करने (painting) में। यह अवश्य सत्य है कि महान् कलाविद् स्थिरता और अनुकूलता की रीतियों को अवश्य मानते है, परन्तु ये उन्होंने स्वयं ही अपने ऊपर लादी है। जब, जैसे शेक्सपीयर (Shakespeare) के दुखान्त नाटक में अथवा बीथोविन (Beethoven) के पद्यों में 'विभिन्नता में एकता' की ये दशाएँ मान ली जाती हैं तो हमको वास्तविक कलात्मक उत्पादन प्राप्त होते है; जब वे नही होते और कल्पना को उच्छृङ्खल होने दिया जाता है तो हमको ऐसी वस्तु प्राप्त होती है, जो कलात्मक न हो कर, विलक्षण है।[1]

स्थानाभाव के कारण हम इन विषयों की अधिक विस्तृत चर्चा नहीं कर सकते; परन्तु क्रियाशील (pragmatic) कल्पना का एक रूप तर्क (reasoning) है जिसका अग्रेतर परीक्षण होना आवश्यक है, क्योंकि बुद्धिमूलक शिक्षा में इसका अत्यधिक महत्त्व है। तर्क किसी समस्या का कल्पनामूलक समाधान है; एक निश्चित लक्ष्य को रख कर हम सम्बन्ध और सानुबन्ध निकालते है जो हम को यह योजना मालूम करने में सहायक हो सकें जो वास्तविकता के अनुकूल हो। "तर्क करना एक आदर्श प्रयोग करना है"—अर्थात् एक काल्पनिक प्रयोग। पशु और छोटे बच्चे जो तर्क नही कर सकते उनको अपनी समस्याओं का निराकरण प्रात्यक्षिक स्तर पर परीक्षण और भूल द्वारा करना पड़ता है; परन्तु मनुष्य उसे कल्पनामूलक धरातल पर ले जा कर ऐसी प्रक्रिया का अपव्यय रोक सकता है। फिर भी वास्तविक प्रयोग और तर्क में जो मानसिक प्रक्रियाएँ निहित है, उनमें प्रकार का कोई आवश्यक अन्तर नहीं है, केवल स्तर का भेद है।

1 Drever, *Introduction to the Psychology of Education* pp. 192 *et seq.*

एक या दो उदाहरण इस महत्त्वपूर्ण बात को स्पष्ट कर देंगे कि जब हम तर्क करते हैं हम वास्तविक वस्तुओं पर प्रयोग नहीं करते वरन् प्रतिमाओं, शब्दों या चिन्हों (symbols) के रूप में इन वस्तुओं के प्रतिनिधियों पर प्रयोग करते हैं । आठ वर्ष की अवस्था के बालक के लिए डाक्टर बर्ट (Dr. Burt) का निम्न तर्क परीक्षण हैं—"मैं समुद्र-यात्राओं को पसन्द नहीं करता; और मैं समुद्र को नहीं पसन्द करता । मैं दशहरे की छुट्टियाँ, लंका में या वाल्टेयर में अथवा काश्मीर में व्यतीत करूँगा । यह कौन-सा होना चाहिए ?" यह निश्चय करने के लिए काश्मीर की घाटी मेरे लिए अत्यन्त अनुकूल होगी, मैं लंका के लिए एक शीघ्र काल्पनिक यात्रा करता हूँ और मालूम करता हूँ कि समुद्र पार करना आनन्दरहित है, तब मैं वाल्टेयर में पहुँचता हूँ और ज्ञात करता हूँ कि मैं समुद्र तट पर हूँ जो मुझे पसन्द नहीं है । अति विवेकहीन बालक को परीक्षण करने पड़ेंगे और उसे भूलों के लिए हानि उठानी पड़ेगी, परन्तु विवेकयुक्त अथवा तर्कपूर्ण बालक कल्पना में एक अनुकूल अवकाश-स्थान प्राप्त कर के दोनों से बच जाता है ।

"साठ बालकों की पाठशाला में बत्तीस न संस्कृत पढ़ते हैं न बँगला । यदि बीस बँगला पढ़ते हैं और अठारह संस्कृत पढ़ते हैं, तो कितने दोनों भाषाओं को सीखते हैं ?" प्रौढ़ तुरन्त उत्तर देता है कि दस अवश्य ऐसे होने चाहिए जो दोनों सीखते हैं, परन्तु प्राय: शब्दों में वह यह नहीं बता सकता कि वह इस परिणाम पर कैसे पहुँचा । परन्तु अध्यापक इस समस्या और उसके साधन को अपने शिष्यों को समझाने में निम्न प्रकार बढ़ सकता है—"कल्पना करो कि बँगला कक्षा हो रही है, और शेष लड़के खेल के मैदान में हैं; तब चालीस लड़के खेल के मैदान में होंगे । अब, संस्कृत अध्यापक अपनी कक्षा को एकत्र करना चाहता है, इस-

लिए वह खेल के मैदान में जाता है और केवल आठ को पाता है, क्योंकि चालीस में से बत्तीस न संस्कृत पढ़ रहे हैं और न बँगला। उसके शेष दस लड़के अवश्य ही बँगला कक्षा में होंगे। इस प्रकार दस लड़के ऐसे हैं जो बँगला और संस्कृत दोनों पढ़ रहे हैं।" इस तरह कल्पनामूलक प्रयोग से समाधान हो जाता है। प्रौढ़ का शीघ्रतर समाधान दार्ष्टिक प्रतिमा को अलग करने से और विचार के उपकरणों के रूप में शब्दों और अङ्कों के प्रयोग करने से होता है।

ऐसे उदाहरण अनेक दिये जा सकते हैं, परन्तु विद्यार्थी को इसी भाँति अपने आप स्वयं कुछ उदाहरण मालूम करना विनोद-पूर्ण और लाभप्रद होगा। शतरञ्ज और ताश की समस्याओं में खेल की काल्पनिक क्रीड़ा निहित है; और रेखागणित की उप-पत्तियाँ बहुधा अपने व्यावहारिक उद्गम को बताती हैं जब वे कल्पनामूलक क्रिया के रूप में सामने आती है। वास्तविक मनो-मूर्ति काम में आई हो अथवा नहीं, तर्क में सदा सम्बन्ध और सानुबन्धों का होना निहित है जो यथार्थता से सर्वाङ्गसम हैं। कहा जाता है कि केपलर (Kepler) ने, जिसने ग्रहों की गति के नियमों का अन्वेषण किया, कई वक्रों के परीक्षण के पश्चात् यह ज्ञात किया कि ग्रह सूर्य के चारों ओर ऊनेन्द्र (ellipse) के रूप में घूमता है अर्थात् अण्डाकार परिधि में। अपने परी-क्षणों में वह स्पष्ट रूप से ऐसा सम्बन्ध ढूँढ़ रहा था जो उसके अवेक्षण के तथ्यों को आपस में बाँध सके। आगे चल कर न्यूटन (Newton) ने आकर्षण शक्ति के सर्वगत नियम में ज्ञात किया कि केपलर के तीन नियमों में पारस्परिक सम्बन्ध क्या है और इस प्रकार उसने एक विस्तृत योजना तैयार की जो उनको सम्मिलित कर ले। विज्ञान की समस्त उन्नति तथ्य से तथ्य, तथ्य से सामान्यीकरण, और सामान्यीकरण से सामान्यीकरण

के सम्बन्ध के रूप में हुई है, तथा सानुबन्ध-शिक्षा के सिद्धान्त के द्वारा नये तथ्यों की खोज में हुई है। विज्ञान का लक्ष्य है समस्त तथ्यों की और उनके पारस्परिक सम्बन्धों की खोज।

हम इस अध्याय को कुछ शिक्षा-सम्बन्धी समस्याओं की परीक्षा के साथ समाप्त करते हैं जो उपर्युक्त विचार और समीक्षाओं की सहायता से सुलझाई जा सकती है। इनमें से प्रथम इन्द्रियोंका शिक्षण है। क्योंकि इन्द्रियाँ बाह्य संसार के लिए द्वार हैं, जिसके प्रति समायोजन (adjustment) सदैव शिक्षा की एक बड़ी समस्या रहेगी, अतएव इसमें कोई आश्चर्य नहीं है कि अनेक महान् शिक्षाविदों ने इन्द्रिय शिक्षण (sense training) के महत्त्व पर बहुत बल दिया है। उदाहरण के लिए, रूसो (Rousseau) प्रारम्भिक शिक्षा में व्यावहारिक समस्याओं के महत्त्व में विश्वास रखता था और ऐसे साधनों द्वारा इन्द्रियों के शिक्षण का पक्षपाती था; जब कि आधुनिक काल में मांटसोरी (Montessori) इन्द्रिय-शिक्षण को अपनी पद्धति का विशेष लक्षण मानती है। प्रसिद्ध 'प्रबोधक उपकरण' (didactic apparatus) के बहुत-से भाग की रचना इन्द्रिय तीक्ष्णता के लिए की गयी है; परिमाण के बोध के शिक्षण के लिए अपने एक या दोनों विमाओं (dimensions) में विभिन्न लकड़ी के रम्भ (cylinders) प्रयोग किये जाते हैं; आकृतियों के ज्ञान के लिए चौखटों में लगे हुए रेखागणित के आकार प्रयोग में लाये जाते हैं; सुनने की शक्ति के शिक्षण के लिए एक-से आकार और नाप के बक्स प्रयोग किये जाते हैं, जिनमें प्रत्येक में भिन्न-भिन्न वस्तुएँ होती हैं; रङ्ग के ज्ञान के लिए, विभिन्न रङ्गों की ऊन का प्रयोग किया जाता है। इन अभ्यासों द्वारा मांटसोरी क्या प्राप्त कर लेती है? निस्सन्देह बालक इनके अभ्यास में बहुत प्रवीण हो जाता है; परन्तु, उसकी उन्नति का कारण बताते हुए,

यह मानने की आवश्यकता नहीं है कि इन्द्रियाँ स्वयं, अथवा मस्तिष्क में इन्द्रियमूलक क्षेत्र, विकसित हो जाते हैं। शरीर-शास्त्र की दृष्टि से आँख, प्रयोग द्वारा अच्छी आँख नहीं हो जाती; वास्तव में उसका झुकाव कम प्रवीण होने की ओर होता है। जिसका प्रशिक्षण मिलता है वह वास्तव में बच्चे को बोध करने, परीक्षण करने और अपनी संवेदनाओं की विवेचना करने की शक्तियाँ हैं, जिसके शैक्षिक महत्त्व से कोई इन्कार नहीं कर सकता।

इन्द्रियों की कवायद की मांटसोरी पद्धति कहाँ तक उचित है? स्पष्ट है कि अभ्यास अपने शिक्षण-मूल्य के लिए दिये जाते हैं, क्योंकि कोई यह न कहेगा कि ऊनों के रंग मिलाना अथवा डिब्बों को हिलाकर उनके भीतर रखी हुई वस्तुओं को बताना जीवन में प्रत्यक्ष रूप से बहुत उपयोगी है। परन्तु यह अत्यन्त सन्देह-जनक है कि ऐसे सीमित क्षेत्र में प्राप्त शिक्षण का कितना अंश दूसरी वस्तुओं के देखने और सुनने के लिए स्थानान्तरित किया जा सकता है। फिर भी, प्रारम्भिक शिक्षा में मांटसोरी का ज्ञानेन्द्रियों के महत्त्व पर बल देना बिल्कुल ठीक है, क्योंकि बहुत अंश तक उच्च बौद्धिक जीवन के आधार इन्द्रिय-बोध (sense-perception) में हैं। किसी प्रकार के इन्द्रिय अनुभव में न्यूनता का फल होगा आन्तरिक मानसिक जीवन में तदनुरूप अपूर्णता; और पाठशाला की भेषज-सेवा (medical service) का पहला कार्य जहाँ तक सम्भव हो, ज्ञानेन्द्रियों के दोषों को दूर करना है। प्रसिद्ध हेलेन केलर (Helen Keller) का अपवाद—अंधी, बहरी और दो वर्ष की अवस्था से गूंगी फिर भी विश्वविद्यालय की स्नातक, भाषाविज्ञ और लेखक—केवल नियम को सिद्ध करता है; और यह कल्पना करने में कोई बुराई नहीं है कि यह विलक्षण महिला क्या कुछ कर लेती

यदि बाह्य संसार से आवागमन के सामान्य मार्ग उसके लिए खुले रहते।

यदि किसी को मांटसोरी के व्यायामों के मूल्य पर सन्देह है, तब क्या करना चाहिए? 'प्रबोधक उपकरणों' द्वारा ज्ञानेन्द्रियों को शिक्षा देने के प्रयत्न के स्थान पर, हमको व्यवस्थित रूप से बच्चे को इतना विस्तृत इन्द्रियमूलक अनुभव देना चाहिए जितना सम्भव हो सके। अनुसन्धान से ज्ञात हुआ है कि नगर के बच्चों का ज्ञान मक्खन, भेड़ और आलू जैसी साधारण वस्तुओं के विषय में अत्यन्त हास्यास्पद होता है। अतएव, अध्यापक को पाठशाला आने वाले बच्चों के विषय में कोई बात नहीं मान लेनी चाहिए, वरन् शिक्षण का कार्य आरम्भ करने से पहले उनके मनों की अन्तर्वस्तुओं का अन्वेषण करना चाहिए। अनेक पाठ असफल हो जाते हैं क्योंकि अध्यापक इन्द्रिय-मूलक अनुभव के अस्तित्व को मान बैठता है जो वहाँ नहीं है। माता-पिता अपने बच्चों को देहात में ले जाकर बहुत कुछ कर सकते हैं, जिससे उनका इन्द्रिय-ज्ञान विस्तृत हो सके; और घर पर पुरानी रीतियों से पढ़ना-लिखना सिखाने के प्रयत्न की अपेक्षा उनके इस दिशा में प्रयत्न अधिक लाभप्रद सिद्ध होंगे। परन्तु पाठशाला को भी इस विषय को अपने हाथ में लेना चाहिए और व्यावहारिक कार्य, शैक्षिक भ्रमण और पाठशाला-यात्राओं के द्वारा उनको आवश्यक इन्द्रियमूलक अनुभव देना चाहिए। छोटे बच्चों को मौखिक पाठ देना प्रभावहीन है यदि उनके पीछे वास्तविक अनुभव की पृष्ठभूमि नहीं है। उदाहरण के लिए, उस बालक के लिए ज्वारभाटा का पाठ वास्तविक मूल्य नहीं रखता जो कभी समुद्रतट पर नहीं पहुँचा हो।

मांटसोरी के लेखों ने शिक्षा-शास्त्र की एक और समस्या को भी विषम बना दिया है और वह है कल्पना (imagination)

का प्रशिक्षण। इस विषय पर विचार करने के लिए हमको पहले कल्पनामूलक विचार करने के विभिन्न रूपों का पुनरावाहन करना होगा जिनका भेद हम पहले ही जान चुके हैं, अर्थात् व्यावहारिक (pragmatic), कलात्मक (artistic) और कल्पनामूलक (fantastic)। इन पहलुओं में से एक के प्रशिक्षण के मूल्य के विषय में हमारे निर्णय का दूसरे पहलुओं पर लागू होना आवश्यक नहीं है।

जैसा भली भाँति विदित है मांटसोरी नहीं चाहती कि बच्चा परियों की कहानियाँ सुने और कल्पना के ताने-बाने बुने। कल्पना के इन मनगढ़न्त वार्ताओं में उसका आनन्द उसकी अपरिपक्वता का एक माप है; और संचालिका को, क्योंकि उसका उद्देश्य अपरिपक्व बच्चों को विचारशील प्रौढ़ों में परिवर्तित करना है, उनको आरम्भ से ही "खिलवाड़ की (childish) वस्तुओं से दूर रखना चाहिए।" कल्पित कथाएँ और परियों की कहानियाँ कल्पना में रहने की बच्चे की प्रवृत्ति को प्रोत्साहन देती हैं, और कठिनाई के समय वह आशा करता है कि दैवी शक्तियाँ उसकी सहायता करेंगी, और वह तथ्य के वास्तविक संसार के साथ अपना समायोजन नहीं कर सकता। इसलिए इनको वर्जित करना चाहिए।

उनकी प्रवृत्ति हमको मनोविश्लेषक सिद्धान्त की ओर ध्यान देने के लिए बाध्य करती है जिसके अनुसार कल्पना-सृष्टियों को अवरुद्ध प्रवृत्तियों के प्रतिफल के रूप में मानना चाहिए और यह कि वे स्वभाव में परागामी (regressive) होती हैं। तो भी, कल्पना-सृष्टि (fantacies) का दूषित होना अथवा न होना केवल उस अंश पर निर्भर है जहाँ तक व्यक्ति कल्पना के संसार में विचरण करने का अभ्यस्त है। कदाचित् कल्पनारत जीवन (day-dreaming) का सीमित परिमाण लाभदायक प्रभाव डालता है, क्योंकि वह उन प्रवृत्तियों को रेचक मार्ग देता है,

जिनको एक या अधिक कारणों से प्रत्यक्ष व्यञ्जना नहीं प्राप्त हो सकती। यदि व्यक्ति जीवन की कठिनाइयों का डट कर सामना करता है, तो उसका कभी-कभी कल्पना-सृष्टि (fantacies) में भ्रमण करना चिन्ता की वस्तु नहीं है। अचेतन का मनोविज्ञान हम को केवल चेतावनी देता है कि हम उन कल्पना-सृष्टियों से सावधान रहें जो दूषित हैं।

बालपन में परियों की कहानियों के विषय में मांटसोरी का जो घोर विरोध है, उचित नहीं है। हम को उस तर्क पर अविश्वास करना चाहिए जो हमारे बच्चों से वह प्रसन्नता छीन लेता है जिसमें हम स्वयं लवलीन रहे हैं और हम को आदेश देता है कि हम एक पूर्ण स्वाभाविक प्रवृत्ति की उपेक्षा करें। जैसा रस्क (Rusk) ने कहा है, "परियों की कहानियों के पक्ष में उचित रूप से कहा जा सकता है कि वे एक जाति की साहित्यिक दाय का भाग हैं और इसलिए उनको जानना चाहिए; और यह हो सकता है कि बचपन के प्रारम्भिक वर्ष उनको सीखने के लिए अत्यन्त अनुकूल हों, जब कि कल्पना के संसार की घटनाओं में और हेतुपूर्ण समकल्पित संसार की घटनाओं में प्रतिकूलताएँ अधिक प्रभावित नहीं होतीं।"[1] फिर, क्योंकि बच्चा, जैसा हम पहले देख चुके हैं, बहुत थोड़ी अवस्था में ही अपने तथ्य और कल्पना के संसारों को एक-दूसरे से पृथक् रखना सीख लेता है, मांटसोरी का तर्क कि बच्चा प्रत्येक अवसर पर दैवी सहायता की आशा करता है और वह यथार्थ संसार से अपना समायोजन करने में पिछड़ जाता है, केवल अत्युक्ति है।

परन्तु वह तारंगिक कल्पना (fantastic imagination) के प्रति अपनी वृत्ति में नितान्त दृढ़ है, इस आधार पर कि उसके परिणाम अवास्तविक और असत्य हैं और वे

1 *The Doctrines of the Gaeat Educators*, p. 287.

बच्चे के बौद्धिक विकास में बाधक हैं। कलात्मक कल्पना की ओर उसकी क्या वृत्ति है, जिसको कि अपने उपादान (materials) कल्पना के संसार में मिलते हैं परन्तु जो उन्हें एकीकृत रूपकल्पन (design) में बुन देती है ? 'सत्य' शब्द का इतना संकुचित अर्थ ले कर, शेक्सपीयर का एक दुखान्त नाटक अथवा कल्पनामूलक कला की कोई दूसरी महान् कृति भी तथ्यहीन ठहरेगी। हम पहले ही देख चुके हैं कि यद्यपि परियों की कहानियों का विवरण विलक्षण और निरर्थक है, उनका सारतत्त्व स्वयं बच्चे का यथार्थ चित्र है। इसी प्रकार, कला की अधिक उच्च कृतियों के विषय में भी कहा जा सकता है कि उन में मानवी प्रकृति के गहन सत्य निहित हैं, यद्यपि उन्हें भली भाँति समझाने के लिए वे भूत, प्रेत, चुड़ैल आदि का प्रयोग करते हैं। यदि हम तारंगिक कल्पना (fantastic imagination) से वंचित कर दिये जायँ, तो हम कलात्मक कल्पना के अनेक रूपों से भी वंचित हो जायँगे जिनके हम अभ्यस्त हैं, और हम को अवश्य ही स्वयं शेक्सपीयर के नाटकों में बड़ी काटछाँट करनी पड़ेगी।

मांटसोरी का विश्वास है कि कल्पनामूलक प्रक्रिया सत्य और वास्तविकता पर आधारित होनी चाहिए, और इसलिए उस को उचित उपादान प्रत्यक्षघटना शास्त्र (positive science) में मिलेंगे। बहुत काल व्यतीत हुआ लूक्रिटिअस (Lucretius) ने प्रकृति का गीत गाया था, और यह संभव है कि भविष्य में एक महान् कवि जन्म लेगा जिस के विषय होंगे विद्युदणु (electron) और ब्रह्माण्ड (cosmos) जैसा कि आधुनिक विज्ञान ने वर्णित किया है। परन्तु ऐसा आधार स्पष्ट ही इतना संकुचित है कि उस के क्षेत्र में समग्र कला नहीं आ सकती। शिक्षा की किसी विस्तृत योजना में कलात्मक कल्पना तथा दंभमूलक कल्पना दोनों के लिए

अवश्य स्थान होना चाहिए, जिनका महत्त्व मांटसोरी ने इतना अधिक बताया है। बच्चे के सामने दो संसार हैं, एक अपने से बाह्य वस्तुओं का और दूसरा विचार और अनुभूति का अपना स्वयं का आंतरिक संसार। इस प्रकार हम यह मानते हुए कि उसे यथार्थ संसार के अनुरूप कार्य करना पड़ेगा, हम इस पर बल देते हैं कि फिर भी उसका थोड़ा समय कल्पना के संसार में व्यतीत होना चाहिए। मांटसोरी ने अनियंत्रित कल्पना से हानि की ओर से हमको चेतावनी देकर अच्छा ही किया है; परन्तु, यदि हम बच्चे का यथेष्ट समय ऐसे कार्य करने में व्यतीत करायें जो यथार्थ, निश्चित और बाह्य दशाओं से नियंत्रित हो तो उसे (मांटसोरी को) संतुष्ट हो जाना चाहिए। तथ्य कल्पना को ठीक करे और कल्पना तथ्य को शुद्ध करे।

व्यावहारिक या क्रियाशील (pragmatic) कल्पना का अभ्यास बहुत महत्त्वपूर्ण है, क्यों कि यह अन्वेषक और वैज्ञानिक विचारक की कल्पना है। इस प्रकार के विचार करने का हम कैसे पोषण कर सकते हैं ? इस अध्याय में जो सिद्धान्त बताया गया है कि—प्रात्यक्षिक और कल्पनामूलक विचार करना (perceptual and imaginative thinking) मानसिक क्रिया के भिन्न रूप नहीं हैं, परन्तु वे विभिन्न स्तरों पर की गई एक ही क्रिया के रूप हैं—इस से एक सूत्र मिलता है। करना (doing) स्वयं विचार करने का एक रूप है और कल्पनामूलक विचार के उच्चतर प्रक्रमों के लिए उसमें आधार अवश्य निहित है, जिन्हें अन्त में कल्पना-मूलक करना ही कहेंगे। कल्पनामूलक विचार का विशेष रूप जिसे हम तर्क (reasoning) कहते हैं, जैसा हम देख चुके हैं कल्पना-मूलक प्रयोगीकरण है। पुराना विचार कि व्यावहारिक कार्य ऐसा व्यवसाय है जो कुशल बुद्धि के योग्य नहीं है सर्वथा अशुद्ध है; करना और प्रयोग करना विचार करने की अमूर्त शक्ति के

विकास में बाधा नहीं डालते हैं वरन् उसके सहायक हैं और वास्तव में इस वांछनीय लक्ष्य का यह एक मात्र निश्चित मार्ग है। हमारे इस सिद्धान्त में हम को पुरानी शिक्षण-उक्ति "करने से सीखो" (learn by doing) का मनोवैज्ञानिक समर्थन मिलता है, और हमारी पाठशालाओं में क्रियात्मक कार्य (practical work) की अनेक योजनाएँ आरम्भ करने के लिए एक आज्ञा-पत्र (charter) प्राप्त होता है।

गणित के अध्यापक जो व्यावहारिक कार्य से घृणा करते हैं रेत पर निर्माण कर रहे हैं; यूनानी रेखागणितज्ञों ने बिल्कुल इस से विपरीत ढंग से बौद्धिक मान प्राप्त किया था। एक 'शुद्ध' (pure) गणितज्ञ भी दूसरों के कन्धों पर खड़ा होता है जिन्होंने विषय का अधिक व्यावहारिक ढंग से प्रतिपादन किया है। गणित के शिक्षण की प्रारम्भिक प्रक्रमों में व्यावहारिक कार्य की उपेक्षा के ही कारण लड़का विषय के अध्ययन के अयोग्य रहता है जो बहुत से छात्रों में पाया जाता है। फिर, प्रयोगशाला से स्वतन्त्र गणित-मूलक भौतिकशास्त्र का अध्ययन चिह्नों के इन्द्रजाल मात्र की भाँति है, जिसके परिणामस्वरूप ऐसे स्नातक तैयार होते हैं जो एक बिजली की घंटी की मरम्मत करने अथवा रेडियो (wireless set) बनाने तक में असमर्थ होते हैं। व्यावहारिक कार्य का सिद्धान्त सभी विषयों पर लागू है। हम पहले देख चुके हैं कि साहित्यिक अनुभूति में भी 'करने' का तत्त्व मौजूद है, और नैतिक शिक्षा में प्रेरणा-शक्ति या संकल्प-शक्ति (will) का शिक्षण अनुकूल दशाओं में अभ्यास द्वारा ही होता है। हम इस कार्य को विशेषज्ञों के ऊपर छोड़ते हैं कि वे अपने-अपने विषयों में इस सिद्धान्त का विस्तृत निरूपण करें; यहाँ हम केवल इतना ही कहना चाहते हैं कि यदि वे उन विधियों पर विचार करेंगे जिनके अनुसार जाति की उन्नति के साथ-साथ इन अध्ययनों

का विकास हुआ, तो उन्हें वास्तविक करने (actual doing) का अवश्यम्भावी आधार सदा प्राप्त होगा। केवल इस प्रक्रम के पुनरावर्तन से और इसके पश्चात् प्रत्यक्ष प्रतिमाओं के विचारपूर्ण 'करने' के द्वारा अपने अधिक बौद्धिक छात्रों में भी, वे अमूर्त विचार (abstract thought) की प्रभावपूर्ण शक्ति को विकसित करेंगे।

विशेष अध्ययन के लिए उपयोगी पुस्तकें

McDougall : *An Outline of Psychology,* chapter xv.

Nunn : *Education : its Data and First Principles,* chapter xiv.

Spearman : *The Nature of 'Intelligence' and the Principles of Cognition.*

Dewey : *How we Think.*

Drever : *Introduction to the Psychology of Education,* chapter x.

Aveling : *On the Consciousness of the Univarsal and the Individual.*

Montessori : *The Montessori Method ; The Advanced Montessori Method.*

Rusk : *Experimental Education,* chapters iii and iv; *The Doctrines of the Great Educators,* Chapters viii and xii.

: १३ :

मन की माप

(The Measurement of the Mind)

"ज्ञान के कुछ आधार के बिना तुम बुद्धिमान नहीं हो सकते; परन्तु तुम सुगमता से ज्ञान प्राप्त कर सकते हो और फिर भी बुद्धिहीन रह सकते हो।" इन शब्दों में आचार्य ह्वाइटहैड (Whitehead) ने हमारा ध्यान उस भेद की ओर आकर्षित किया है जो चिरकाल से मान्य रहा है। ज्ञान या विद्या केवल तथ्यों पर अधिकार है, परन्तु बुद्धिमानी अपने ज्ञान को प्रयोग करने और व्यवहरण करने की अतिरिक्त शक्ति है। तथ्यों का ज्ञान इतना महत्त्वपूर्ण नहीं है, जितना यह ज्ञान कि ये तथ्य कुछ परिस्थितियों के लिए संगत हैं। बुद्धिमानी की प्रशंसा ज्ञान की अपेक्षा कहीं अधिक की जाती है। अनेक कहानियों में मूर्ख विद्यागर्वित मनुष्य की तुलना अनुकूल रीति से चतुर व कुशाग्र बुद्धि से की गई है जो वस्तुस्थिति को समझ लेता है और थोड़े ज्ञान का बहुत उपयोग कर लेता है। कथा का सरल नायक ऐसे महान् कार्य कर लेता है जो विद्वानों को अचम्भे में डाल देते हैं और वह राजा जो "ईसाई संसार में सबसे अधिक बुद्धिमान् मूर्ख" घोषित किया गया, वह था जिसने विद्या, उसके उपयोग करने की शक्ति के बिना प्राप्त की थी।

जब कभी शिक्षाविज्ञों ने इस विषय पर विचार किया है, वे भी इस निष्कर्ष पर पहुँचे हैं कि बुद्धिमानी लक्ष्य है और ज्ञान

उसको प्राप्त करने का एक-मात्र साधन है। परन्तु शिक्षा के इतिहास में अनेक शून्यकाल हुए हैं जिनमें केवल ज्ञान को स्वयं एक वांछनीय लक्ष्य माना गया है। ऐसे समयों पर शिक्षा तथ्यों का अर्थहीन समावेश मात्र रह गई है। उदाहरण के लिए, लोकप्रिय शिक्षा, जो अत्यधिक बौद्धिक पराक्रम के समय उत्पन्न हुई, का लक्ष्य केवल ऐसे मनुष्यों को तैयार करना था जो तथ्यों को जानते थे। इन तथ्यों से यह आशा की जाती थी कि ये किसी रहस्यपूर्ण ढङ्ग से लोहे को सोना बना देंगे, और अपने स्वामी को सर्वोच्च मनुष्य बना देंगे। प्रारम्भिक पाठशालाओं को अनुदान उन परिणामों के अनुसार दिये जाते थे जिनको सरकारी इन्स्पेक्टर अपने परीक्षण-पत्र द्वारा निश्चित करता था। परन्तु शनैः शनैः यह मान लिया गया कि पाठशाला की सफलता उन तथ्यों की संख्या द्वारा नहीं नापी जा सकती जो उसके छात्र जानते हों। परिणामों के आधार पर वेतन दिये जाने की अन्यायपूर्ण प्रणाली से अध्यापकों को छुटकारा मिल गया और इस प्रकार वह बुद्धि की वृद्धि करने के लिए (जैसा कि वे समझते थे) मुक्त कर दिये गये। वर्तमान शताब्दी के आरम्भ में "बुद्धि एक धर्म, एक खोज और एक प्रत्यय शब्द (watchword) हो गया था।"[1] निदोल (pendulum) यथार्थ ज्ञान से हटकर दूसरी ओर चला गया और अध्यापक कुशाग्रता का अनुशीलन करने के उत्साह में भूल गये कि "ज्ञान के किसी आधार के बिना हम बुद्धिमान नहीं बन सकते।" उन्होंने घोषणा की कि इससे कोई मतलब नहीं कि उनके छात्र कुछ जानते हैं अथवा नहीं; और ऐसा प्रतीत होता था कि मानो उनका आदर्श एक अज्ञान 'चतुर' (ignorant intelligent) मनुष्य था। लोकप्रिय शिक्षा में ऐसा प्रक्रम निश्चित रूप से निकल गया। मनोवैज्ञानिकों ने चतुरता को वर्द्धन

1 Ballard, *Mental tests*, p. 22.

करने की हमारी शक्ति में हमारा विश्वास हटा दिया। उन्होंने यह कहा कि इसको हमें शिक्षा की सामग्री के रूप में समझना चाहिए जिसे हम बढ़ाने में असमर्थ हैं। अतएव, कदाचित् ज्ञान की उन्नति करना और उसके अभ्यास के लिए अवसर देकर उसे बुद्धिमानी में परिणत करना हमारा कार्य है।

बुद्धि के विषय पर मनोवैज्ञानिकों का कार्य शिक्षा के लिए अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है, और प्रत्येक अध्यापक को उसके मुख्य परिणामों को जानना आवश्यक है। समस्या है स्वयं मन को नापने की, न कि उस ज्ञान के परिमाण को जो उसमें है, और मन के विस्तार को अंकों में विदित करना। ज्ञान का कोई समुदाय तभी वैज्ञानिक होता है जब कि वह गुणात्मक और संख्यात्मक दोनों हो, क्योंकि अंक विज्ञान की आत्मा है। ऐसा कहने का यह मंतव्य नहीं है कि गुणात्मक ज्ञान व्यर्थ है, जैसा कि आधुनिक विज्ञान के कुछ उत्साही भक्तों का विश्वास है। यह सत्य हो सकता है कि मन के कुछ रूपों का संख्यामक विश्लेषण नहीं हो सकता। परन्तु बुद्धिमूलक योग्यता के संसार में संख्या की खोज सराहनीय है, और उसके अनुसरण से मनोवैज्ञानिकों ने कुछ महत्त्वपूर्ण फल प्राप्त किये हैं। परन्तु एक धोखा है जिसमें अंकों के प्रति असावधान उत्साही मनुष्य सुगमतापूर्वक फँस सकता है। कभी-कभी अंक ऐसे परिणामों को दिखाने के लिए प्रयोग किये जाते हैं जिनको इस प्रकार कथित नहीं किया जा सकता; और यह भली भाँति समझ लेना चाहिए कि ऐसी विवेचना उनको वैज्ञानिक नहीं बना सकती। समस्त विज्ञान अंकमूलक है, परन्तु सभी अंकमूलक परिणाम वैज्ञानिक नहीं हैं। जैसा प्रत्येक वास्तविक वैज्ञानिक जानता है मुख्य परीक्षण अन्य अन्वेक्षणों द्वारा परिणामों का सत्यापन (verification) है। परिणाम वस्तुगत होने चाहिएँ न कि आत्मगत; अर्थात् वे अन्वेक्षक की निजी राय अथवा

पक्ष से बिल्कुल स्वतंत्र होने चाहिएँ। अतएव मानसिक नाप में मन के लिए एक निर्णीत मापदंड की आवश्यकता है जिसे कोई भी अन्वेक्षक प्रयोग में ला सके और उन्ही परिणामों पर पहुँच सके।

ज्ञान या मानसिक अंतर्वस्तु (mental content) का नाप एक प्राचीन कला है, क्योंकि उसका उपकरण, जो परीक्षा है हमारे पास प्राचीन समय से है। परन्तु आधुनिक मनोविज्ञान की समस्या मानसिक अतर्वस्तु का मूल्यांकन करने के साधन का योजन करना है न कि उसकी अंतर्वस्तु का। यह विचार किया जा सकता है कि मन स्वयं ज्ञान द्वारा नापा जा सकता है—किसी बर्तन के आकार को नापने की स्पष्ट रीति यही है कि यह ज्ञात किया जाय कि उसमें कितना समा सकता है। परन्तु इस विधि पर कई आपत्तियाँ की जाती है। एक मनुष्य के ज्ञान प्राप्त करने के अवसर दूसरे के अवसरों से बिल्कुल भिन्न हो सकते है। उदाहरण के लिए, यह नितांत अनुचित होगा कि जिस मनुष्य ने किसी कारणवश गणित सीखी ही नही है उसकी गणित की स्वाभाविक योग्यता गणित-सम्बन्धी ज्ञान से लगायी जाय। फिर, यदि हम मानसिक परीक्षण में ज्ञान का प्रयोग करते है तो हम को ध्यान रखना चाहिए कि केवल अर्जित ज्ञान (erudition) का ही परीक्षण न करें। वरन् नवीन परिस्थितियों में विचारों को उपयोग करने की शक्ति का भी।[1] फिर, मन और उसके ज्ञान में परस्पर सम्बन्ध ऐसा नही है जैसा कि पात्र और उसकी अंतर्वस्तु का है। ज्ञान कोई वस्तु ऐसी नही है जो मन के भीतर हो वरन् उसे मन ही कहना चाहिए। "तथ्य मानसिक शक्ति हो जाता है" (fact becomes faculty)—यह आदम्स की

[1] सर जॉन आदम्स ने अपनी एक प्रसिद्ध सूक्ति में बुद्धि को "व्यवहृत (या उपयोजित) विचार (applied thought)" बतलाया है।

एक अन्य उक्ति है। जिस प्रकार भोजन शरीर में किसी वस्तु के रूप में नहीं रहता वरन् शरीर ही हो जाता है, उसी प्रकार उचित रीति से पचे हुए तथ्य ही मन बन जाते हैं।

प्रारम्भिक मानसिक परीक्षकों ने मन को नापने के लिए ज्ञान का प्रयोग करने के विचार को बिल्कुल छोड़ दिया। उन्होंने प्राय: उन उपकरणों का प्रयोग किया जिन्हें वे पहले से ही जानते थे—अर्थात् भौतिक विज्ञान के उपकरण। वे इनका प्रयोग मन पर नहीं कर सके, इसलिए उन्होंने इनका व्यवहरण शरीर पर किया और आशा करने लगे कि किसी शारीरिक माप में उनको मन का सूचक भी मिल जायगा। ऐसे प्रयत्न में कोई अनर्थक अथवा अनहोनी बात नहीं थी। भौतिक विज्ञान मे किसी वस्तु को प्रयत्क्ष नापना अपवाद है न कि नियम; उदाहरण के लिए, तापक्रम और वायु-भार पारे के स्तम्भ द्वारा नापे जाते हैं। अग्रगामियों ने कुछ शारीरिक लक्षणों की ओर देखा जो मन का प्रतिनिधि-रूप माप दे सकें। अतएव उन्होंने सबसे पहले शिर पर परीक्षण किया; क्योंकि शिर मस्तिष्क का घर है, जो स्वयं मन का शारीरिक अंग है, ऐसा प्रतीत होता था कि यह विधि उचित है। इस प्रकार जीवतु विज्ञान (science of phrenology) का जन्म हुआ।

अठारहवीं शताब्दी के अन्त में गॉल (Gall) और स्पर्ज़हीम (Spurzheim) ने विश्वास के साथ बताया कि शिर का सावधान अध्ययन उसके स्वामी के मानसिक गुणों के विषय में ठीक-ठीक तथ्य बतायेगा। उनका सिद्धान्त इतना अपक्व न था कि वह यह कहे कि बड़े शिर से आशय बड़े मन से है—जड़ मनुष्यों के शिर प्राय: असाधारण रूप से बड़े हुआ करते हैं। उन्होंने खोपड़ी के अपेक्षाकृत परिमाणों की ओर ध्यान दिया; और क्योंकि भिन्न-भिन्न मानसिक कार्य के स्थान मस्तिष्क के धरातल के प्रथक्-प्रथक् क्षेत्रों में निश्चित हैं, इसलिए उन्होंने विचार किया कि

उनके विकास का ज्ञान कर्पर (cranium) के बाह्य धरातल के अध्ययन से प्राप्त हो सकेगा। जन-साधारण पर जीवतुं विज्ञान का अब भी अधिकार है; यह इस बात से सिद्ध होता है कि 'स्फोट' (bump) को समझने की कला के आचार्य अब भी जीविका उपार्जन करते हैं।

सन् १७७५-७८ में लेवेटर (Lavator) ने मुखसामुद्रिक पर अपना निबंध प्रकाशित किया, और शरीर के द्वारा मन का मूल्यन करने का प्रारम्भिक प्रयत्न का वर्णन किया,। यहाँ चेहरे को मनुष्य की योग्यताओं और चित्तप्रवृत्ति का सूचक माना गया। स्वयं लेवेटर ने रचना (features) के महत्त्व पर बल दिया, परन्तु उसके अनुगामियों ने मुखाविर्भाव (facial expression) पर जोर दिया। यद्यपि अधिकांश मनुष्य इस बात से सहमत होंगे कि चेहरे के निपुण अध्ययन से चरित्र और चित्र-प्रवृत्ति के कुछ निर्देशन प्राप्त होते हैं, परन्तु वे वर्तमान काल में यह विश्वास करने को तैयार न होंगे कि वहाँ बौद्धिक योग्यता का भी लेखा मिलेगा।

उन्नीसवी शताब्दी के अन्त में सिज़ेर लोम्ब्रोज़ो (Cesare Lombroso) ने इसी दिशा में दूसरा प्रयत्न किया, जिसकी अपराधिकी (criminology = अपराध का विज्ञान) मे खोजों से ऐसा प्रतीत होता था कि शारीरिक दूषण, विशेषकर शिर के प्रदेश में, दूषित बुद्धि तथा परिभ्रष्ट आचार (degenerate morals) के लक्षण हैं। खोपड़ी, माथे और नाक के आकार में विलक्षणताएँ (abnormalities) और चेहरे की समपक्षता (symmetry) में विशेष कमी मनुष्य-जाति के निम्न और प्राचीन स्तर पर वापस होने की प्रवृत्ति के प्रमाण समझे जाते थे। परन्तु यह सिद्धान्त आजकल कुछ अमान्य है, क्योंकि हम सब में अपकर्ष (degeneracy) के ये चिह्न कम या अधिक

मात्रा में पाये ही जाते हैं।

वास्तव में, जैसा डा० सिरिल बर्ट (Dr. Cyril Burt) ने कहा है, "आजकल मनोवैज्ञानिक चेहरे और सिर के निरीक्षण पर आधारित समस्त शीघ्र-निर्णयन पर अविश्वास करने में सहमत हैं।"[1] सन् १६०६ ई० में आचार्य कार्ल पीअरसन (Karl Pearson) द्वारा प्रकाशित *'बुद्धि का शिर के परिमाण और आकार से सम्बन्ध पर'* खोजों द्वारा परीक्षण किया गया; इन विधियों में कोई उन्नति नहीं हुई है। पाठशालाओं के ५,००० बच्चे और १,००० उपस्नातकों (under-graduates) के परीक्षण के पश्चात् अन्वेषक इस निष्कर्ष पर पहुँचा कि मन की इन प्रतिनिधि मापों पर कोई विश्वास नहीं किया जा सकता—दैहिक आकृतियों के बल पर बौद्धिक गुणों के विषय में कोई भविष्यवाणी नहीं की जा सकती। "हम किसी को केवल देख कर ही नहीं कह सकते कि वह अपराधी है; हम कपाल (खोपड़ी) के आकार से नहीं बता सकते कि वह प्रतिभाशाली व्यक्ति है; और कानों की लम्बाई से नहीं बता सकते कि अमुक मनुष्य मूर्ख है।"[1] पीअरसन (Pearson) गणित द्वारा अपने परिणाम पर पहुँचा, और उसने गॉल्टन (Galton) के साथ एक शक्तिशाली गणितमूलक विधि के योजन द्वारा प्रचुर सामग्री से निश्चित निष्कर्ष निकाले। यहाँ उसे विस्तारपूर्वक समझाने के लिए स्थान नहीं है, परन्तु निम्न उदाहरण द्वारा कदाचित् सामान्य ज्ञान हो जायगा।

कल्पना कीजिए कुछ मनुष्यों का परीक्षण तत्कालिक स्मृति के लिए किया जाता है जिनको हम *क, ख, ग,....य, र, ल* कहेंगे

---

1 *Psychological Test of Educable Capacity* (Board of Education), p. 4.

1 Ballard, *Mental Tests*, pp. 6, 7.

और योग्यता के क्रम में उनको लगाया जाता है; *क* अङ्क क पा कर प्रथम आता है, *ख* को द्वितीय स्थान पर ख अङ्क प्राप्त होते हैं,....र अन्तिम से ठीक पहले र अङ्क प्राप्त करता है और *ल* सब से कम अङ्क ल पाता है। फिर यह कल्पना कीजिए कि उन्ही मनुष्यों का परीक्षण दीर्घ स्मृति (prolonged memory) के लिए किया जाता है और फिर एक सूची प्राप्तांकों (scores गुणांकों) के अनुसार बनायी जाती है। यह भी हो सकता है कि दूसरे परीक्षण का क्रम और अङ्क ठीक वैसे ही हों जितने प्रथम के; अर्थात् दोनों परीक्षणों में *क, ख, ग.... य, र, ल,* को क, ख, ग....य, र, ल अङ्क प्राप्त हों। इस दशा में हम को दोनों परीक्षणों में *पूर्ण धनात्मक अनुबन्ध* (perfect positive correlation) प्राप्त होगा, जिसका आशय यह होगा कि एक परीक्षण में एक मनुष्य के गुणांक (score) से हम ठीक-ठीक तर्कण कर सकेंगे कि दूसरे में उसका गुणांक कितना होगा, अथवा यों कहा जा सकता है कि दोनों क्रियाएँ जिनका परीक्षण किया गया, एक ही हैं। यह भी हो सकता है कि दूसरी सूची पहली सूची के बिल्कुल विपरीत सिद्ध हो; *ल* को क अङ्क मिलें, र को ख,....*ख* को र, और क को ल अङ्क प्राप्त हों। यह *पूर्ण ऋणात्मक अनुबन्ध* (perfect negative correlation) का उदाहरण होगा, जिसका आशय यह होगा कि एक परीक्षण में एक मनुष्य की उत्तमता दूसरे परीक्षण में उसके दोष का ठीक माप है। एक गणितमूलक मान, अनुबन्ध का गुणक अ (R) की परिभाषा की जाती है कि उसका मूल्य पूर्ण धनात्मक अनुबन्ध के लिए +१ है, और पूर्ण ऋणात्मक अनुबन्ध के लिए −१ है। वास्तविक व्यवहार में वह दोनों अन्त-पदों (extremes) के बीच में परिवर्तन करता है, परन्तु +१ से उसकी निकटता दो परीक्षण की हुई विशेषताओं की समरूपता

को प्रदर्शित करती है। यदि अ (R) शून्य के निकट आ जाता है तो इससे यह निर्देश मिलता है कि केवल उतनी ही समरूपता है जिसकी आशा दैवयोग से की जा सकती है। इस प्रकार, हमारे उदाहरण में यदि अ शून्य निकलता है तो हम इसी निष्कर्ष पर पहुँचते है कि तत्कालिक स्मृति में मनुष्य के गुणांक से हम उसके दीर्घ स्मृति के परीक्षण में गुणांक के विपय में कोई फल नहीं निकाल सकते।

इसलिए अनुबन्ध गुणक (correlation coefficients) द्वारा ही पीअरसन ने यह निश्चय किया कि शिर के परिमाण व आकार और बुद्धि के मध्य समरूपता अति सूक्ष्म है। शरीर के स्थैतिक (static) मापों द्वारा मन के नापने के प्रयत्न निश्चय रूप से अमान्य कर दिये गये।

मार्नासिक माप के इतिहास के अगले प्रक्रम की मुख्य विशेषता थी मनोवैज्ञानिक प्रयोगशाला मे *पीतल के उपकरणों का प्रयोग*। सन् १८८३ में गॉल्टन (Galton) ने सरल प्रयोगशालीय परीक्षणों के ज्ञात करने की सम्भावना बताई जो बौद्धिक योग्यता को नाप सकें; और निस्सन्देह ब्रिटिश मनोविज्ञान के परम्परागत सिद्धान्त—*Nihil in intellectu quod non prius in sensu*, अर्थात् बुद्धि में कोई ऐसी वस्तु नहीं है जो पहले इन्द्रियों में न प्रस्तुत हो—से प्रभावित होकर, मनोवैज्ञानिकों ने सर्व प्रथम ज्ञानेन्द्रियमूलक विवेक के सरल परीक्षणों का प्रयत्न किया। यह विश्वास किया गया कि आँखें, कान और त्वचा समस्त व्यक्तियों में लगभग एक-से हैं, और इसलिए ज्ञानेन्द्रिय परीक्षण की क्रिया के भेद के कारण अवश्य ही अवधान और भेदन (discrimination) की शक्तियों के कारण होंगे—दूसरे शब्दों में बुद्धिमूलक तत्त्व के कारण। यह मत इस खोज के कारण अधिक महत्त्वपूर्ण हो गया कि राजकीय परिषद्

के अधिसदस्य (Fellows of the Royal Society) तोल के न्यून अन्तरों को ज्ञात करने में सामान्य मनुष्यों से अधिक निपुण थे। ऐसे ज्ञानेन्द्रिय परीक्षणों का दूसरा उदाहरण स्थान की मर्यादा (spatial threshhold) का निश्चयन है; अर्थात्, वह न्यूनतम दूरी जो त्वचा पर चिह्नित दो निश्चित विन्दुओं को अलग करती है, यह निश्चित करने को वे दोनों अलग-अलग ज्ञात हो सकें; इसका परीक्षण ऐस्थिसियोमीटर (æsthesiometer) से होता है, जो विभाजक (pair of dividers) के समान एक यन्त्र है। परन्तु यह आशा पूरी नहीं हुई कि 'स्थान की मर्यादा' बुद्धि की सूचक हो सकेगी जब यह ज्ञात किया गया कि असभ्य जातियों की त्वचाएँ उतनी ही चेतनित (sensitive) है जितनी योरुप निवासियों की। जैसा बेलर्ड (Ballard) ने कहा है[1] स्थूल त्वचा का होना और स्थूल मस्तिष्क वाला होना दोनों बातें अलग-अलग हैं।

जब उच्च ज्ञानेन्द्रियों के परीक्षण किये गये तो यह ज्ञात किया गया कि प्रकाश की छटाओं को पहचानना व भेद करना तथा संगीत की लयों के उत्थानों का भेदीकरण कुछ सीमा तक बुद्धि के समरूप हैं; परन्तु ऐसे परीक्षण मानसिक योग्यता का साधारण सूचक (simple index) नहीं बता सके जिसको जानने की चेष्टा की गई थी। संवेदन और बुद्धि पर परम्परागत मनोविज्ञान के अपवर्जित विश्वास (exclusive reliance) की प्रतिक्रिया के फलस्वरूप शारीरिक शक्तियों के परीक्षण, या कारक (motor) परीक्षण, आरम्भ किये गये। यह सोचा गया कि चूँकि मन शरीर की प्रक्रियाओं में सहयोग देता है, एक चेतनिक (dynamic) माप ठीक हो सकता है जब कि स्थैतिक (static) माप विफल हो गया। शारीरिक शक्तियों

1 *Mental Tests*, p. 10.

को नापने के लिए अनेक उपकरणों (यंत्र) का आविष्कार किया गया; गतिमापक (dynamometer) पकड़ (grip) की शक्ति को नापता था; अरगोग्राफ (ergograph) बीच की उँगली का बल और सहन-शक्ति के नापने के लिए बनाया गया; लघुचपेट-यंत्र (tapping machine) से ज्ञात किया गया कि एक मिनट में कितने लघुचपेट किये जा सकते हैं। प्रतिक्रिया काल भी निश्चित किये गये, जिससे समयान्तर निश्चित किया गया जो एक उत्तेजक और एक प्रतिक्रिया के बीच में होता है। परन्तु कोई भी चेतनिक परीक्षण ज्ञात न हो सका जो व्यक्तियों की बुद्धि से अधिक संबंधित हो।

यद्यपि इन दिशाओं में बहुत-सा मूल्यवान कार्य किया गया, परन्तु शरीर अथवा उसकी शक्तियों के माप द्वारा मुख्य उद्देश्य न प्राप्त हो सका। तत्पश्चात्, मनोवैज्ञानिकों ने अपना ध्यान कथित मन-की-शक्तियों (faculties) की ओर दिया, और उन्होंने स्मृति, अवधान, सहयोजन (association) आदि पर परीक्षण किये। परन्तु फिर भी मानसिक योग्यता का कोई एक मात्र लक्षण नहीं प्राप्त हुआ। जो कार्य मानस शक्तियों पर किया गया था उसको शिक्षण के स्थानान्तर पर प्रसिद्ध प्रयोगों से प्राप्त ऋणात्मक परिणामों द्वारा बड़ा धक्का लगा। उदाहरणार्थ, यह पाया गया कि कृति के एक क्षेत्र में स्मृति में उन्नति दूसरे क्षेत्र में स्थानान्तरित नहीं होती। इसलिए, इन शक्तियों के ऐसे परीक्षणों से यह न ज्ञात हो सका कि बुद्धि से वे किस प्रकार सहयोजित हैं, वरन् यह मालूम हुआ कि उसी शक्ति के भिन्न-भिन्न परीक्षण आपस में एक-दूसरे से घनिष्ठ सम्बन्ध नहीं रखते हैं।

धीरे-धीरे यह बात मान ली गई कि सरल शारीरिक अथवा मानसिक क्रियाओं के द्वारा बुद्धि का माप प्रतिनिधित्व रूप से नहीं हो सकता है, इसलिए उच्च मानसिक क्रियाओं पर ही प्रयोग

किये गये। उदाहरण के लिए, सरल लघुचपेट छोड़ दिया गया और उसके स्थान पर एक परीक्षण काम में लाया गया जिसमें उच्च प्रेरणिक अवधान (volitional attention) तथा कारक प्रवीणता (motor dexterity) की आवश्यकता होती है। मेकडूगल ने अपने विन्दु-यंत्र (dotting-machine) का आविष्कार किया जिसमें वृत्तों की अक्रमिक पंक्ति होती है जिसमें से प्रत्येक में घटक को एक बिन्दु अंकित करना पड़ता है। यह कार्य जिसमें बड़े परिणाम में मानसिक चेतना-शक्ति अपेक्षित है बुद्धि के परीक्षणों की अपेक्षा थकावट के परीक्षण के लिए अधिक उपयोगी पाया गया है। मनोवैज्ञानिक अधिकाधिक संख्या में मानसिक योग्यता को प्रत्यक्ष रीति से निर्धारित करने में जुट गये और उन्होंने ऐसे कार्यों का प्रयोग किया जिनमें उच्च मानसिक कृतियों की आवश्यकता हो जैसे सम्बन्धों और सानुबन्धों को ज्ञात करने की शक्ति और तर्क करने की शक्ति। ये परीक्षण, जैसा कि हम इससे पिछले अध्याय से आशा कर सकते हैं; विचार करने की शक्ति के लिए वास्तविक परीक्षण हैं, और योग्य अन्वेक्षकों ने ज्ञात किया है कि ये परिणाम बुद्धि के स्वतंत्र अनुमानों के साथ घनिष्ठ सम्बन्ध रखते हैं।

सर्व प्रथम फ्रांसीसी मनोवैज्ञानिक एलफ्रेड बिने (Alfred Binet) ने संसार को बुद्धि परीक्षण (intelligence tests) की व्यवहार्य सारिणी दी। उसके सामने समस्या थी कि बच्चों में मंदता (backwardness) का निदान किया जाय, जिसका अर्थ है कि उनमें कितनी मानसिक अपूर्णता (deficiency) है और उनको हटाकर किसी विशेष पाठशाला में भेजा जाय; उसने भी अपना कार्य सरल ऐंद्रिय और कारक निकषों या परीक्षाओं (sensory and motor tests) से आरम्भ किया। परन्तु अंग्रेज अन्वेक्षणों की भाँति उसने शीघ्र ज्ञात कर लिया कि वह

भ्रांत मार्ग पर था। आवश्यकता थी किसी अधिक जटिल रीति की, जो वास्तविक बौद्धिक क्रियाओं के अधिक निकट हो। यह विश्वास करते हुए कि बुद्धि का प्रादुर्भाव, "प्रायोजनिक निर्देश, सक्रिय समायोजन और सबोध शोधन" (purposive direction, active adaptation and conscious correction) में होता है, उसने अनेक प्रकार की परीक्षाओं की आवश्यकता का अनुभव किया जिनमें मानसिक क्रिया के ये रूप निहित हों। इसलिए उसने "जर्मन मनोवैज्ञानिकों के पीतल के औज़ारों" को अस्वीकार किया और गर्व करने लगा कि मुझे "क़लम, क़ाग़ज़ और थोड़ी स्याही के अतिरिक्त किसी अन्य उपकरण" की आवश्यकता नहीं है।

उसके परिश्रम का परिणाम प्रसिद्ध बुद्धि का दशमिक मानक्रम (Metric Scale of Intelligence) निकला। इसको निर्मित करने के लिए उसने सरल व वार्तालाप के रूप के बहुसंख्यक प्रश्न तैयार किये जो विभिन्न प्रकार के थे और जिनमें केवल वे बातें व विषय सम्मिलित थे जिनको 'सामान्य बालक' तुरन्त समझ सकता है और ये उन बालकों के अनुसार नहीं तैयार किये गये जिनको ज्ञान प्राप्त करने के विशिष्ट अवसर प्राप्त हुए हों। जब उसने इन्हें बहुत से बच्चों के प्रति व्यवहृत किया, तो उसने ज्ञात किया कि एक न्यूनतम अवस्था है जिस पर अधिकांश बालक विभिन्न प्रश्नों के उत्तर सन्तोषप्रद रीति से दे सकते हैं। अतएव उसने बाल्यावस्था के विभिन्न वर्षों से 'संबद्ध' अपने प्रश्नों का वर्गीकरण किया। उदाहरण के लिए, एक प्रश्न जिसका उत्तर छः वर्ष के अधिकांश बच्चे दे सकते थे, परन्तु पाँच के बहुत कम दे सकते थे, वह छः वर्ष-के-बच्चे के लिए उपयुक्त परीक्षा (test निकष) समझी गई। इस प्रकार

उसने पाठशाला के जीवन के प्रत्येक वर्ष के लिए प्रश्नों के कई गण या समूह तैयार किये। उसका १९११ का मान चौवन (५४) प्रश्नों और निकषों (tests) का था। तीसरे वर्ष से प्रत्येक वर्ष के लिए पाँच-पाँच निश्चय किये गये, ग्यारहवें, तेरहवें और चौदहवें वर्ष छोड़ दिये गये क्योंकि उनके लिए उपयुक्त परीक्षण मिलने में कठिनाई प्रतीत हुई जो स्पष्टरूप से इन्हीं वर्षों के लिए हों। उसने मानसिक अवस्था (mental age) की महत्त्वपूर्ण कल्पना प्रस्तुत की—वह अवस्था जिसके निकष या परीक्षण (tests) बच्चा कर सकता है। इस प्रकार एक बच्चे की मानसिक अवस्था सात वर्ष है यदि वह सात वर्ष के निकषों में पूर्ण रूप से उत्तीर्ण हो जाता है; यदि, इनके अतिरिक्त, वह बाद के वर्षों के कोई निकष भी उत्तीर्ण कर लेता है तो प्रत्येक वर्ष का पाँचवाँ भाग उसे दिया जाता था। मानसिक अपूर्णता के निदान की अपनी समस्या को बिने ने यह कह कर हल किया कि यदि एक बच्चे की आयु नौ वर्ष से कम है तो दो वर्ष का गतिरोध (retardation विलम्बन) उसकी अपूर्णता या कमी को प्रदर्शित करता है; यदि वह नौ वर्ष से ऊपर है तो तीन वर्ष के विलम्बन की आवश्यकता है।

बुद्धि का अनुमान लगाने की समस्या पर बिने के प्रत्यक्ष आक्रमण ने शिक्षा-संसार में हलचल मचा दी, और कई देशों में उत्साही मनुष्य उसकी मापश्रेणी को काम में लेने लगे। यह पेरिस की गलियों के उपेक्षित बालकों के अनुकूल बनाया गया था, अतएव कोई आश्चर्य की बात नहीं कि वह अँग्रेजी व अमरीकी बच्चों के बिल्कुल उपयुक्त नही पाया गया। तो भी उसका सार्वत्रिक न होना कोई दोष नही है, क्योंकि उसके जन्मदाता ने कोई ऐसा मानक्रम नही निर्मित किया था जो हर जगह लागू हो सके। एक अधिक उपयुक्त आलोचना यह है कि बिने मानक्रम (Binet scale) अधिकतर 'सब-या-कोई-नही'

'उत्तीर्ण-या-अनुत्तीर्ण' (all-or-none, pass or fail) व्यवहार पर आधारित है। उदाहरण के लिए, छः वर्ष के बच्चे की मानसिक आयु छः वर्ष की नहीं समझी जाती, जब तक कि वह छः वर्ष की अवस्था के सब निकष या परीक्षण (tests) न उत्तीर्ण कर ले बिना इस विचार के कि वह आगामी वर्षों में क्या कर सकता है। फिर मानसिक अपूर्णता का लक्षण कुछ-कुछ मन-माना (arbitrary) है; आठ वर्ष की अवस्था पर दो वर्ष का विलम्बन अवश्य ही पाँच वर्ष की अवस्था पर उसी बिलम्बन से कम गम्भीर है। फिर, अब यह सामान्य रूप से मान लिया गया है कि सभी निकष या परीक्षण (tests) एक से सन्तोषप्रद नहीं है; उदाहरण के लिए, आकस्मिक प्रश्न निर्देशग्रहण (suggestibility) की जाँच करते हैं, न कि बुद्धि की। यदि बिने जीवित रहता तो इसमें कोई सन्देह नहीं कि यह मापश्रेणी को निरन्तर दोहराता रहता, कदाचित् उन्हीं दिशाओं में जिनमें उसकी मृत्यु के पश्चात् दूसरे कार्यकर्ताओं ने काम किया।

लन्दन में डाक्टर सिरिल बर्ट (Dr. Cyril Burt) ने परीक्षणों (tests) का अँग्रेजी अनुवाद किया और उसे लन्दन के बच्चों के उपयुक्त बनाने में आवश्यक परिवर्तन किये, और उनमें कुछ बिने द्वारा मान्य आयु से भिन्न आयु को माना। दूसरे पुनरावर्तन अधिक गम्भीर थे जो अमरीका में आचार्य लेवी एम० टरमन (Lewis M. Terman) ने किये; परन्तु उसने भी बिने के परीक्षणों को ही अपने कार्य का आधार माना। उसके मानक्रम ने उपर्युक्त दोषों में से कुछ को दूर कर दिया। उसको स्टेनफर्ड संशोधन (Stanford revision) कहते हैं, और उसमें नव्वे (९०) परीक्षण (tests) हैं, छः प्रतिवर्ष तीन से दस वर्ष की अवस्था के लिए हैं, आठ बारहवें वर्ष के लिए, छः चौदहवें वर्ष के लिए, छः औसत प्रौढ़ के लिए और

छः उत्कृष्ट प्रौढ़ के लिए, और इनके साथ सोलह वैकल्पिक परीक्षण रखे गये। फिर, ग्यारह और तेरह वर्ष की अवस्थाएँ छोड़ दी गईं जिसका कारण अवश्य ही ग्यारह वर्ष से ऊपर मानसिक किशोरावस्था का परिवर्तनशील आक्रमण था। स्टेनफर्ड मानक्रम (Stanford scale) में प्रत्येक परीक्षण (test) का आयु मूल्यमान भी है; जो तीन वर्ष से दस वर्ष तक के लिए हैं, उनमें प्रत्येक का मूल्यमान दो महीने का है; बारह वर्ष की आयु के लिए तीन महीने; चौदह वर्ष की आयु के लिए चार महीने; औसत प्रौढ़ के लिए, पाँच महीने; और श्रेष्ठ प्रौढ़ के लिए छः महीने। इस प्रकार, बारह वर्ष दो महीने का लड़का जिसने दस वर्ष की अवस्था के सब परीक्षण उत्तीर्ण कर लिए हैं, बारह वर्ष की अवस्था के पाँच परीक्षण और चौदह वर्ष की अवस्था के दो, उसकी मानसिक अवस्था १० वर्ष + १५ मास + ८ मास, अर्थात् ११ वर्ष ११ मास है। इस प्रकार मानक्रम के अनुसार यह देखा गया कि एक औसत प्रौढ़ और एक श्रेष्ठ प्रौढ़ की मानसिक आयु क्रमशः साढ़े सोलह और साढ़े उन्नीस हैं।

टरमेन (Terman) ने कई नये परीक्षण प्रचलित किये, जैसे शब्द-कोष का परीक्षण (जिसको वह अति आवश्यक समझता था), और संख्याओं को उलटी ओर दोहराना। यह सामान्यतः मान लिया गया है कि बड़े बच्चों के लिए बिने मानक्रम की अपेक्षा यह अधिक उत्तम है। मानसिक अपूर्णता के लिए उसने 'बुद्धि-लब्धि' (intelligence quotient) का प्रयोग प्रचलित किया; अर्थात् मानसिक आयु (mental age) का कालिक आयु (chronological age) से अनुपात, जो प्रायः १०० से गुणा कर दिया जाता है।

$$\text{बुद्धि-लब्धि (I.Q.)} = \frac{\text{मानसिक आयु (Mental age)}}{\text{कालिक आयु (Chronological age)}} \times १००$$

यह स्पष्ट है कि यह अनुपात मानसिक कालिक आयु के कुल अन्तर की अपेक्षा मन्दता को अधिक स्पष्ट दिखाता है। टरमेन ने बुद्धि-लब्धि के विभिन्न मूल्यमानों को निम्न अर्थ दिये—

१४० से अधिक	प्रतिभा ('Near' genius or genius)
१२०-१४०	अति उत्कृष्ट बुद्धि (Very superior intelligence)
११०-१२०	उत्कृष्ट बुद्धि (Superior intelligence)
९०-११०	सामान्य बुद्धि (Normal or average intelligence)
८०-९०	मन्द बुद्धि (Dullness, rarely classified as feeble-mindedness)
७०-८०	निर्बल बुद्धि (Border-line deficiency, sometimes classifiable as dullness, often as feeble-mindedness)
७० से कम	हीन बुद्धि (Definite feeble-mindedness)
५० - ७०	मूर्ख (Morons or high class imbeciles)
२० या २५-५०	मूढ़ (Imbeciles)
२० या २५ से नीचे	जड़ या बुद्धू (Idiots)

बिने और टरमेन के मानक्रमों में एक बड़ी असुविधा यह है कि उनके प्रयोग में समय अधिक लगता है। यह बात उतनी गंभीर न थी जब केवल असाधारण व्यक्तियों पर ही इनका प्रयोग देखा जाता था, परन्तु जब इनका अधिक सामान्य प्रयोग उपयोगी समझा गया, तो अधिक शीघ्र विधियों को मालूम करने की आवश्यकता समझी गयी। जब अमरीका प्रथम महायुद्ध में सम्मिलित

हुआ तो बुद्धि-परीक्षाओं का विशाल प्रयोग हुआ। उस देश के मनोवैज्ञानिकों को कार्य सौंपा गया कि वे संभावित अधिकारी, बिना कमीशन प्राप्त अधिकारी, सामान्य सैनिक और अस्वीकृत मनुष्यों को छाँटें। इसके लिए उन्होंने लिखित परीक्षाओं के कई क्रम तैयार किये जिनमें उच्च मानसिक क्रियाएँ निहित थीं, और जो यथासम्भव विशिष्ट ज्ञान से मुक्त थे। ये परीक्षाएँ एक-साथ बहुत मनुष्यों को दी गईं, और इनकी सफलता आश्चर्यजनक सिद्ध हुई। मनोवैज्ञानिकों को इस प्रकार समूह-परीक्षा (group test) में विश्वास हो गया, जिसमें प्रायः बहुत-से अनेक छोटे-छोटे प्रश्न होते हैं जो एक छोटी पुस्तक के रूप में छाप दिये जाते हैं; प्रायः प्रश्नों के साथ-साथ कई वैकल्पिक उत्तर रहते हैं जिनमें से परीक्षार्थी को शुद्ध उत्तर छाँटना पड़ता है। इंग्लेंड में छात्रवृत्ति की परीक्षाओं में, वर्तमान योग्यता तथा भविष्य में संभावित योग्यता-प्राप्ति दोनों को जाँचने के लिए, इनका प्रयोग किया गया है। कई परीक्षा-क्रम मिलते हैं, जिनमें मुख्य डा० बेलर्ड (Dr. Ballard) की 'चेलसिया' (Chelsea) व 'क्रिचटन' (Crich ton) परीक्षाएँ तथा आचार्य गाँडफ्रे एच. टॉमसन (Professor Godfrey H. Thomson) की 'नार्दम्बर-लेंड' परीक्षाएँ प्रसिद्ध हैं। इनके प्रयोग में थोड़ा ही समय में प्रारम्भिक फल अवश्य ही प्राप्त किये जा सकते हैं; परन्तु हम को चेतावनी दे दी गई है कि सुरक्षित और निश्चित विधि केवल व्यक्तिगत परीक्षाओं की है।

बिने और स्टेनफ़र्ड मानक्रमों के बारे में एक विशेष आपत्ति यह भी की जाती है कि इन परीक्षाओं के रूप में भाषा का प्राबल्य है, वे शाब्दिक प्रश्न और शाब्दिक उत्तरों से बने हैं। अमरीकी मनोवैज्ञानिकों ने परीक्षाओं का एक और क्रम अपढ़ों के लिए तैयार किया जिनको *बीटा-परीक्षाएँ* (β tests) कहते हैं। कई

क्रियामूलक परीक्षाओं का आविष्कार किया गया है जो छोटे (young) अथवा मन्द (backward) बालकों के लिए उपयुक्त हैं, जैसे कि जंगली जातियों के बच्चे, जो अपने घुमक्कड़ जीवन के कारण नियमित शिक्षण से वंचित रहते हैं।

मानसिक परीक्षा के कुछ सामान्य और सुनिश्चित परिणाम हैं। इनमें से सब से सामान्य यह है कि बुद्धिमूलक गुण कोई वस्तु है जिसकी परीक्षा की जा सकती है; यद्यपि यह निश्चित नहीं है कि यह वही वस्तु है जिसको सामान्य मनुष्य बुद्धि (intelligence) कहता है। फिर, एक व्यक्ति और दूसरे व्यक्ति में इस गुण के भेद इतने बड़े हैं कि उनकी उपेक्षा नहीं की जा सकती। फिर, बुद्धि-लब्धि (I. Q.) पाठशाला में पढ़ने से अप्रभावित रहती है; किसी मनुष्य को 'जन्मजात मूर्ख' कहना स्वस्थ मनोविज्ञान है यदि इसका आशय शोचनीय आचार-व्यवहार से है। वृद्धि के वर्षों में बुद्धि-लब्धि प्रायः लगभग एक-ही रही आती हैं; इस प्रकार यह व्यक्ति का जन्मजात लक्षण है, शिक्षक के लिए अपरिवर्तित सामग्री है, अथवा स्पीअरमेन के शब्दों में 'सर्व प्रथम शक्ति' (primordial potency) है। आदम्स ने ट्विकनहेम के एक बच्चे के विषय में कहा है कि उसकी आयु छः वर्ष और पाँच महीने थी, परन्तु उसकी मानसिक आयु ग्यारह वर्ष और सात महीने थी, जिससे उसकी बुद्धि-लब्धि १८०·५ आयी। एक वर्ष पीछे परीक्षा के फलस्वरूप उसकी बुद्धि-लब्धि १८२ निकली। इस एक अकेले उदाहरण पर हमको सहसा विश्वास न होता, यदि कई विस्तृत परीक्षणों से वही फल न प्राप्त हुआ होता। विपुल संख्या में बच्चों के बुद्धि-लब्धि निश्चित किये जा चुके हैं और अधिक अथवा न्यून अवधि के पश्चात् बड़े पैमाने पर उनके पुनः परीक्षण किये गये हैं, और दो माप के क्रमों के बीच के सानुबन्ध ·९ तक उच्च प्राप्त किये गये हैं। अतएव

यह निश्चित है कि प्रत्येक बार वही परिणाम नापा जा रहा है और किन्ही न्यून परिवर्तनों का कारण या तो नापने के उपकरण की अशुद्धि है, अथवा ऐसी घटना है जैसे थकावट और स्वास्थ्य-हानि।

एक अन्य परिणाम जो पहले देखने में और भी अधिक आश्चर्यजनक मालूम होता है यह है कि मानसिक आयु सामान्यतः सोलह वर्ष की अवस्था के पश्चात् बढ़ती हुई नहीं दिखाई पड़ती। अधिकांश प्रौढ़ इस बात पर विश्वास नही करेंगे कि वे अब उतने ही बुद्धिमान् हैं जितने वे सोलह वर्ष की अवस्था पर थे और तुरन्त कहेंगे कि ऐसा परिणाम हास्यास्पद है। बिने परीक्षाएँ केवल पन्द्रह वर्ष की आयु तक के लिए थीं, और जैसा कि हम देख चुके है, एक सामान्य प्रौढ़ की मानसिक आयु स्टेनफ़र्ड मानक्रम (Stanford scale) के अनुसार साढ़े सोलह वर्ष की है। डा० पी० बी० बेलर्ड (Dr. P. B. Ballard) ने यह विचार किया कि इसका कारण प्रौढ़ों के लिए सन्तोषजनक परीक्षाएँ बनाने में कठिनाई हो सकती है, अतएव वह इस विषय में अनुसन्धान करने लगा। यदि सोलह वर्ष की आयु के बाद कोई उन्नति होती है तो वह तार्किक शक्ति में अवश्य स्पष्ट होनी चाहिए; अतएव उसने अपनी *अनर्थक परीक्षाओं* (absurdity tests) का उपयोग किया।

उसकी मुख्य कठिनाई मनुष्यों के समानता-योग्य नमूनों का प्राप्त करना था जिन पर वह अपनी परीक्षाओं का प्रयोग कर सके। आदर्श विधि यह होती कि प्रति वर्ष लोगों के उन्हीं नमूने की परीक्षा की जाती, परन्तु चौदह वर्ष के ऊपर के अधिक मनुष्यों के साथ ऐसा करना व्यावहारिक दृष्टि से असम्भव है। चौदह वर्ष के पश्चात् केवल तीव्र बुद्धि वाले बच्चे ही पाठशाला में रहते हैं; आयु-समुदाय (age-groups) छोटे होते जाते हैं

और उनकी बुद्धिमूलक मेधा (intellectual calibre) में उन्नति की प्रवृत्ति पाई जाती है। इस प्रकार माध्यमिक पाठशालाओं के बच्चों में, जैसे-जैसे वे पाठशाला की उच्च कक्षाओं में पहुँचते हैं, बुद्धि में वृद्धि का कारण कम बुद्धि वाले बालकों का क्रमिक निष्क्रमण (gradual elimination) हो सकता है। कठिनाइयों के होते हुए भी उसने अनेक प्रकार की पाठशालाओं में २,००० छात्रों पर अपना परीक्षण किया जिनकी अवस्था ग्यारह से अठारह वर्ष की थी; और वह इस परिणाम पर पहुँचा कि महिलाओं के प्रशिक्षण महाविद्यालय (women's training college) में प्रौढ़ाओं की वही दशा थी जो माध्यमिक पाठशालाओं में सोलह व ँ की आयु की लड़कियों की थी, और माध्यमिक पाठशालाओं में पन्द्रह वर्ष की आयु के पश्चात् बहुत ही कम उन्नति होती है और सोलह वर्ष की अवस्था के पश्चात् बिल्कुल नहीं। याद रहे कि ये परिणाम उन 'नमूनों' से प्राप्त हुए थे जो बौद्धिक दृष्टि से उच्च आयु-समूहों मे समझे गये। स्पीअरमेन ने भी ज्ञात किया कि चौदह वर्ष के नो छात्रों (naval cadets) और स्नातकों से एक-सा परिणाम मिला। निम्न सारिणी से बेलेर्ट के परिणाम ज्ञात होते हैं—

आयु (Age)	११	१२	१३	१४	१५	१६	१७
औसत गुणांक Average score	१३·१	१४·४	१५·१	१७·४	१८·५	१८·६	१८·६

यह संभावना प्रतीत होती है कि औसत या सामान्य मनुष्यों की अपेक्षा उच्चसामान्य (supernormal) मनुष्य अधिक काल तक वृद्धि करते हैं और अपना उच्चतर महिष्ठ (higher maximum) बाद की आयु पर प्राप्त करते हैं; परन्तु निम्न

सामान्य (subnormal) अपना निम्न महिष्ठ (lower maximum) पूर्व आयु पर ही प्राप्त कर लेते हैं।

बुद्धि के यौन-भेदों के विषय में ज्ञात किया गया है कि, औसतन, पुरुष और स्त्री एक-से बुद्धिमान होते हैं, परन्तु पुरुषों में परिवर्तनीयता का विस्तार अधिक पाया जाता है। स्त्रियों की अपेक्षा पुरुषों में अतिसामान्य उच्च बुद्धि-लब्धियाँ पाई जाती हैं; परन्तु इसकी प्रतिपूर्ति इस तथ्य से होती है कि पुरुषों में अतिसामान्य निम्न व्यक्ति भी पाये जाते हैं।

अब तक हम यह मानते रहे हैं, जैसा कि पूर्व समय के मानसिक परीक्षक मानते थे, कि हम जानते हैं कि बुद्धि क्या है। मानसिक परीक्षण कुछ काल तक निर्विवाद चलता रहा, जब किसी ने एक अप्रिय प्रश्न पूछ डाला, "बुद्धि क्या है?" अधिकांश मनुष्यों ने स्पीअरमेन के राजकीय सिद्धान्त की सत्यता को मान लिया जिसके अनुसार समस्त मानसिक क्रियाओं में 'एक महान् शक्ति का एकाधिपत्य राज्य' है, और वह है बुद्धि। मानसिक परीक्षाओं द्वारा अवश्य ही यह आभास होने लगा कि बुद्धि एक सर्वव्यापी मानसिक शक्ति है जिसकी परिभाषा हम इस प्रकार कर सकते हैं—'नवीन परिस्थितियों के प्रति चेतन समयोजन' (conscious adaptation to new situations), अथवा 'जन्मजात सर्वोन्मुखी मानसिक योग्यता' (inborn all-round mental efficiency)। यदि यह मत शुद्ध हो तो हम तर्क कर सकते हैं कि यदि कोई मनुष्य एक बौद्धिक कार्य भली भाँति कर सकता है तो वह अन्य कार्यों को उतनी ही उत्तमत्ता से करेगा। उच्च जनपद सेवा (civil service) के लिए उम्मीदवारों को चुनने की प्रथा में यही धारणा है कि वे गणित, प्राचीन भाषाएँ अथवा दर्शन-शास्त्र में योग्यता के बल पर चुन लिये जाते हैं। ऐसा प्रतीत होता है कि डाक्टर

जान्सटन (Dr. Johnston) का विश्वास ऐसे सिद्धान्त मे था, क्योंकि उसका कथन था कि न्यूटन (Newton) एक महाकाव्य लिख लेता यदि वह अपने को गणित की अपेक्षा कविता लिखने में लगाता। जब एक आलोचक ने यह आपत्ति की कि एक मनुष्य में दूसरे की अपेक्षा अधिक उत्तम संकल्प अथवा अधिक श्रेष्ठ कल्पना हो सकती है, तो इसका उत्तर उसने इस प्रकार दिया, "नही, महाशय, बात यह है कि एक मनुष्य की अपेक्षा दूसरे में *अधिक मन* है। वह उसका निर्देशन भिन्न प्रकार से कर सकता है; वह दैवयोग से एक अथवा दूसरे अध्ययन में बढ़ने की इच्छा कर सकता है। महाशय, जिस मनुष्य में ओज है वह पूर्व की ओर चल सकता है और ठीक उसी प्रकार पश्चिम की ओर भी।"[1]

परन्तु आजकल मानसिक माप के क्षेत्र मे काम करने वालों को आलोचना की प्रवृत्ति का सामना करना पड़ता है जो कभी-कभी विरोध का रूप धारण कर लेती है। संशयवान मनुष्य बुद्धि के अस्तित्व पर ही सन्देह करते है और कहते है कि कोई भी विशेषज्ञ नही बता सकता कि यह क्या वस्तु है। कई अवसरो पर इस प्रश्न को हल करने के लिए प्रसिद्ध मनोवैज्ञानिक एकत्र हो चुके है; अँग्रेज़ मनोवैज्ञानिको की एक गोष्ठी सन् १९१० ई० में हुई थी, अमरीकियो की सन् १९२१ मे, और अन्तर्राष्ट्रीय परिषद् सन् १९२३ में हुई थी। परन्तु विषय को तय करने और सामान्य जनता का मिलकर सामना करने के प्रयत्न विफल रहे; वाद-विवादों द्वारा मनोवैज्ञानिकों में घोर मतभेद ज्ञात हुआ। वे नहीं निश्चित कर सके कि बुद्धि में स्मृति, या कल्पना, या भाषा, या अवधान, या कारक-योग्यता (motor ability), या संवेदना

1 Boswell *The Journal of a Tour to the Hebrides;* quoted in *Psychological Tests of Educable Capacity*, pp. 14-15.

(sensation) सम्मिलित हैं , अथवा नहीं। वास्तव में, जैसा आचार्य स्पीअरमेन ने कहा है, यह ज्ञात किया गया है कि 'बुद्धि' (intelligence) ऐसा शब्द है जिसके इतने अर्थ हैं कि अब उसका कोई अर्थ नहीं है। "शब्द बुद्धिमान मनुष्यों के लिए खिड़कियाँ हैं, परन्तु वे मूर्खों की मुद्रा हैं।" यदि यह तर्क दिया जाय कि किसी वस्तु को नापने से पहले हमको यह जानने की आवश्यकता नहीं है कि वह क्या है, जैसा कि विद्युंत् की दशा में, तो उसका उत्तर स्पीअरमेन इस प्रकार देता है कि हमको जानना आवश्यक है कि किस द्युवाहमान (galvanometer) के साथ विद्युत् धारा चक्र में है, और हम नहीं जानते कि स्मृति, उदाहरणार्थ, बुद्धि के साथ भ्रमण करती है। फिर, यह भी कोई तर्क नहीं है कि बुद्धि-परीक्षा काम करती है, क्योंकि यह अध्यापकों तथा अन्य मनुष्यों के निर्णय के साथ काम करती हुई पायी गई है। यदि राजकीय सिद्धान्त को सत्य भी मान लिया जाय तो तथ्य यह है कि व्यवहार में बुद्धि को नापने के लिए हम उसका विभाजन करते हैं। अतएव, प्रारम्भिक उत्साह के होते हुए भी राजकीय सिद्धान्त (monarchic doctrine) ठीक विचार नहीं प्रकट करता कि बुद्धि क्या है, और मानसिक परीक्षा के लिए एक बहुत अनिश्चित सैद्धान्तिक आधार बतलाता है।

परन्तु सब मनोवैज्ञानिक राजकीय मत से सहमत नही है। 'अल्पजन सिद्धान्त' (oligarchic doctrine), जैसा कि उसे स्पीअरमेन ने पुकारा है, सिखाता है कि हमारी मानसिक कार्यशक्ति केवल एक ही नहीं वरन् कई बड़ी शक्तियों का समूह है जिसमें प्रत्येक के पृथक् माप की आवश्यकता है; इसका परिणाम है व्यक्ति का एक प्रकार का 'मानसिक पार्श्वचित्र' (mental profile)। जैसा हम देख चुके हैं बिने को बुद्धि की तीन पृथक्

व्यंजनाएँ मिलीं।[1] अल्पजन सिद्धान्त पुराने 'शक्ति-मनोविज्ञान' में घनीभूत हुआ, जो प्रयोगकर्त्ताओं के कार्य के परिणामस्वरूप निरर्थक हो गया। शक्तियों के विरुद्ध सामान्य आपत्ति—कि वे मन की एकता का विरोध करती है—आवश्यक नही है कि वह मान्य हो, यदि उनको वस्तुत्व दे दिया जाय तो बात अलग है। स्पीअरमैन[2] के कथनानुसार वास्तव में, "शक्तियाँ प्रत्येक संग्राम (battle) में हारती हैं, परन्तु प्रत्येक युद्ध (war) में जीतती हैं।" सिद्धान्त "तनिक सी आलोचना के सामने भी झुक जायगा; परन्तु प्रबलतम झंझावात भी उसे नहीं तोड़ सकता।" जब शक्तियों का एक समूह खेल की 'नौपिनों' (ninepins) की भाँति गिर जाता है, तो दूसरा समूह तुरन्त ही छत्रा (mushroom) की भाँति उग आता हैं। परन्तु परम्परागत शक्तियों का अस्तितत्व अत्यन्त संदिग्ध है, जैसे निर्णयन, अवधान और स्मृति; उदाहरण के लिए, निर्णयन की विभिन्न परीक्षाएँ एक-दूसरे से उच्च्च अनुबन्ध नहीं रखतीं। अल्पजन सिद्धान्त की कोई निश्चित नींव नहीं प्रतीत होती कि योग्यता में कतिपय बड़ी शक्तियाँ ही सम्मिलित हैं, जिनमें से प्रत्येक स्वयं कार्य करती है और केवल एक ही मूल्यमान से नापी जा सकती है।

क्योंकि 'राजकीय' बुद्धि को नापने के हेतु उसे कई भागों में विभाजित करना पड़ता है, कुछ लोग अल्पजन के सिद्धान्त से भी आगे बढ़ गये हैं और उनका मत है कि केवल अराजकता (anarchy) है। अर्थात्, समस्त योग्यताएं एक-दूसरे से स्वतन्त्र हैं, और एक के व्यापार का दूसरे के व्यापार के सम्बन्ध में कोई भी फल नहीं निकाला जा सकता। किसी मनुष्य की 'सामान्य बुद्धि' (general intelligence) उसकी अनेक

---

1 देखिए पृष्ठ २९६।

2 *The Abilities of Man*, p. 38.

योग्यताओं का माध्य है, और वह निदर्शन (sampling) द्वारा नापा जाता है। अराजकता सिद्धान्त का समर्थन मानसिक परीक्षण के वर्तमान व्यवहार में पाया जाता है, और यह सामान्य रूप से मान लिया गया है कि भिन्न-भिन्न रूप की विविध परीक्षाओं की आवश्यकता है। परन्तु ऐसे सिद्धान्त को मानसिक माप का सैद्धान्तिक आधार मानना स्पष्टतया असन्तोषजनक है। हम किस प्रकार तय करें कि किन योग्यताओं को निदर्शन या नमूने (sample) में सम्मिलित किया जाय ? क्या स्मृति को सम्मिलित करना चाहिए ? अथवा गतक योग्यता (motor ability) को ? फिर, क्या निदर्शन के सभी अवयव एक-से महत्त्वपूर्ण हैं ? क्योंकि यदि नहीं, तो माध्य लेना एक उचित क्रिया नहीं हो सकती। क्या यह हमको निश्चय है कि हमारे निदर्शन में कोई योग्यताएँ परस्परव्यापक अथवा दोहरी तो नहीं हैं ? क्योंकि यदि ऐसा है, तो माध्य (average) में इनका अंश बहुत अधिक हो जायगा। फिर, यदि योग्यताएँ यथार्थ में स्वतन्त्र हैं तो एक माध्य (average) का अर्थ कुछ नहीं है। वे संख्याएँ जिनका माध्य लिया जाता है उसी वस्तु के विभिन्न चल (varients) होनी चाहिएँ। हम इसी प्रकार मनुष्य की लम्बाई और उसकी तोल का भी माध्य लेने लगेंगे। मानसिक योग्यताओं के निदर्शन का कोई ज्ञात सिद्धान्त नहीं है। परन्तु इस सिद्धान्त को अब कोई नहीं मानता कि योग्यताएँ नितान्त स्वतन्त्र हैं।

कई वर्ष तक अनेक अनुसन्धान करने के बाद स्वयं आचार्य स्पीअरमेन ने अपना दो खण्डों का सिद्धान्त प्रतिपादित किया है। उसने दिखाया है कि यदि मानसिक योग्यताओं के विभिन्न परीक्षणों के परिणाम एक-दूसरे से अनुबन्धित हों, तो सम्बन्धित गुणकों (correlation coefficients) में एक अद्भुत

सम्बन्ध रहता है। यदि क, ख, प और फ (a, b, p, q) चार योग्यताओं के सूचक हैं, और ^{र}कप, ^{र}खफ, ^{र}कफ, ^{र}खप (^{r}ap, ^{r}bq, ^{r}aq, ^{r}bq) प्रत्ययों द्वारा प्रदर्शित भिन्न जोड़ों में सह सम्बन्ध के गुणक हैं तो—

$$^{र}कप \times {}^{र}खफ - {}^{र}कफ \times {}^{र}खप = 0$$

$$({}^{r}ap \times {}^{r}bq - {}^{r}aq \times {}^{r}bp = 0)$$

इस सम्बन्ध को वह चतुष्टय समीकार (tetrad equation) कहता है, बाँयी ओर जो संख्या है वह चतुष्टय अन्तर है; और यह स्मरण रखना आवश्यक है कि समीकार की सत्यता सिद्धान्त पर नहीं वरन् प्रयोगों द्वारा निरीक्षित तथ्यों पर निर्भर है। फिर, जब चतुष्टय समीकार का समाधान हो जाता है, जैसा प्रायः हुआ ही करता है, यह गणितमूलक है कि प्रत्येक योग्यता के प्रत्येक व्यक्तिगत माप को हम दो भागों में बाँट सकते हैं—कि (१) ज (*g*) सामान्य खण्ड (the general factor) जो किसी व्यक्ति की सम्बन्धित योग्यताओं के विषय में वही रहता है, और (२) व (*s*) विशेष खण्ड (a specific factor), जो उसी व्यक्ति में एक योग्यता से दूसरी योग्यता में विभिन्न रहता है। अर्थात् केन्द्रीय खण्ड ज (*g*) एक व्यक्ति और दूसरे व्यक्ति में भिन्न होता है, परन्तु एक ही व्यक्ति में उसके समस्त गुणांकों (scores) में स्थिर रहता है; जब कि विशेष खण्ड व (*s*) एक व्यक्ति और दूसरे व्यक्ति में भिन्न-भिन्न रहता है और किसी एक व्यक्ति में एक परीक्षा और दूसरी परीक्षा में विभिन्न होता है। इस प्रकार एक परीक्षा में एक मनुष्य के गुणांक में दो भाग होते हैं, एक उसके 'सामान्य खण्ड' के अनुपात में और दूसरा उस विशेष योग्यता में 'विशेष खण्ड' के अनुपात में। बीजगणित में हम इसे इस प्रकार प्रदर्शित कर सकते हैं—

$$^{म}कय = {}^{र}कज \cdot {}^{ज}सय + {}^{र}कव \cdot {}^{व}कय$$

जहाँ $^{म}कय$ = परीक्षा क में य मनुष्य का गुणांक (score), $^{ज}य$ = य मनुष्य की सामान्य योग्यता, $^{व}कय$ = परीक्षा क में य मनुष्य की योग्यता और $^{र}कज$, $^{र}कव$ स्थिराङ्क (constant) है जो य से स्वतन्त्र है।

[$M_{ax} = r_{ag}\, g_x + r_{as}\, s_{ax}$

where M_{ax} = score of person x in test a, g_x = general ability of person x, s_{ax} = special ability of person x in test a, and r_{ag}, r_{as} are constants, independent of x.]

इस प्रकार कोई मानसिक परीक्षा ज (g) और एक व (s) को नापती है, कुछ ज (g) को विशेष रूप से नापती है और अन्य व (s) को। उदाहरण के लिए, धारण-शक्ति (retentivity) की परीक्षाएँ ज (g) से आश्चर्यजनक रीति से स्वतन्त्र मिलती हैं। इससे यह परिणाम निकलता है कि एक दिशा में मनुष्य की योग्यता से दूसरी दिशा में उनकी योग्यता का कुछ अनुमान लगाया जा सकता है, और इसका परिणाम ज (g) पर निर्भर है कि वह दोनो में कितना संयुक्त है। ज (g) विस्तरण की विधि से प्रचलित परीक्षण में मोटे रूप से मालूम होता है, क्योंकि परीक्षाएँ परस्पर उच्च सानुबन्ध के कारण चुनी जाती है।

प्रश्न उठता है कि, क्या चतुष्ठय समीकार का समाधान सदा हो जाता है जो इस सिद्धान्त का आधार है? उत्तर है "नही।" निदर्शनों (sampling) के संकलन में भूलें होना अवश्यम्भावी है, जो गुणकों के सम्बन्ध के अशुद्ध मूल्य दे देती हैं, परन्तु चतुष्ठय

अन्तर पर इसके प्रभाव को ज्ञात करने के साधन मालूम कर लिये गये हैं। कभी-कभी जब भूलो के निदर्शन के लिए समुचित मुजरा (allowance) कर लिया जाता है, तो चतुष्ठय अन्तर शून्य नहीं होता; इसका कारण यह है कि सभी विशेष खण्ड स्वतन्त्र नहीं हैं, वरन् कभी-कभी उनका एक-दूसरे पर अतिछादन (overlapping) हो जाता है। उदाहरण के लिए, संस्कृत व्याकरण और संस्कृत अनुवाद में कुछ योग्यताएँ एक-सी होती हैं। चतुष्ठय समीकरण अवश्य ही यह जानने का एक साधन बताता है कि कार्यशक्तियाँ (abilities) स्वतन्त्र हैं। अतिछादन की स्थितियाँ आ ही जाती हैं, और इसीलिए स्पीअरमेन ने समूह-खण्डों (group factors) का आविष्कार किया है जो दी हुई योग्यताओं के समूहों में एक से अधिक बार आती है परन्तु हर एक बार नही, और जिनसे योग्यताओं के मध्य परम्पर सम्बन्ध प्रदर्शित होता है।

स्पीअरमेन ने अपने दो खण्डों के सिद्धान्त को "संकलित" (eclectic) कहा है क्योंकि उसमें उपर्युक्त तीनों सिद्धान्तों के सत्य सम्मिलित है। राजकीय मत ठीक है यदि हम ज (g) को वैधानिक शासक मानों, राष्ट्र मे एक महान् तत्त्व समझें न कि केवल एक मात्र तत्त्व। अराजकता सिद्धान्त विशेष खण्डों के साथ चलता है, क्योंकि वे स्वतन्त्र, स्वाधीन, व्यक्तिगत नागरिकों के समान हैं। अल्पजन का सिद्धान्त इस सीमा तक ठीक है कि बड़े 'समूह' खण्डों में 'शक्तियां' व्यक्त होती हैं, सार्वत्रिक खण्डों से पृथक और विशिष्ट खण्डों मे स्पष्ट रूप से पृथक।

ज (g) क्या है ? यह निश्चयता कि वह है, उसके स्वभाव के बिषय में कुछ नहीं बताती। वर्तमान भौतिकीविद कहते है कि वह उस यथार्थता के विषय में कुछ नही कह सकते जो उनके

गणितमूलक चिह्नों के पीछे है। इसी प्रकार ज (g) एक गणितीय संख्या है जिसे स्पीअरमेन ने सदा 'बुद्धि' से भिन्न माना है, बुद्धि जैसा कि उसे सामान्य मनुष्य समझता है। यह अवश्य ही निश्चित है कि सब प्रकार के बौद्धिक कार्यों का इससे विशेष सम्बन्ध है। स्पीअरमेन का मत है कि इसे मानसिक चेतना-शक्ति (mental energy) ही समझना चाहिए, जो वास्तव में एक अन्तिम परिकल्पना है; और यह "एक शक्ति है जो एक मानसिक क्रिया से दूसरी भिन्न मानसिक क्रिया के लिए स्थानान्तरित होने की क्षमता रखती है।"

इस प्रकार, ऐसा प्रतीत होता है कि मानसिक परीक्षाएँ एक आवश्यक बुद्धिमूलक तत्त्व को नापती हैं। क्या इस परिणाम का यह आशय है कि किसी व्यक्ति की शक्यता (potentiality) का निदान करने में वे अचूक हैं ? अवश्य ही, नहीं ! बुद्धि के किसी निर्धारण में चरित्र और सदाचार छोड़ दिये जाते है; और यह नहीं कहा जा सकता है कि मन को भावनामूलक-चेष्टामूलक (affective-conative) पक्ष ने अब तक प्रयोगात्मक मनोविज्ञान की विधियों का प्रशासन माना है। फिर भी, मनोवैज्ञानिक स्वभाव और चेष्टा के परीक्षण के कार्य में जुटे हुए हैं, और उनके प्रयत्नों को कुछ सफलता मिल रही है।

एक विधि जो काम में लाई जा रही है वह जंग (Jung) द्वारा आविष्कृत शब्द-सहयोजन (word-associations) की है और यह अब मनोविश्लेषण पद्धति का महत्त्वपूर्ण भाग है। घटक को उत्तेजक-शब्द दिये जाते हैं और उससे कहा जाता है कि वह उस शब्द को बताये जो उसे सर्वप्रथम याद पड़ता है; प्रतिक्रिया का समय विराम-घड़ी (stop-watch) द्वारा देखा जाता है। जब प्रतिक्रिया का समय असामान्य रूप से अधिक लम्बा होता है अथवा प्रतिक्रिया असामान्य होती है, तो मनोविश्लेषणज्ञ

को निरोधित भाव-ग्रन्थि (repressed complex) की उपस्थिति का भ्रम होता है। परन्तु यह विधि मानसिक अंतर्वस्तु (mental content) और व्यक्ति की विभिन्न रुचियों की खोज करने में भी लाभप्रद होती है। दूसरी विधि मनो-विद्युत् प्रतिक्षेप (psycho-galvanic reflex) है, जिसे मूलर (Muller) नामक स्विस इंजीनियर ने अकस्मात् ज्ञात किया था कि जब कोई मनुष्य संवेगात्मक दशा में होता है, तो शरीर द्वारा विद्युत् वाह को जो प्रतिरोध मिलता है वह कुछ समय के लिए निम्न हो जाता है; प्रतिरोध का यह न्यूनीकरण भावना की प्रबलता के अनुपात में प्रतीत होता है। संवेगात्मक ग्रहण-शीलता के परीक्षण के लिए मनोवैज्ञानिकों ने इस विधि को सम्भाव्य माना है और शब्द-सहयोजन रीति के साथ-साथ, अथवा अकेले, इसका प्रयोग सफलतापूर्वक किया है।

चरित्र और स्वभाव का निर्धारण प्रायः रिपोर्टों और भेंटों (interviews साक्षातकार) द्वारा किया जाता है। परन्तु डा० ई० एच० मेगसन (Dr E. H. Magson)[1] ने सिद्ध किया है कि "विनोदप्रियता, प्रसन्नता, शीघ्रता और गम्भीरता के भेदिक अनुमानों और साक्षात् भेंटों में बहुत कम अनुबन्ध है;" और यह कि "भेंट केवल *'व्यक्तिगत गुणों'* के माप करने का एक साधन कहा जा सकता है, अर्थात् वह निर्णायिकों को अवसर प्रदान करता है कि वे ज्ञात कर सकें कि व्यक्ति में अन्य मनुष्यों को प्रभावित करने की कितनी शक्ति है।"

डा० ई० वेब (Dr E. Webb)[2] ने प्रशिक्षण विद्यालय (ट्रेनिंग कालेज) के छात्रों में लगभग अड़तालीस मानसिक

1 *How we Judge Intelligence* (*Brit. Jour. Psych.*, Monograph Supplement. No. 9)

2 *Character and Intelligence* (*Brit. Jour. Psych* , Monograph Supplement, No. 3).

गुणों के आगणन (estimates) प्राप्त किये जिसके निर्णायक कॉलिज के नायक (प्रिफेक्ट prefects) थे। अपनी सामग्री के विश्लेषण द्वारा उसने,एक सामान्य खंड का अस्तित्व ज्ञात किया जो ज (*g*) से मुक्त था और जिसका सम्बन्ध प्रयोजन और चेष्टा-शक्ति से था। इसका नाम उसने ब (अँग्रेजी में *w*) या "प्रेरकों की स्थिरता" रखा। बाद में डा० मैक्सवैल गारनेट (Dr Maxwell Garnett) ने उन्हीं सामग्रियों का प्रयोग करके तीसरा खण्ड च अर्थात् चतुराई (अँग्रेजी में *c* या cleverness) ज्ञात किया जो विनोदप्रियता और मौलिकता के अति निकट थी। यह स्पष्ट है कि दूरतर स्वतन्त्र चलों (variables) के रूप में ब (*w*) और च (*c*) की कल्पना किसी व्यक्ति की शक्यता के वर्णन करने में हमारी शक्ति को बढ़ाते हैं। प्रतिभासम्पन्न व्यक्ति में उच्च च (*c*) और उच्च ज (*g*) दोनों ही होने चाहिएँ, और जब तक उसमें उच्च ब (*w*) भी नहीं है वह अनवस्थित प्रभा के अतिरिक्त और अधिक न प्राप्त कर सकेगा। उच्च ब (*w*) सामान्य अथवा न्यून ज (*g*) और न्यून च (*c*) के साथ एक सामान्य बुद्धि का परिश्रमी मनुष्य होगा; उच्च ज (*g*) और ब: न्यून च (*c*) के साथ ठोस बौद्धिक कार्य करने वाला होता है जो 'चमकता' नहीं है। हम सभी में ये तीनों भाग भिन्न-भिन्न परिमाण में देखे जाते हैं।

मानसिक माप के विज्ञान ने इतनी काफी उन्नति करली है कि हम कुछ शैक्षिक उपसाध्यों पर विश्वासपूर्वक तुरन्त पहुँच सकते हैं। सर्व प्रथम शिक्षक को बुद्धि-लब्धि की स्थिरता को मान लेना चाहिए, और स्वीकार कर लेना चाहिए कि उसमें उसे बदलने की शक्ति नहीं है। परन्तु यद्यपि वह अपने छात्रों में बुद्धि नहीं उत्पन्न कर सकता है, जैसा कि उसके आशावादी पूर्व मनुष्यों ने करने का प्रयत्न किया था, उसको दैवाधीन वृत्ति अङ्गीकार नहीं करनी

चाहिए और यह न विचार कर लेना चाहिए कि उसका कार्य व्यर्थ है। क्यों कि स्पष्ट है कि बुद्धि के प्रभावयुक्त अभ्यास के लिए द्रव्य और अवसरों का संचय, और अपनी जन्मजात बौद्धिक दाय (endowment) का सबसे अधिक प्रयोग करने में बच्चे का प्रशिक्षण, किसी योग्यतम और परिश्रमी अध्यापक की चेतना-शक्ति (energies) को यथेष्ट क्षेत्र प्रदान करेगा। शिक्षक को यह भी स्मरण रखना है कि ज (*g*) उसके छात्र की समस्त दाय (endowment) नहीं है; और यह उक्ति कि "जहाँ चाह है वहाँ राह है" कुछ सीमा तक बौद्धिक निष्पत्ति (intellectual achievement) पर लागू है। केवल सामान्य ज (*g*) सहित कोई युवक अथवा युवती सफलता प्राप्त कर सकता है या कर सकती है यदि वह बौद्धिक कार्य करने के लिए सदा तत्पर रहे। संक्षेप में ज (*g*) का तथ्य शिक्षा के क्षेत्र में पूर्ण निर्णायक नहीं है। फिर भी, इसके स्वीकार करने के पश्चात्, ऐसा प्रतीत होता है कि बौद्धिक जीवन (intellectual careers) सब के लिए सम्भव नहीं है; और अनेक मनुष्य जो उनका अनुसरण करते हैं उसके लिए बहुत बड़ा मूल्य चुका रहे हैं, और वे कम बौद्धिक व्यवसायों में अधिक सुखी और अधिक उपयोगी जीवन व्यतीत कर सकते हैं।

हम यह भी देख चुके हैं बौद्धिक योग्यता में व्यक्तिगत भेद इतने बड़े हैं कि उनकी उपेक्षा नही की जा सकती। पाठशाला के सामान्य कार्य पर इसका महत्त्वपूर्ण प्रभाव है, जहाँ हमको यथेष्ट संख्या में बालकों को एक-साथ पढ़ाना पड़ता है। मानसिक परीक्षाओं द्वारा हम को इस विषय के परीक्षण करने के विश्वसनीय साधन तो प्राप्त होते ही हैं कि मंदता (backwardness) परिस्थितियों के कारण हैं अथवा जन्मजात दोषों के कारण, और पिछली दशा में हम यह भी ज्ञात कर लेते हैं कि दोष इतना

बड़ा तो नहीं है कि उसे एक विशेष पाठशाला में स्थानान्तरित करने की आवश्यकता हो; परन्तु वे हमको यह भी निश्चित रूप से बताते है कि हमारे 'साधारण' (normal) छात्र भी बौद्धिक दाय मे एक-दूसरे से भिन्न होते हैं, और उन से यह आशा करना भूल है कि वे एक गति से साथ-साथ आगे बढ़ेंगे अथवा सब उतना ही कार्य कर लेंगे। यह भी जानना उतना ही महत्त्वपूर्ण है कि हमारे शिष्यों में से कितनों की उच्च बुद्धि-लब्धि है और कितनों की कम। *कक्षा में 'औसत बालक'* (average boy) *को पढ़ाने का पुराना विचार समाप्त हो जाना चाहिए;* ऐसा कोई बालक है ही नही, और यदि कोई है भी तो गति कुछ के लिए बहुत अधिक होगी और दूसरों के लिए बहुत धीमी। इस कठिनाई का समाधान बहुत से परिमाण में व्यक्तिगत कार्य कराना ही है। यद्यपि कुछ कक्षा-पाठ आवश्यक और वांछनीय है, हम इस धारणा पर आगे नही बढ़ सकते कि कक्षा पूरे समय एक सामूहिक इकाई के रूप में कार्य कर सकती हैं। परन्तु सभी जगह उत्साही अध्यापक, बौद्धिक दाय की परिवर्तनीयता को मानते हुए, अपने कार्य को उसी के अनुरूप व्यवस्थित कर रहे है।

फिर बुद्धि-लब्धि (I. Q.) भेदीकरण का एक मान्य आधार होना चाहिए जब कि बालक प्रारम्भिक शिक्षा ११+वर्ष की आयु पर समाप्त कर देते है। ग्रामर पाठशालाओं (Grammar Schools) और विशिष्ट आधुनिक पाठशालाओं के लिए छात्र वे ही चुने जाने चाहिएँ जो वहाँ की शिक्षा के प्रकार से लाभान्वित हो सकें और इस योग्यता में प्रमुख तत्त्व होना चाहिए उनकी बौद्धिक दाय (intellectual endowment)। अनेक शैक्षिक अधिकारियों ने इस तथ्य को आभास करके अपनी छात्र-वृत्ति की परीक्षा मे एक मानसिक परीक्षा सम्मिलित करली है, अथवा उसी परीक्षा को मानसिक परीक्षा का रूप दे दिया है।

फिर भी बौद्धिक उपयुक्तता का मापदंड केवल छात्रवृत्ति के बालकों पर ही नहीं लागू होना चाहिए। एक दिन ऐसा आ सकता है जब केवल शुल्क देने की क्षमता के कारण, जो वास्तविक व्यय का छोटा-सा अंश है, कोई बच्चा ग्रामर स्कूल में प्रवेश न हो सके।

उत्तर-प्रारम्भिक पाठशालाओं (post-primary schools) को विशेष योग्यताओं के अस्तित्व को अवश्य स्वीकार करना चाहिए। अध्यापकों में यह प्रचलित विश्वास कि कुछ छात्रों में स्वाभाविक भाषामूलक योग्यता है और दूसरों में गणितमूलक, वास्तव में ठीक ही है; और यद्यपि समय से पहले अर्थात् असामयिक विशेषीकरण (premature specialization) को अनुत्साहित करना चाहिए, परन्तु ऐसे छात्रों को अवश्यमेव अपनी प्रवृत्तियों की ओर चलने का अवसर देना चाहिए जहाँ तक कि वह स्वस्थ सामान्य शिक्षण प्राप्त करने में संगत है। विशेषकर आधुनिक पाठशालाओं को बौद्धिक दिशाओं के अतिरिक्त अन्य दिशाओं में विशेष योग्यताओं के अस्तित्व को स्वीकार करना चाहिए। ऐसी योग्यताओं को खोजने का कार्य और अपने छात्रों को प्रोत्साहित करने का कार्य उनका है जिससे कि उनमें उन्नति करने में वे स्वानुभूति (self-relization) प्राप्त कर सकें। यह केवल निराशा ही नहीं रहनी चाहिए कि भविष्य में नवयुवक, पाठशाला जीवन में अपनी स्थायी रुचियों को मालूम करके, उन रुचियों का अनुकरण ऐसे व्यवसायों में कर सकेंगे जिससे कि वे वहाँ अनुपयुक्त न सिद्ध हों।

विशेष अध्ययन के लिए उपयोगी पुस्तकें

Board of Education : *Psychological Tests of Educable Capacity.*

Ballard : Mental Tests; *Group Tests of Intelligence; The New Examiner;* "The Limit of the Growth of Intelligence." (*Br. Jour. Psycho.*, Ottober (1921).

Adams : *Modern Developments in Educational Practice*, chapters iii and iv.

Binet : *Les Idees modernes sur les enfants.*

Spearman : *The Abilities of Man.*

Terman : *The Measursment of Intelligence.*

Burt : *Mental and Scholastic Tests.*

Sandiford : *Educational Psychology*, chapter viii.

Nunn : Education : *its Data ond First Principals*, chapter ix.

Yoakum and Yerkes : *Mental Tests in the American Army.*

Rusk : *Experimental Education*, chapter xii.

: १४ :

शिक्षा में प्रकार

(The Type in Education)

महारानी एलिज़बेथ के निजी अध्यापक रॉजर एशेम (Roger Ascham) ने बड़े सुन्दर शब्दों में हमारा ध्यान शिक्षा में प्रकार की ओर आकर्षित किया है। प्रयोगात्मक मनोविज्ञान के काल से बहुत पहले उसने अपने शिक्षण के अनुभव द्वारा दो मोटे प्रकार के छात्र बताये। उसकी दृष्टि में कोई 'औसत छात्र' अथवा 'आदर्श छात्र' नहीं है। वास्तव में इन शब्दों का प्रयोग लोकप्रिय शिक्षा की प्रथम अर्द्ध-शताब्दी में विशेष रूप से किया गया, और बहुसंख्यक बालकों के एक-साथ पढ़ाने की समस्या का यह प्रथम अस्थायी समाधान है। हम रेचक (choleric), उत्साही (sanguine), निराशापूर्ण (melancholic) और मंद (phlegmatic) मध्यकालीन विचारकों के वर्गों के विषय में भी परिचय प्राप्त कर चुके हैं, जो अन्य सभी मनुष्यों की भाँति प्रबल इच्छुक थे कि उनके अनुगामी इन्हीं नामों की श्रेणी में रखे जायँ। आधुनिक मनोविज्ञान को इस विषय में क्या कहना है ?

आज के मनोवैज्ञानिक अवश्य 'सामान्य या औसत छात्र' में विश्वास नहीं करते, क्योंकि समस्त परीक्षणों द्वारा सिद्ध हो चुका है कि व्यक्तियों में आश्चर्यजनक भेद हैं। परन्तु फिर भी बहुतेरों का दावा है कि उन्होंने एशेम की भाँति प्रकार (types) ज्ञात कर लिए हैं। वे कहते हैं कि व्यक्तिगत भेदों का

समूहों में वर्गीकरण किया जा सकता है जो एक-दूसरे से इतने भिन्न हैं कि हम उनको प्रकारों में स्थान दे सकते हैं। 'बहुल प्रकारों' (multiple types) का यह सिद्धान्त वास्तव में पिछले अध्याय में वर्णित अल्पजन सिद्धान्त (oligarchic doctrine) का एक रूप है, परन्तु यह बौद्धिक योग्यता मात्र के क्षेत्र से परे भी फैला हुआ है। अब हम कुछ कथित प्रकारों पर विचार करेंगे।

अवधान के अध्ययन में हमने *तीव्र* (intensive) और *विन्यासमूलक* (distrrbutive) प्रकार, *स्थिरीकरण* (fixating) और *चलायमान* (fluctuating), *स्थैतिक* (static) और *चल* (dynamic) देखे थे। स्मृति में *निश्चित धारक* (sure retainer) और *शीघ्र स्मृति धारक* (quick memorizer) होते हैं; इस क्षेत्र में भी *अध्यवसायी* (perseverator)—वह मनुष्य जिसके अनुभव चेतनता में "अविलम्ब आ जाते हैं"—और *अनाध्यवसायी* (non-perseverator) प्रकार होते हैं। कहा जाता है कि उपर्युक्त प्रकारों में से कुछ एक 'मानस-शक्ति' (faculty) के क्षेत्र से परे रहे आते हैं; इस प्रकार 'स्थैतिक' (static) मनुष्य होते हैं जो किसी अभिप्राय के पीछे हाथ धो कर पड़ जाते हैं, और 'चल' (dynamic) व्यक्ति होते हैं जिनको किसी कार्य के पूर्ण करने के लिए सदा तिकतिकाने की आवश्यकता पड़ती है। यद्यपि वास्तविक नाम पूरा अर्थ नहीं व्यक्त करते, परन्तु उनमें निहित भेद स्पष्ट है। इसी प्रकार तीव्र (intensive) और विन्यासमूलक (distributive) प्रकार में भेद पुनः 'गहन-संकीर्ण' (deep-narrow) और 'अल्प-विस्तीर्ण' (shallow-broad) प्रकार के मनुष्यों में दृष्टिगोचर होते हैं। स्टर्न (Stern) ने प्रमाण (testimony) पर एक रोचक खोज द्वारा, 'वस्तुगत' (objective) और

'आत्मगत' (subjective) प्रकारों को ज्ञात किया; पहले प्रकार के तो यथार्थ (matter-of-fact) किसी बात का वर्णन करते हैं और वस्तुगत अनुराग उनका विशेष लक्षण होता है, और पिछलों के वर्णन विषय के वर्णन की अपेक्षा अपने बारे में अधिक कहते हैं। फिर, म्यूमेन (Meumann) और स्टर्न (Stern) मनुष्यों में 'विश्लेषक' (analytic) और संश्लेषक (synthetic) प्रकार के भेद करते हैं—विश्लेषक तो अवयवों को पृथक्-पृथक् वर्णन करते हैं, वे भिन्नता की रेखाओं को स्पष्ट देखते हैं और भूलों का संशोधन करते हैं; परन्तु संश्लेषक भिन्न-भिन्न वस्तुओं को एक साथ एकत्र करते हैं, 'भिन्नता में एकता' उत्पन्न करते हैं और वास्तविक विवरणों को छोड़ देते हैं। स्टर्न ने 'आत्म-प्रेरित' (spontaneous) और 'केवल प्रतिकारक' (merely reactive) दो भेद भी बताये हैं—जो मानसिक कार्य करने में अपने आप जुट जाते हैं और वे जिनको बाह्य उत्तेजना की आवश्यकता होती है।

हमको कथित प्रकार के मनुष्यों के अधिक उदाहरण देने की आवश्यकता नहीं है—उनका कोई अन्त नहीं है। प्रतिमा-सृष्टि (imagery) के भेद इतने महत्त्वपूर्ण हैं कि उनका संक्षिप्त वर्णन करना यहाँ आवश्यक है। एक तो वे हैं जिनकी प्रतिमा-सृष्टि स्पष्ट होती है, जो अपना बहुत-सा विचार प्राथमिक स्मृति-मूर्तियों के द्वारा करते हैं। जब यह स्पष्ट प्रतिमा-सृष्टि अत्यन्त विशद हो जाती है और प्रतिमाएँ प्रायः वास्तविक प्रत्यक्षीकरण (perceptions) का रूप धारण कर लेती हैं तो ऐसे प्रकार को बाह्य प्रतिमा सृष्टि-मूलक (eidetic) कहते हैं। बहुधा छोटे बच्चों की प्रतिमा-सृष्टि इस वर्ग में आता है। अन्य मनुष्य शाब्दिक प्रतिमा-सृष्टि का प्रयोग करते हैं और वे शब्द-चिह्नों द्वारा विचार करते हैं। परन्तु शाब्दिक प्रकार के तीन उपभेद किये जा सकते

हैं—*दृष्टिमूलक* (visual), *श्रवणमूलक* (auditory), और *कारक* (motor) ।

कदाचित् उपर्युक्त में से किसी एक की अपेक्षा अधिक मूल-भूत जंग (Jung) के प्रसिद्ध प्रकार हैं—'अन्तर्मुखी' (introvert) और 'बहिर्मुखी' (extrovert) । इसको समझने के लिए, जो प्रकारों के सिद्धान्त का सबसे अधिक सफल रूप है, हमारे लिए उत्तम यह होगा कि ड्रैवर के अनुभव (experience) के वर्णन पर लौट कर आवें जो आन्तरिक और बाह्य अंशों के मिलने का स्थान है और जो एक-दूसरे के साथ संश्लेषण अथवा मिश्रण करते हैं ।[१] बाह्य संसार द्वारा संवेदनाएँ (sensations) उठती हैं और मन अपने भीतरी साधनों द्वारा उनके अर्थ लगाता है, और परिणाम होता है प्रात्यक्षिक अनुभव (perceptual experience) । विचार का विषय बाहर से आता है जब कि आकार भीतर से । इस तरह एक मनुष्य तो बराबर अपने मानसिक जीवन के भीतरी अंश पर बल देता है और दूसरा बाहरी पर; पहले को हम अंतर्मुखी कहते हैं और पिछले को बर्हिर्मुखी ।

इस प्रकार अन्तर्मुखी वह है जिसका सम्बन्ध बाह्य संसार से उतना नहीं है जितना स्वयं अपने विचारों तथा भावों से; वह अनुभव के विषय पर बल देता है न कि उसकी वस्तु पर और "अपने भीतर ही अनाभिसंहित या अनियंत्रित मूल्यमान (unconditioned value) ज्ञात करता है ।" इसके विपरीत, बहिर्मुखी वस्तुओं से ही विशेष सम्बन्ध रखता है जैसी वे हैं और वह अनुभव के विषय की अपेक्षा वस्तु पर अधिक बल देता है, और "अनियन्त्रित मूल्यमान" को अपने से बाहर प्राप्त करता है ।"

---

१ देखिए अध्याय २ ।

जङ्ग (Jung) को समझना अधिक कठिन हो जाता है जब वह अन्तर्मुखी और बहिर्मुखी प्रत्येक के चार भेद बताता है; परन्तु उसका प्रारम्भिक सामान्य भेद साधारण अनुभव द्वारा स्पष्ट हो जाता है। अपने परिचित मनुष्यों के वृत्त में पाठक को सम्भवतः दोनों प्रकार के सुस्पष्ट उदाहरण मिल सकेंगे। पूर्वी और पश्चिमी मन में हमको यह विभिन्नता मिलती है; वास्तव में किपलिंग (Kipling) के प्रसिद्ध कथन में कि "पूर्व पूर्व है और पश्चिम पश्चिम है और दोनों कभी नहीं मिलेंगे" (East is East and West is West, and never the twain shall meet) का पूरा अर्थ इस सिद्धान्त के प्रकाश में मिलता है। पश्चिमी मन, जो भौतिक विज्ञान की उन्नति में संलग्न है, अधिक विचारशील पूर्वी मन को समझने में और उसके मूल्य के बोधन में कठिनाई अनुभव करता है। दोनों प्रकार के मनुष्यों को एक-दूसरे को समझना बहुत कठिन है क्योंकि दोनों में सहानुभूति का कोई बन्ध नहीं है। पश्चिम के मनुष्य यह कहने के अभ्यस्त हैं कि बहिर्मुखी वह है जो अपने को 'यथार्थ' संसार के अनुकूल बना लेता है; परन्तु निस्सन्देह विचार और भावना का आन्तरिक संसार उतना ही 'यथार्थ' है जितना भौतिक संसार, और कदाचित् अधिक ही है। और यद्यपि बहिर्मुखी स्वभावतः मनुष्य और वस्तुओं से सम्बन्ध रखने में अधिक सफल होता है, परन्तु अन्तर्मुखी को भी जीवित रहने का उतना ही अधिकार है। वास्तव में यह सम्भव है कि उसकी विचार करने की शक्ति कालान्तर में बहिर्मुखी की व्यावहारिक योग्यता की अपेक्षा अधिक उपयोगी सिद्ध हो।

यह सम्भव है कि हम अपने जीवन को एक अथवा दूसरी दिशा में प्रवृत्ति के साथ आरम्भ करते हैं, परन्तु जीवन की परिस्थितियाँ, विशेषकर आरम्भिक वर्षों में, सुगमतापूर्वक हमारे

मूल स्वभावों को इस दिशा में परिवर्तित कर सकती हैं। एक बुद्धिमूलक शिक्षा का लक्ष्य दोनों प्रकार के अति विकास (extreme development) को रोकना है।

अधिकांश अन्वेषक जिनके परिणामों की रूपरेखा हम ने बतायी है वे जङ्ग (Jung) के साथ दो नितान्त भिन्न प्रकारों के बनाने में सहमत हैं; तो, भिन्न-भिन्न अन्वेषकों के प्रकार, यद्यपि एकसम नहीं है, फिर भी उनमें परस्पर थोड़ा-सा सम्बन्ध प्रतीत होता है। यदि विद्यार्थी 'अन्तर्मुखी' और 'बहिर्मुखी' नाम के दो खाने बनाये तो उसे अधिकांश असमान प्रकारों के विषय में सुगमता से ज्ञात हो जायगा कि अधिकांश असमान प्रकारों के लिए पहले खाने की अपेक्षा दूसरा खाना अधिक उपयुक्त होगा। इस प्रकार उदाहरण के लिए वह 'आत्मगत' और 'गहन-संकीर्ण' को 'अन्तर्मुखी' शीर्षक के नीचे रखना चाहेगा और 'वस्तुगत' तथा 'न्यून-विस्तृत' को 'बहिर्मुखी' के नीचे लिखना पसन्द करेगा। इससे ऐसा प्रतीत होता है कि अति भिन्न दृष्टिकोणों से प्रयोगों के समस्त फल हमारे मानसिक जीवन में किसी एक मूल-भूत भेद की ओर इङ्गित करते हैं। कोई गुण हो सकता है, जिसका अस्तित्व अथवा कमी निश्चित करती है कि हम किस प्रकार के अन्तर्गत आयेंगे; परन्तु उस गुण का स्वभाव बिल्कुल अनिश्चित है, और हमारे ज्ञान की वर्तमान दशा में यह बुद्धि-मूलक मालूम होता है कि अनुभव के द्वैत विषय-वस्तु रूप (dual subject-object aspect of experience) के विचार से अन्तर्मुखी-बहिर्मुखी (introvert-extrovert) भेद के समाधान को हम मानें।

यह कथन कहाँ तक सत्य है कि कोई व्यक्ति एक प्रकार का अथवा दूसरे प्रकार का अवश्य ही होगा? अधिकांश मतों के एक-से होते हुए भी, मनोवैज्ञानिक चुनौती पाने पर उसके शुद्ध

प्रकारों के उदाहरण देने में, प्रायः असफल रहते हैं। थॉर्नडाइक (Thorndike) इस विषय में बहुत संदिग्ध रहा है और उसका आग्रह है कि व्यक्तियों में परिवर्तन इतने क्रमिक और अनवरत होते हैं कि उनका प्रकारों में इतना कठोर वर्गीकरण नहीं किया जा सकता। उसका कथन है कि "केवल एक ही प्रकार होता है और वह है साधारण बुद्धि वाला (mediocre)"; अर्थात् केवल वह वस्तु जिसे प्रकार कह सकते हैं एक केन्द्रीय प्रवृत्ति है जिसके चारों ओर सब परिवर्तनों का जमघट लग जाता है। सत्यता यह प्रतीत होती है कि अधिकांश व्यक्ति न एक वस्तु हैं और न दूसरी, और उनमें से अधिकांश मध्यक (mean) के निकट हैं, और चरमसीमास्थ (extreme) प्रकार के उदाहरण बहुत-ही कम मिलते हैं। बहिर्लक्षण (अन्तर्मुखीकरण) और बहिर्लक्षण (बहिर्मुखीकरण) के गुणों में यह अधिक सम्भावना है कि साधारण वितरण के नियम (law of normal distribution) का पालन होता है।

कल्पना कीजिए कि हम ने अनेक व्यक्ति एकत्र कर लिये और उनमें ठीक-ठीक अन्तर्लक्षण और बहिर्लक्षण की मात्रा का परीक्षण किया। फिर आगे यह भी कल्पना कीजिए कि हमने एक सीधी रेखा खींच दी और उसके सिरों के नाम क्रमशः चरमसीमास्थ अन्तर्लक्षण और चरमसीमास्थ बहिर्लक्षण दिखाने के के लिए –१ और +१ रखे, और उसके मध्य-बिन्दु को ० कहा यह प्रदर्शित करने के लिए कि उसकी प्रवृत्ति एक दिशा में दूसरी
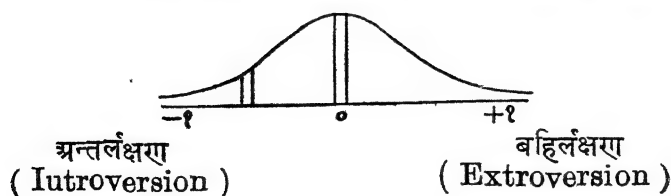
दिशा की अपेक्षा अधिक नहीं है। ऐसे सोपान (scale) पर +·५ अधिक उच्च बहिर्लक्षण को दिखायेगा, जब कि −·३ स्पष्ट न्यून बहिर्लक्षण को। यदि हम ऐसे सोपान के प्रत्येक भाग पर, जैसे −·३ से −·२ तक, खम्भे बना लें जिनकी ऊँचाई उन व्यक्तियों की संख्या के अनुपात में हो जिन्होंने अन्तर्लक्षण तथा बहिर्लक्षण की अनुरूप मात्रा दिखाई हो, तो हमारा चित्र सामान्य वितरण के सुप्रसिद्ध घण्टे-की-आकृति की वक्र रेखा के बहुत सदृश हो जायगा, जैसा कि चित्र में दिखाया गया है।

फिर भी, 'प्रकार' सिद्धान्त (type theory) के समर्थक और विरोधियों के मध्य में जो मूलभूत साम्य है वह स्पष्ट है। व्यक्ति भेद इतने अधिक हैं कि उनकी उपेक्षा नहीं की जा सकती, और सफलतापूर्वक सभी प्रकार के मनुष्यों के प्रति 'औसत' अर्थात् 'माध्य' व्यवहार नहीं कर सकते। मनोविज्ञान एक-दम उन्नति के पथ पर अग्रसर हुआ जब उसके आचार्यों ने विचार-मात्र करते रहने के बदले प्रयोगशाला में प्रयोग आरम्भ कर दिये और व्यक्तिगत भेदों के अस्तित्व को सिद्ध किया; और उनके और किसी निर्णय ने शिक्षा के व्यवहार पर इतना गहरा प्रभाव नहीं डाला है जितना इसने। इसका कोई महत्त्व नहीं कि परिवर्तनों का वर्गीकरण स्पष्ट प्रकारों में किया जा सके अथवा नहीं, अथवा वह बिना जाने हुए एक-दूसरे में विलुप्त हो जाते हैं। क्यों कि 'प्रकार'-मनोवैज्ञानिक ('type'-psychologist) द्वारा प्रतिपादित शैक्षिक उपप्रमेय को अब कोई स्वीकार नहीं करेगा— कि हम को छात्रों का वर्गीकरण प्रत्येक के प्रकार के अनुसार करना चाहिए। ऐसा मार्ग, अव्यावहारिक होने के अतिरिक्त, अवांछनीय भी होगा। निस्सन्देह एक कक्षा में एक ही प्रकार के छात्रों को रखना लाभप्रद हो सकता है, जैसे प्रतिमासृष्टि (imagery) के; परन्तु कोई इस बात पर आग्रह न करेगा कि

समस्त अन्तर्मुखी इकट्ठे कर दिये जायँ और इस प्रकार वे पहले से भी अधिक अन्तर्मुखी बना दिये जायँ। यदि अन्तर्मुखियों और बहिर्मुखियों को परस्पर स्वतन्त्रतापूर्वक मिलने दिया जायगा तो वे एक-दूसरे के दृष्टिकोण को समझने का और अपना-अपना अंशदान देने का अधिक अवसर प्राप्त कर सकेंगे।

हमको, वास्तव में, इस भाव को छोड़ देना पड़ेगा कि हम एक कक्षा को पढ़ा रहे है अथवा कभी पढ़ा सकते है; हम कक्षा में केवल व्यक्तियों को पढ़ा सकते है। और रॉजर एशेम (Roger Ascham) के अनुसार हमको "उनके स्वभावों की उचित मनोवृत्तियों पर विवेक से विचार करना होगा।" इसी उद्देश्य से अध्यापक छोटी कक्षाओं के लिए लड़े है, और सफलतापूर्वक लड़े है। प्रत्येक अध्यापक की संरक्षता में छात्रों की संख्या इतनी कम होनी चाहिए कि वह उन्हें भलीभाँति व्यक्तिगत रूप से जान सके, क्योंकि बिना इस ज्ञान के वह उनसे ऐसे कार्य करने को कह सकता है जो उनके स्वभाव के अनुसार बहुतों के लिए अनुपयुक्त हों। कठिनाई का वास्तविक समाधान प्रकारों के अनुसार वर्गीकरण नही है वरन् व्यक्तिगत शिक्षण है, जैसा कि मांटीसोरी पद्धति में अथवा डाल्टन प्रणाली में है, जिनकी सफलता में सन्देह के लिए कोई स्थान नही है।

सह-शिक्षा (co-education) के जटिल प्रश्न के उल्लेखन के बिना, हम प्रकारों के विषय को नही छोड़ सकते, क्योंकि सब से अधिक मोटा तथा अति गम्भीर अन्तर जो हमको छात्रों में मिलता है वह यौन के कारण है। पिछले अध्याय में हमने देखा था कि दोनों यौनों की माध्य या औसत बुद्धि (average intelligence) मे कोई अन्तर नही है। अतएव, मानसिक माप द्वारा कोई समुचित कारण नही प्राप्त होता कि दोनों को

एक-दूसरे से पृथक् रखा जाय। परन्तु निस्सन्देह, दोनों यौनों की रुचियाँ एक-दूसरे से यथेष्ट भिन्न हैं, दोनों के लिए प्रायः भिन्न प्रकार के आकर्षणों की आवश्यकता है। परन्तु केवल यही तथ्य प्रथक्कीकरण का पक्ष मजबूत नहीं करता; क्योंकि शिक्षा में ऐसी कठिनाई व्यक्तिगत विधियों के स्वीकार करने से दूर की जा सकती है। सहशिक्षा अच्छी वस्तु है अथवा नहीं, इसको मनोविज्ञान नहीं तय कर सकता, वरन् शिक्षा के कुछ सामाजिक पहलुओं के विचार से ही इस विषय का निर्णय किया जा सकता है।

इस प्रकार व्यक्तिगत भेदों के सिद्धान्त ने, जहाँ तक शिक्षा का सम्बन्ध है, शैक्षिक सिद्धान्त पर गम्भीर प्रभाव डाला है। प्रत्येक छात्र को व्यक्तिगत रूप से अपने लिए सीखने के मार्ग का अनुगमन करना चाहिए, अध्यापक से ऐसी सहायता प्राप्त करके जो उसकी व्यक्तिगत आवश्यकताओं के अनुकूल हो। परन्तु इसका यह अर्थ नहीं कि कक्षा समाप्त कर दी जाय। डॉल्टन प्रणाली के समर्थक अब भी आवश्यकता स्वीकार करते हैं कि कई कक्षा-पाठ (class lessons) पढ़ाये जायँ जिनमें ऐसा अध्यापन हो जिसकी आवश्यकता सब को हो। और यदि ऐसा न भी हो तो भी कक्षा की सामाजिक इकाई के रूप में उसकी अखण्डता की रक्षा करने के लिए यह अति आवश्यक है। इनका विशदीकरण हम अपने अन्तिम अध्याय में करेंगे।

विशेष अध्ययन के लिए उपयोगी पुस्तकें

Ascham : *The Schoolmaster.*
Rusk : *Experimental Education*, chapter xi.
Spearman : *The Abilities of Man.*
McDougall : *An Outline of Psychology*, chapter xxviii.
Nunn : *Education : its Data and First Principles*, chapter ix.
Jung : *Psychological Types.*

: १५ :

समूह-मनोविज्ञान

(The Psychology of the Group)

पिछले दो अध्यायों में हमने मनोविज्ञान की ऐसी शाखा का अध्ययन किया है जिससे हम शिक्षण की व्यक्तिगत विधियों का समर्थन करने लगे हैं। हम देख चुके हैं कि शताब्दियों तक श्रेष्ठ शैक्षिक सिद्धान्तवादियों ने व्यक्ति के लिए शिक्षा-योजना का प्रतिपादन किया है। हम इससे यह कल्पना कर सकते हैं कि पाठशाला और कक्षा का अस्तित्व केवल इसलिए है कि प्रत्येक बच्चे के लिए एक निजी अध्यापक रखना अव्यावहारिक है, और यह भी भ्रम कर सकते हैं कि लखपती मनुष्य का एक बेटा, जो इतनी बढ़िया मिट्टी का बना है कि अपने साथियों के साथ मिलजुल नहीं सकता, आदर्श शिक्षा प्राप्त कर रहा है। फिर भी, इस सामान्य मत के पीछे कि ऐसी बात नहीं है, एक महत्वपूर्ण मनोवैज्ञानिक सिद्धांत है जिसकी मुख्य रूपरेखा का हम परीक्षण करेंगे।

समूह-मनोविज्ञान मनोविज्ञान की विस्तृत परिभाषा का स्वाभाविक परिणाम है जिसको हमने प्रथम अध्याय में स्वीकार किया था। जब तक मनोविज्ञान व्यक्तिगत अनुभव का अध्ययन मात्र था, समुदाय सम्बन्धी कोई सिद्धान्त स्थिर नहीं किये जा सकते थे; परन्तु जब वह व्यवहार के अध्ययन के रूप में माना जाने लगा तो उसके क्षेत्र में धीरे-धीरे प्रत्येक जीवी (organism) आने लगा जो व्यवहार की विशिष्ट रीति प्रदर्शित करता है। भीड़

अवश्य ही ऐसा जीवी (organism) है, क्योंकि उसके कार्य, भावना और विचार की विधियाँ भीड़ के लक्षण हैं न कि उन व्यक्तियों के जो भीड़ के अंश हैं। इस प्रकार मनोविज्ञान की 'व्यवहार'-परिभाषा के फलस्वरूप, आज हमारे सामने समाज-समुदाय (social group) का मनोविज्ञान है।

निस्संदेह वे सब लोग जिन्होंने अपने साथी मनुष्यों पर सफलतापूर्वक आतंक जमाया है—समस्त सुप्रसिद्ध जन-नेता, वक्ताऔर नेता—समूह-मनोविज्ञान के सिद्धान्तों से अस्पष्ट रूप से परिचित हैं। महाकवि शेक्सपीअर भी एक समूह को विचार देने और सामूहिक संवेग उत्तेजित करने की चतुर कला में निपुण था। उदाहरण के लिए, जो व्याख्यान उसने मार्क ऐंटनी (Mark Antony) से कहलवाया है यह प्रदर्शित करता है कि उसे विषय की वर्तमान पुस्तकों से कुछ नहीं सीखना था। (वर्तमान युग में महात्मा गांधी सामुदायिक मनोविज्ञान के प्रकांड पण्डित थे। राष्ट्रीय आन्दोलन में वह देश के शिक्षित तथा अशिक्षित समुदाय को अपने साथ आँधी की तरह ले चलते थे। परन्तु उनकी जीवनी से ऐसा पता नहीं लगता कि उन्होंने आधुनिक मनोविज्ञान की पुस्तकों का अध्ययन किया था।) ऐसी पुस्तकें उन सिद्धान्तों को स्पष्ट करने का नवीन प्रयत्न है जो अब तक अस्पष्ट थे। वे शैक्षिक दृष्टि से नहीं लिखे गये हैं। कुछ लेखकों ने मुख्यतः इस तथ्य का कारण बताया है कि समूह में लोग विचार और आचार के मान्य मापदंडों से नीचे गिर जाते हैं। गुस्टाव लि बॉन (Gustave Le Bon) ने समुदाय का अध्ययन किया क्योंकि वह मानता है कि, समुदाय की आवाज़ ऊँची हो गई है।" ट्रॉटर (Trotter) की प्रसिद्ध पुस्तक *शान्ति और युद्ध में समुदाय की प्रवृत्तियाँ* (*Instincts of the Herd in Peace and War*) को महायुद्ध से प्रोत्साहन मिला, जब कि मेकडूगल

का *समूह मन* (*Group Mind*) अपने दृष्टिकोण में राष्ट्रीय है। फिर भी हम देखेंगे कि उनके बहुत से परिणाम पाठशाला के जीवन की दशाओं पर सीधे लागू हैं, और वे अनेक शैक्षिक समस्याओं को सुलझाने के लिए मूल्यवान् सुझाव देते हैं।

मनुष्यों का प्रत्येक समूह मनोवैज्ञानिक समुदाय नहीं कहा जा सकता, जिसका मुख्य लक्षण मेकडूगल की पुस्तक के निम्न उदाहरण से सुस्पष्ट किया जा सकता है—"दिल्ली के चाँदनी चौक में सहस्त्रों व्यक्तियों की भीड़ है जो सांयकाल के समय सदा मिलती है; परन्तु सामान्य रीति से उनमें से प्रत्येक अपने निजी कार्य में लग रहा है और जो उसके आस-पास मनुष्य हैं उनकी ओर उनका कोई ध्यान नहीं जाता है। अब कल्पना कीजिए कि एक आग बुझाने का इञ्जिन भीड़ को चीर कर भागा चला आ रहा है या राष्ट्रपति की घोड़ा गाड़ी आ गई है, और तुरन्त ही भीड़ कुछ सीमा तक मनोवैज्ञानिक समूह का स्वरूप स्वीकार कर लेती है। समस्त आँखें आग-के-इञ्जिन या घोड़ा-गाड़ी की ओर घूम जाती हैं; सब का ध्यान एक ही वस्तु की ओर हो जाता है; सब लोग कुछ सीमा तक उसी संवेग से प्रभावित होते हैं और हर एक मनुष्य के मन की दशा कुछ अंश तक अपने चारों ओर के मनुष्यों की मानसिक प्रक्रियाओं से प्रभावित होती है।"[१] सामूहिक मानसिक जीवन की मूलभूत स्थिति यह है कि समुदाय एक साथ काम करे, अनुभूत करे और विचार करे।

एक बात निश्चित है कि—समष्टि रूप में समस्त समूह या समुदाय का विचारना, अनुभूति करना और कार्य करना उसके अंतर्गत व्यक्तियों के सामान्य विचार अनुभूति और कार्य से भिन्न होता है। फिर, यह कल्पना करना भारी भूल होगी कि पहले, पिछलों का जोड़ अथवा माध्य (औसत) हैं। व्यक्तिगत रीति की अपेक्षा

1 McDougall, *The Group Mind* pp. 22. 23.

सामुदायिक कार्य-भावना और विचार की रीतियाँ प्रायः अधिक नीचे स्तर पर रहती हैं; वे ऊँचे स्तर पर भी हो सकती हैं। भीड़ में व्यक्तित्व का स्तर लुप्त-प्राय सा हो जाता है; व्यक्तियों को अपने को केवल भीड़ का सदस्य मान लेना कठिन है, यद्यपि निस्संदेह सामाजिक समुदाय के उच्च रूप उनको ऐसा करने के लिए योग्य बनाते हैं। अवश्य ही चेतन होने के सामुदायिक रूप व्यक्तिगत रूपों से किसी रहस्यमय ढङ्ग से आगे बढ़ते हैं, परन्तु स्वभाव में वे परिणाम के रूप में होते हैं न कि इन रूपों के जोड़ अथवा माध्य।

तथ्य यह है कि "जहाँ दो या तीन एकत्र होते हैं" नयी शक्तियाँ कार्यरत हो जाती हैं, जो व्यक्तियों को एक नवीन जीवी में संघटित कर देती हैं। ऐसी शक्तियाँ अवश्य ही व्यक्तिगत मनों में निवास करती हैं, परन्तु उनको कार्य रूप में परिणत करने के लिए दूसरों की उपस्थिति की आवश्यकता होती है और वे उनके सामाजिक संपर्क से पृथक् निरर्थक हैं। वे शक्तियाँ कौन-सी हैं?

मूलप्रवृत्तियों में से स्वयं कुछ में सामाजिक निर्देश हैं। स्पष्ट है कि *समूह-आवेग* पहली शक्ति है जो सामाजिक समुदाय को अस्तित्व में लाता है। फिर, *स्व-स्थापन* और *आत्म-लघुता* की मूलप्रवृत्तियों का समाज से प्रथक् कोई अर्थ नहीं है। समूह-प्रवृत्ति से आरम्भ करते हुए, ये दो उसके शक्तिशाली अनुबन्ध हैं जो सामाजिक समुदाय की व्यवस्था के पोषक हैं। जिस प्रकार शरीर के भिन्न-भिन्न कोषाओं (cells) के विशिष्ट कार्य हैं, उसी प्रकार जब व्यक्तियों का एक समुदाय सामाजिक जीवी हो जाता है, तो भिन्न-भिन्न मनुष्य स्थापन और विनीत-भाव की मूलप्रवृत्तियों के प्रवाह में नेता और अनुगामियों का रूप धारण कर लेते हैं।

सामुदायिक प्रभाव उत्पन्न करने के लिए मुख्य तत्त्व विस्तृत रूप से *अनुसरण* (mimesis मिमेसिस) कहा जा सकता है, जिसका सुझाव सर टी. पर्सी नन (Sir T. Percy Nunn) ने दिया

है। अनुसरण में हम सभी प्रकार के अनुकरणों को सम्मिलित करते हैं, जैसे भावना, विचार और कार्य। सहानुभूति, सुझाव व अनुकरण वास्तव में क्रमशः अनुभूति, विचार और कार्य के समूह-मूलक प्रवृत्तियों के आविर्भाव है, और उनमें सामूहिक चेतना का अवश्यम्भावी त्रिभुज मिलता है। अब हम उनका प्रथक्-प्रथक् परीक्षण करेंगे।

सहानुभूति का शाब्दिक अर्थ दूसरे के प्रति संवेदना है। जब दो या अधिक मनुष्य एक-साथ होते हैं, एक संवेग जो कोई मनुष्य अनुभव करता है वह दूसरों को अंतरित करने की प्रवृत्ति रखता है। इस प्रत्यक्ष घटना के कारण बताने के लिए कुछ लोग मानसिक अंतरण (telepathy) की परिकल्पना का अभियोग मानते हैं और यह कल्पना करते हैं कि एक मन प्रत्यक्ष रूप से दूसरे मन में अपने समान ही चेतना उत्पन्न कर सकता है। इस परिकल्पना के सम्बन्ध में निर्णय देना कठिन है; घनिष्ठ मित्र और निकट सम्बन्धियों के मध्य यथार्थ मानसिक अन्तरण के यथेष्ट प्रमाण मिलते हैं, परन्तु इसके प्रमाण बहुत कम हैं कि यह शक्ति साधारण रूप से धारण की जाती है। परन्तु एक समुदाय के सदस्यों में संवेगों का सहानुभूतिपूर्ण संचरण समझाने के लिए मानसिक अन्तरण की आवश्यकता नहीं है, क्यों कि इसके लिए मेकडूगल का "प्राथमिक अक्रिय सहानुभूति" (primitive passive sympathy) सिद्धान्त यथेष्ट है। ऐसा प्रतीत होता है कि अंतर्गामी (afferent) पक्ष में हमारी मूलप्रवृत्तियाँ इस प्रकार व्यवस्थित हैं कि वे दूसरी ओर मूलप्रवृत्त्यात्मक व्यवहार के प्रत्यय द्वारा मुक्त कर दी जाती हैं। इस प्रकार मेरी भय की मूलप्रवृत्ति क्रियाशील हो जाती है यदि मैं दूसरे मनुष्य में भय के बाह्य चिह्न देखता हूँ, और परिणाम यह होता है कि मैं भी भय का अनुभव करता हूँ। जब कोई छोटा बच्चा रोता है तो उसके समस्त साथी उसके कष्ट

में तुरन्त भागी हो जाते हैं। यह प्राथमिक अक्रिय सहानुभूति अबोधमूलक होती है; अर्थात् सहानुभूति उत्पन्न हो जाती है और व्यक्ति को नहीं मालूम होता है कि क्या हो रहा है। सामुदायिक जीवन में सहानुभूति का अत्यधिक महत्त्व है। जब कि यह दो मनुष्यों में तुरन्त उत्पन्न हो जाती है, समुदाय में उसका प्रभाव एकत्र रूप में होता है, विशेषकर जब कोई विशिष्ट व्यक्ति विशेष संवेगात्मक दशा में होता है और उसका प्रदर्शन करता है। तब वास्तविक जनसमूह उद्वेग (mob panic) और जनसमूह-क्रोध (mob-anger) होता है।

दूसरों की भावनाओं में भाग लेने की शक्ति अनेक व्यक्तियों को समाज-समूह में संघटित करने के लिए अन्यत्र प्रबल शक्ति है, और पाठशाला के जीवन में उसका महत्त्व अत्यधिक है। वह मनुष्य जिसको सहानुभूति का गुण नहीं प्राप्त है उसे अध्यापक नहीं बनना चाहिए। न वह केवल अपने छात्रों के दृष्टिकोण को देखने में असमर्थ होगा, वरन् समाज-समूह में वह अपना उचित स्थान भी न प्राप्त कर सकेगा।

ठीक जिस प्रकार हम अपने साथियों की भावनाओं में भाग ले सकते हैं, उसी प्रकार हम उनके विचारों में भी भागी बन सकते हैं। यहाँ हमको विचारों की ज्ञानमूलक स्वीकृति जैसी कि किसी तर्क के समझने में आवश्यकता पड़ती है, और अज्ञान प्रक्रिया जिसे हम निर्देश (suggestion) कहते हैं, में भेद जानना चाहिए। मेकडूगल ने निर्देश की परिभाषा इस प्रकार की है "अंतरण की एक प्रक्रिया, जो अंतरित विषय में विश्वास के साथ स्वीकृति में समाप्त होती है तथा इसकी स्वीकृति के लिए तार्किक आधार उपस्थित नहीं होते"[1] (a process of communication resulting in the acceptance with

1 *An Introduction to Social Psychology*, p. 97.

conviction of the communicated proposition in the absense of logically adequate grounds for its acceptance)। प्रत्ययों के पाने वाले व्यक्ति के लिए प्रक्रिया ज्ञानमूलक नहीं है, यद्यपि वह सुझाव देने वाले मनुष्य की ओर से बिल्कुल निश्चित हो सकती है। जिस मनुष्य को विचार सुझाये जाते हैं वह समझता है कि वे स्वयं उसी के हैं, और वह यह कभी नहीं सोचता कि उनका कोई बाह्य उद्गम है। सुझाव समूहप्रवृत्ति का ज्ञानमूलक रूप समझा जा सकता है। सुझाव की शक्ति का एक पुराना उदाहरण हम को शेक्सपीअर के *औथेलो* (Othello) नामक नाटक में मिलता है, जब इआगो (Iago) डेस्डीमोना (Desdemona) की रक्षा करती हुई उसके मन में जान बूझ कर अपने बुरे विचारों का सुझाव देती है। *मेकबैथ* (Macbeth) में डाकिनियाँ भी सुझाव की शक्ति की अवतार हैं। रामचरित मानस में मंथरा ने कैकेई को सुझाव दिया। रण-भूमि पर भगवान् श्रीकृष्ण ने अर्जुन को विचार दिये, जिनके कारण वह युद्ध की ओर प्रवृत्त हुआ। परन्तु इन उदाहरणों से यह न समझना चाहिए कि सुझाव केवल बुराई के लिए बलशाली होता है। सुझाव कल्याण और संताप दोनों ही के लिए उतना ही शक्तिशाली हैं।

यद्यपि शेक्सपीअर मनुष्य के मन में इस गुणविशेष के विषय में सब कुछ जानता था, परन्तु मनोवैज्ञानिकों का ध्यान इस ओर अपेक्षाकृत हाल में ही गया है—कदाचित् इसका कारण यह हो सकता है कि बुद्धिमूलक मनोविज्ञान इस का कोई संतोषजनक वर्णन नहीं दे सकता। सर्व प्रथम इसका अध्ययन मोहनिद्रा (hypnotism) के सम्बन्ध में किया गया। मोहनिद्रामूलक अचेतन अवस्था में व्यक्ति अविलंब निद्राप्रेरक (hynotizer) से विचारों को ग्रहण करता है, और जब वह सामान्य व्यक्तित्व पुनः प्राप्त कर लेता है वह ऐसे नवीन विचारों के उद्गम से

नितान्त अनभिज्ञ होता है। इस प्रकार यह कार्य प्रभावपूर्ण मालूम किया गया है कि एक मनुष्य को कृत्रिम निद्रा में डाला जाय और उसको यह सुझाव दिया जाय कि वह सुगमतापूर्वक कोई कार्य कर सकता है जो वह समझता है कि वह अपनी जाग्रत अवस्था में नहीं कर सकता। घटक यह नहीं संदेह करता है कि ऐसे भाव उसके ही मन में नहीं उत्पन्न हुए हैं, और वह उन पर कार्य करने के लिए तुरन्त तैयार हो जाता है। इससे अधिक अद्-भुत घटना उत्तर मोहनिद्रा (post-hypnotic) सूचना है। यदि मोहनिद्रामूलक अवस्था में एक मनुष्य से यह कहा जाता है कि अपनी जाग्रत अवस्था में किसी समय वह अमुक कार्य करेगा, तो वह उसे ठीक समय पर करने लगता है और ऐसा करने के लिए वह क्षुद्र और अनिश्चायक कारण ढूँढ़ कर अपने को तथा दर्शकों को उसे उचित बताने का प्रयत्न करता है। ये घटनाएँ आसानी से नहीं समझायी जा सकती हैं, और इनसे मन के स्वभाव तथा शक्तियों की ओर हमारी नितान्त अज्ञानता का भास हम को हो जाता है।

सरल प्रयोगों द्वारा विद्यार्थी निर्देश (suggestion सुझाव) का अध्ययन कर सकता है और विभिन्न मनुष्यों की विचार-ग्रहण की क्षमता का माप कर सकता है अवश्य ही गुणों के विचार से। एक ऐसा उदाहरण निम्न है। प्रयोगकर्त्ता घटक से अपने हाथ में तारों का एक कुंडलन (coil of wire) लेने के लिए कहता है, जो विद्युत्-धारा के द्वारा गरम किये जाने को है। वह व्यक्ति से कहता है कि वह तापक्रम के न्यून अन्तरों पर उसकी त्वचा की स्पर्शक्षमता (sensitivity) का परीक्षण कर रहा है, और उससे कहता है जब उसको तार गरम होता हुआ ज्ञात हो वह उसकी सूचना दे। यह देखा गया है कि प्रौढ़ छात्रों में भी अनेक तापक्रम में परिवर्तन बताने लगते हैं जबकि विद्युत्

धारा वास्तव में नहीं खोली गयी, वरन् केवल ऐसी भास होती है। प्रौढ़ों की अपेक्षा बच्चों पर विचारों का प्रभाव कहीं अधिक डाला जा सकता है।

विचार-वितरण या निर्देश (suggestion) का हम क्या समाधान दे सकते हैं? उस मनुष्य के मन में जो बिना जाने हुए दूसरे से विचार ग्रहण कर रहा है, प्रक्रिया के पीछे चेतना-शक्ति (energy) अधीनता की मूलप्रवृत्ति से आती है। यदि एक मनुष्य दूसरे के प्रति आदर की प्रवृत्ति स्वीकार कर लेता है तो वह तुरन्त ही उसके विश्वास, मत और प्रवृत्तियों को स्वीकार कर लेता है—और यह प्रत्येक निर्देश सूचना के विषय में ठीक है, चाहे वह मोहनिद्रा में हो अथवा सामान्य जाग्रत अवस्था में। अधिकारी वर्ग के मनुष्यों से, उन मनुष्यों से जिनके हम प्रशंसक हैं तथा पुस्तकों में लिखी हुई बातों से हम सदा विचार स्वीकार करने के लिए तैयार रहते हैं। यही कारण है कि बच्चे और वे मनुष्य जिन्होंने स्वयं सोचना कभी नहीं सीखा विचारों को ग्रहण करने के लिए तैयार रहते हैं।

अध्यापक अधिक वय का, अधिक अनुभव का और अधिकारी की दशा में होता है, अतएव अपने छात्रों में विचार अन्तरित करने की शक्ति उसमें बहुत होती है। उसे इस शक्ति का क्या प्रयोग करना चाहिए? हम यह मान लेते हैं कि अध्यापक ऊँचे नैतिक चरित्र का पुरुष अथवा स्त्री है और जानबूझ कर बुरे विचार सूचन करने अयोग्य है। यहाँ यह कहना असंगत न होगा कि निर्देश के अन्तरण करने की क्रिया इतनी विलक्षण है कि यदि उन विचारों को अन्तरित करने का प्रयत्न किया जायगा जिनमें अध्यापक का पूर्ण विश्वास नहीं है तो अन्त में ऐसा प्रयत्न अवश्य ही असफल होगा। यह स्पष्ट है कि अध्यापक को अपने निजी धार्मिक तथा राजनैतिक धारणाओं को अपने छात्रों पर

लादने के हेतु अपनी सूचन-शक्ति को प्रयोग में नहीं लाना चाहिए, क्योंकि वह समस्त समाज का सेवक है न कि किसी विशेष संप्रदाय या दल का। इस ओर अध्यापक की शक्ति को मानते हुए, कुछ लोग यह तर्क प्रस्तुत करते हैं कि अध्यापक को विचार-अन्तरित करना ही छोड़ देना चाहिए। परन्तु यदि वह ऐसा चाहे तो भी नहीं कर सकता। समाज ने उसे ऐसी स्थिति में रख दिया है कि जहाँ वह जाने अथवा अनजाने विचारों को अपने छात्रों को अन्तरित किये बिना नहीं रह सकता। फिर, यह भी निश्चित है कि यदि वह इस विषय में मैदान छोड़कर भागेगा तो वह उनके मनों में दूसरे विचारों के लिए स्थान छोड़ेगा और वे सूचन (suggestions) कदाचित् अवांछनीय होंगे। सर टी. पर्सी नन[1] के मत में अध्यापक को अधिकार है कि वह "अपने जीवन के श्रेष्ठ ज्ञान और अनुभव को सामान्य राशि (common stock) में एकत्र रखे, जहाँ से उसके छोटे समाज के उन्नति करते हुए मनों में से प्रत्येक वह मन ले सके जिसकी उसे आवश्यकता है"; उसको निश्चित रूप से "तर्कपूर्ण सत्यखोजी आदत" (critical truth-seeking habit) और "मनुष्य-जाति के सर्वोत्तम और अत्यन्त विस्तृत अनुभव द्वारा स्वीकृत आदर्शों" को अन्तरित करना चाहिए। इस बुद्धिमानी के मत से कर्तव्य-परायण अध्यापक को सन्तुष्ट हो जाना चाहिए और कठोरतम आलोचक को चुप हो जाना चाहिए।

समुचित अनुकरण, जो सामुदायिकता का क्रिया-पक्ष (the 'doing' aspect) है, वह प्रक्रिया है जिसके कारण एक समूह के सभी सदस्य मिलकर कार्य करते हैं। दो मनुष्यों तक में यह हो सकता है, परन्तु इसके प्रभाव समूह में अत्यधिक स्पष्ट होते हैं जहाँ उनको अनुकरण करने के लिए एक नेता मिल जाता है।

1 *Education its Data and First Principles*, p. 149.

यद्यपि अनुकरण ऐसी प्रवृत्ति है जो हम सब में पाई जाती है, परन्तु उसे हम पूर्व वर्णित अर्थ में मूलप्रवृत्ति नहीं कह सकते, क्योंकि कोई विशेष उत्तेजक नहीं है जो उसको प्रेरित करता है और न कोई विशेष प्रतिक्रिया है जो उसके द्वारा होती है। वास्तव में होता क्या है जब एक मनुष्य दूसरे का अनुकरण करता है ?

अनजाने अनुकरण में—जो अनुकरण का शुद्धतम रूप है—हमको सदा दूसरी मूलप्रवृत्ति काम करते हुए मिलती है। आरम्भ में समूह-प्रवृत्ति क्रियाशील होती है, जो व्यक्ति को दूसरों के साथ काम करने को प्रेरित करती है। फिर, जब वह उन दूसरों को मूलप्रवृत्त्यात्मक ढंग से काम करते हुए देखता है, वह, प्राथमिक अक्रिय सहानुभूति के सिद्धान्त के अनुसार, न केवल समुचित संवेग का अनुभव करता है वरन् स्वयं मूलप्रवृत्त्यात्मक कार्य करने लगता है। इस प्रकार, यदि मेकडूगल ठीक कहता है कि मूलप्रवृत्ति की एक कुंजी दूसरों में समान मूलप्रवृत्त्यात्मक कार्य का प्रत्यक्षीकरण है, तो हम देखते हैं कि अनुकरण की एक विशेष मूलप्रवृत्ति निर्मित करने की आवश्यकता नहीं है। अचेतन अनुकरण में मूलप्रवृत्त्यात्मक कार्य अनुकरणकर्ता करता है, जिसके लिए उत्तेजक अनुकरणीय मनुष्य में समान मूलप्रवृत्त्यात्मक कार्य है; परन्तु दोनों के बीच का मध्य साधन परोक्ष है, प्रत्यक्ष नहीं।

एक कार्य का अनुकरण जो मूलप्रवृत्त्यात्मक नहीं है सम्पूर्णरूप से अचेतन (unwitting) नहीं हो सकता; उसमें अवश्य ही कोई विचार व समीक्षण निहित होते हैं। चेतन अथवा विचारपूर्वक अनुकरण में *क* कोई बात *ख* के व्यवहार में मालूम करता है जिसे वह वांछनीय समझता है, तो वह अपने में *ख* के कार्य का अनुकरण उत्पन्न करने लगता है। इस दशा में उसको मूल-

प्रवृत्त्यात्मक आधार पर कार्य तैयार नहीं मिलता। उसे ख के कार्य का अस्पष्ट बोध है जिसे वह किसी सीमा तक विश्लेषण करता है; तब धीरे-धीरे प्रयत्न और प्रमाद की प्रक्रिया के द्वारा वह उसी भाँति कार्य करने में सफल होता है। परन्तु कोई सफलता जो उसे प्राप्त होती है वह, अन्त में, उसकी जन्म-जात प्राकृतिक देन के ही कारण है; उसमें पहले से ही वे शारी-रिक कलाविन्यास (mechanisms) होने चाहिए जो अध्यव-साय के पश्चात् सफलता को सम्भव करते हैं। उपाख्यानों में इकेरस (Icarus) का नाम लिया जाता है जिसने अपने कंधों पर मोम से पंख चिपका कर चिड़ियों की उड़ान का अनुकरण किया और घोर विपत्ति में पड़ गया। यथेष्ट काल से मनुष्य ने उड़ने का प्रयत्न किया है, परन्तु चूँकि प्रकृति ने उसे पंख नहीं प्रदान किये हैं, इसलिए प्रत्यक्ष अनुकरण द्वारा उसे सफलता नहीं मिली है। किन्तु उसे अद्‌भुत मस्तिष्क और विस्मयपूर्ण दो हाथ प्राप्त हुए हैं जिनको उसने उत्तम कार्य में लगाया है, और अन्त में अपनी जन्मजात शक्तियों के द्वारा सफल अनुकरण कर सका है।

शिक्षा में अनुकरण का क्या स्थान है? आदि शिक्षा में केवल यह था कि बच्चे को वंश की उपयोगी कलाओं का अनुकरण सिखाया जाता था। परन्तु केवल बड़ों के ज्ञान और कलाओं के अनुकरण मात्र को ही शिक्षा मानना कला और विज्ञान के प्रवाह को एकदम रोक देगा। इस तथ्य को इतना स्पष्ट समझ लिया गया है कि कुछ शिक्षकों ने अनुकरण को एकदम हीन बताया है इस धारणा पर कि वह मौलिकता का गला घोंट देता है। परन्तु ऐसा होना आवश्यक नहीं है। "सब से अधिक मौलिक मन दूसरों के सामने अध्यवासी (sedulous) बन्दर का रूप रखने में ही

है जो उन से पहले स्व-स्थापन के उसी मार्ग पर चल चुके हैं।"[1] वैगनर (Wagner) संगीत-नाट्य (opera) के आचार्यों के प्ररूपों का अनुकरण किया करता था, पहले इसके कि उस ने संगीत-नाटक का अपना निजी प्रकार का विकास किया; और एक ईन्सटीन (Einstein) को आवश्यकता है कि वह पहले एक न्यूटन (Newton) के विचारों का अनुकरण करे इस के पूर्व कि वह उन्हें पारिमार्जित कर सके। अतएव हम को इस बात से डरने की आवश्यकता नहीं है कि हमारे छात्र किसी गद्य की अच्छी शैली का अथवा कला के किसी अच्छे रूप का अनुकरण करने लगें; परन्तु हम को उन्हें यह विचार न करने देना चाहिए कि सफल अनुकरण ही सर्वोच्च लक्ष्य है जिसको प्राप्त करना है। अनुकरण मौलिक आत्म-व्यंजना (self-expression) का साधन मात्र है। यदि हम उसकी सहायता स्वीकार करते हैं तो हम को एक-दम आरंभ से ही चलने की आवश्यकता नहीं है, क्यों कि इसके द्वारा जातीय पुनरावर्त्तन की प्रक्रिया का मार्ग सहायक रूप में छोटा रह जाता है जिसके विषय में हम पहले चर्चा कर चुके हैं।

सहानुभूति, निर्देश और अनुकरण—अनुसरण (mimesis) के तीन प्रकटीकरण—सामुदायिक प्रभाव उत्पन्न करने में तीन मुख्य कार्यशील घटक हैं। इन में लि बॉन (Le Bon) ने शक्ति के बोधन अथवा भावना को और बढ़ा दिया है। वह कहता है—"व्यक्ति, जो एक समूह का भाग है केवल संख्या के कारण अजेय शक्ति का एक स्थायीभाव प्राप्त कर लेता है जिससे वह मूलप्रवृत्तियों के अधीन हो जाता है, जिन्हें यदि वह अकेला होता तो अवश्य ही नियंत्रण में रख लेता।"[1] भावनाएँ और

1Nunn, *Education : Its Data and First Principles*, p. 141,

1*The Crowd*, p. 33.

कार्य जो सामान्य रूप से अवरुद्ध रहते हैं अब निरोधित नहीं रहते; व्यक्ति में भावना होती है कि वह मनमानी कर सकता है और उत्तरदायित्व की समझ खो बैठता है। सार्वजनिक संस्थाएँ बहुधा विवेकहीन निर्णय करती हैं जो किसी एक सदस्य की बुद्धि के स्तर के नीचे हैं, केवल इसलिए कि कोई एक मनुष्य उत्तरदायित्व और नेतृत्व नहीं स्वीकार करता है। ऐसे विवेकहीन निर्णयों का कारण है वह जिसे हम विलय और निरोध का नियम (law of fussion and arrest) कहते हैं। जब कई व्यक्तियों द्वारा एक समूह-जीवी बन जाता है और वह अभी व्यवस्थित नहीं है, तब केवल मानसिक लक्षण ही होते हैं जो विलयन होने वालों में समान होते हैं, परन्तु वे जो व्यक्तियों में विशिष्ट होते हैं एक दूसरे को विलय कर देते हैं। जब लि बॉन कहता है कि "सामान्य रुचि के विषयों पर प्रभाव डालने वाले निर्णय जब विशिष्ट मनुष्यों के किसी समुदाय द्वारा सामने आते हैं जो जीवन के भिन्न अंगों में विशेषज्ञ हों तो उन निर्णयों से अधिक उत्तम नहीं होते जिन्हें मूढ़ मनुष्यों का समूह तय करता है,"[१] तो उसकी स्पष्ट अत्युक्ति इस महत्त्वपूर्ण सत्य को सामने लाती है। "समजातिक (homogeneous) विषमजातिक (heterogeneous) को बहा ले जाते हैं,"[१] और केवल महत्तम समापवर्तक महत्त्वपूर्ण है। मनुष्यों के किसी भी समूह में सदा ही समजातिकता का एक सामान्य मान मिलता है, अर्थात् मूलप्रवृत्तियाँ। वे सदा विलीन होने की प्रवृत्ति रखती हैं, और इससे समूह-व्यवहार की प्रसिद्ध घटना प्राप्त होती है। नेतृत्व के बिना केवल निम्नतम रुचियाँ ही समान रूप से मिलती हैं, और वे अनुसरण के नियम के अनुसार एक व्यक्ति में परस्पर प्रबलित होती है। दूसरा उदाहरण लीजिए। जब मनुष्यों के एक समूह में सामान्य बुद्धिमूलक, कलात्मक अथवा क्रीड़ात्मक

1*The Crowd*, p. 32.

रुचि नहीं होती, तो वार्तालाप अत्यन्त निम्न स्तर पर होने लगता है।

परन्तु अब तक हमने सामूहिक व्यवहार के कम वांछनीय रूपों को देखा है। सामाजिक समूह के विभिन्न प्रकारों का विचार हम को निश्चय करायेगा कि सामूहिक व्यवहार सदा ही व्यक्तिगत व्यवहार के नीचे के स्तर पर नहीं रहेगा। एक से अधिक वर्गीकरण उपलब्ध हैं, परन्तु हमारे उद्देश्य के लिए ड्रेवर का मत[1] अत्यधिक सहायक है। सर्व प्रथम भीड़ प्रकार है—एक मनोवैज्ञानिक समूह जो अस्थायी रूप से बना है, और जो शीघ्र ही विध्वंस होने वाला है। उस के विचार करने, अनुभूति करने और कार्य करने की सामुदायिक विधियाँ क्षणभंगुर हैं; उस की चेतना तात्कालिक है और उस में समूह की दृष्टि से कोई स्मृतियाँ अथवा स्थायीभाव (sentiments) नहीं है। उस की तुलना मानसिक विकास के प्रात्यक्षिक स्तर (perceptual level) पर एक व्यक्ति से की जा सकती है; एक छोटे बच्चे अथवा पशु की भाँति वह केवल क्षण के आवेग के अनुरूप कार्य करता है। दूसरे गोष्ठी प्रकार (club type) होता है, अर्थात् सामाजिक समूह जिस का रूप गोष्ठी है। वह भीड़ से इस प्रकार भिन्न होता है कि वह मूलप्रवृत्ति के अस्थायी उत्तेजन द्वारा जीवित न रह कर किसी सामान्य रुचि, स्थायी भाव, अथवा आदर्श द्वारा जीवित रहता है जो उसके सदस्यों को एक सामुदायिक जीवी में अनुबंधित करते है। समूह की अपेक्षा यह एक अपेक्षाकृत स्थायी सत्ता है। अन्तिम, समाज-प्रकार (community type) है—समूह जो विस्तृत सामान्य उद्देश्य द्वारा एकत्र रहता है जिसमें निरंतरता और स्थायित्व (continuity and

1 *Introduction to the Psychology of Education*, p. 214.

permanence) है। उद्देश्य यथेष्ठ विस्तृत, जटिल और अभिव्यापक होना चाहिए जिससे कि व्यक्ति उसके रूपों और पहलुओं को अपने निजी व्यक्तिगत जीवन के उद्देश्यों को लेकर पूर्ण आत्म-सिद्धि (self-realisation) प्राप्त कर सकें। एक राष्ट्र ऐसा ही समुदाय होता है अथवा होना चाहिए। अपने उद्देश्य के विस्तार की दृष्टि से समाज गोष्ठी से भिन्न होता है; समाज केवल सामान्य रुचियों और स्थायीभावों का ही प्रतीक नहीं है, अपितु वह अपने सदस्यों के सम्पूर्ण जीवन को एकत्रित व केन्द्रित करता है।

मनोवैज्ञानिक समूहों के इस वर्गीकरण को मन में लेकर हमको विचार करना चाहिए कि समूह-मन के विषय में किसी अर्थ में बात करना नियमित होगा अथवा नहीं। हम देख चुके हैं कि एक सामाजिक समूह को कार्य, भावना और समूह विचार की पद्धतियाँ उन व्यक्तियों की रीतियों से भिन्न हैं जो उसके अङ्ग हैं। तो क्या हमको सामुदायिक व्यवहार के पीछे और उसको नियन्त्रित करते हुए एक सत्ता (entity) माननी चाहिए—एक सामुदायिक मन—ठीक उस प्रकार जिस प्रकार हम व्यक्तिगत व्यवहार के पीछे व्यक्तिगत मन मानते है ? प्रश्न कठिन अवश्य है, क्योंकि हम यह भी नहीं बता सकते कि व्यक्तिगत मन है क्या। परन्तु मेकडूगल[1] के अनुसार हम मन की परिभाषा इस प्रकार बता सकते हैं "मानसिक अथवा प्रयोजनात्मक शक्तियों की व्यवस्थित पद्धति" (an organised system of mental or purposive forces); अथवा ड्रैवर[2] के अनुसार मन की परिभाषा इस प्रकार की जा सकती है "मनसम्बन्धी शक्तियों और अंगों की व्यवस्थित और अपेक्षाकृत स्थायी प्रणाली, जो ऐसी

1 *Psychology*, p. 253.

2 *Introduction to the Psychology of Education*, p. 214.

घटनाओं में प्रस्फुटित होती है जैसे स्मृतियाँ, प्रत्यय, स्थायीभाव" (an organised and relatively permanent system of psychical forces and factors, manifesting itself in such phenomena, ideas and sentiments.) इस प्रकार हम प्रश्न का उत्तर समूह, गोष्ठी, समाज के विचार से दे सकते हैं।

स्पष्ट है कि समुदाय में प्रयोजनात्मक शक्तियों की कोई ऐसी व्यवस्थित और अपेक्षाकृत स्थायी प्रणाली, कोई स्मृतियाँ अथवा स्थायीभाव नहीं होते; और हम किसी उपयोगी अर्थ में उसमें मन को नहीं बता सकते। गोष्ठी (club) में प्रयोजनों की व्यवस्थित प्रणाली होती है; उसमें कुछ स्मृतियाँ और स्थायीभाव होते हैं, और मेकडूगल-ड्रैवर के अर्थ में, उसमें मन का आरम्भ होता है। समाज में हमको प्रयोजनात्मक शक्तियों की उच्च व्यवस्थित प्रणाली मिलती है, वहाँ न केवल सामान्य स्मृतियाँ और स्थायीभाव ही प्राप्त होते हैं वरन् सामान्य उद्देश्य और आदर्श भी। यथार्थ समाज को आत्म-चेतना भी प्राप्त हो चुकी है; उसे सिद्धि प्राप्त हो चुकी है और वह जानता है कि, समाज के रूप में, उसका क्या लक्ष्य है। वर्तमान काल में अधिक उन्नत राष्ट्र भाग्य का खिलौना बने रहने से ऊब गये हैं और वे अपने भाग्य का निर्माण स्वयं करने में अधिकाधिक दृढ़ होते जा रहे हैं। इस प्रकार हम राष्ट्र अथवा अन्य किसी आत्म-चेतन समाज के मन की चर्चा कर सकते हैं। हमारे विश्वास के अनुसार व्यक्ति में आत्मा (ego अहं) होती है। उसी प्रकार राष्ट्र में आत्मा होती है अथवा नहीं, यह ऐसा प्रश्न है जिसे हम प्रसन्नतापूर्वक आध्यात्म-शास्त्र (metaphysics) के लिए छोड़ते हैं। कुछ भी हो, परन्तु समूह-मन व्यक्तियों के मनों का न समष्टि (sumtotal) और न उनका माध्य (average) है; दोनों के बीच का

सम्बन्ध इतना सरल नहीं है।

अब हम अपनी पाठशालाओं में समूह-मन के निर्माण करने की आवश्यकता को स्वीकार करते हैं, जब हम पाठशाला की 'टोन' या रीति (tone, or spirit, or ethos) की प्रशंसा करते हैं। शक्तिशाली सामुदायिक वृत्तियाँ स्थापित करने के लिए सामान्य पाठशालाओं की अपेक्षा उन पाठशालाओं की सामुदायिक भावनाएँ निर्माण करना अधिक सरल है जहाँ के छात्र पाठशाला के छात्रावासों में ही रहते हैं। पिछलों का सामुदायिक जीवन सदस्यों की अधिकांश शक्तियों और रुचियों को लीन कर लेता है, जबकि पहले स्वभावतः सामाजिक समूह-मन के निर्माण के लिए कुछ शर्तें रखी गई हैं,[1] और उत्तम होगा कि हम अपनी पाठशालाओं को लघु समुदाय बनाने में उनका ध्यान रखें।

सबसे पहले, "कुछ अंश तक समाज के अस्तित्व की निरन्तरता" होनी चाहिए। यह, जैसा कि हम देख चुके है, केवल भीड़ के साथ नहीं मिलती। निरन्तरता भौतिक (material) हो सकती है अथवा आकृतिक (formal); अर्थात्, या तो वे ही व्यक्ति एक-दूसरे के सहयोग में रहे आयें अथवा सामान्यरूप से मान्य स्थितियों की वही प्रणाली रहनी चाहिए, यद्यपि उनमें विभिन्न व्यक्तियों का अनुक्रम हो। पाठशालाओं और विद्यालयों में भौतिक और आकृतिक दोनों निरन्तरताएँ मिलती हैं; पहली तो इसलिए मिलती है कि पाठशालाओं (schools) में सदस्य वास्तव में कई वर्ष तक साथ-साथ रहते है और अध्यापकगण भी लगभग स्थायी रहते हैं, और पिछली इसलिए कि विद्यालयों या कॉलेजों में संस्थापन का सुव्यवस्थित रूप मिलता है। स्पष्ट है कि उन पाठशालाओं और विद्यालयों को जहाँ के विद्यार्थी छात्रावासों में ही रहते हैं, पहली स्थिति

---

1 By McDougall in *The Group Mind*, pp. 49, 50.

के अनुसार बड़ा लाभ है।

दूसरे, समूह-मन के निर्माण के लिए यह आवश्यक है कि "समूह के सदस्यों की विपुल संख्या के मनों में समूह का कुछ पर्याप्त भाव अवश्य बन गया होगा, उसके स्वभाव, रचना, कार्य और योग्यताओं, तथा व्यक्तियों का समूह के साथ सम्बन्ध का।" अर्थात्, समूह-आत्मचेतना की भावना और समूह-स्थायीभाव का निश्चय पोषण अवश्य होना चाहिए। समूह में केवल शारीरिक उपस्थिति यथेष्ठ नहीं है; सदस्यों के भावों में एकरूपता होना आवश्यक है। असावधान बच्चे की देन कक्षा-रीति के लिए कुछ नहीं है, और पाठशाला अथवा विद्यालय का वह सदस्य जो एक समूह की दृष्टि से विचार नहीं करता है और उसके उद्देश्य और आदर्शों को आगे बढ़ाने का विचार नहीं करता है, समाज के लिए बोझ है। समाज के उद्देश्यों और आदर्शों को उसके सदस्यों के मनों के सामने भली भाँति रख कर और उनसे समूह के काम कराके उनका साहस बढ़ा कर अध्यापक ऐसी अनुकूल परिस्थिति को स्थापित करने में बहुत कुछ कर सकते हैं।

तीसरे, एक समूह की अन्य समान समूहों के साथ अंतंक्रिया होनी चाहिए, जो भिन्न आदर्श और प्रयोजनों से प्रेरित हों और जो भिन्न परम्पराओं तथा रीतियों द्वारा शासित हों।" इस अन्तंक्रिया द्वारा समूह-आत्मचेतना के विकास का पोषण होता है जिस पर हम अभी विचार कर रहे थे, और यह सहयोग, प्रतियोगिता और संघर्ष का भी रूप धारण कर सकता है। यह कथन यथार्थ है कि युद्ध छिड़ जाने के अतिरिक्त अन्य कोई वस्तु राष्ट्र को इतना संयुक्त व नियन्त्रित नहीं कर सकती है। सन् १९१४ में अँग्रेज जाति के विषय में यह बहुत स्पष्ट रूप से देखा गया, और इसमें कोई सन्देह नहीं कि जर्मन नेताओं ने भारी मनोवैज्ञानिक भूल की यदि उन्होंने यह विचार किया कि आयर-

लैण्ड और महिला-मताधिकार का प्रश्न इँग्लेंड को एक निर्बल विरोधी बना देगा। इसी प्रकार पाठशाला के जीवन की दशाएँ तुरन्त ही ऐसी अन्तर्क्रिया से प्रेरणा पाती है। समूह-भावना बहुत ऊँची हो जाती है जब सम्पूर्ण पाठशाला किसी दूसरी पाठशाला से किसी प्रकार की प्रतियोगिता करती है। विद्यालय (कॉलेज) में ऐसा प्रतीत होता है कि एक वर्ष का दूसरे वर्ष को जर्जर कर देना (ragging) एक प्रकार का 'वर्ष-उत्साह' उत्पन्न कर देता है जो जीवन भर रहता है; सुव्यवस्थित 'जर्जर करने' की भावना के पक्ष में यही कहा जाता है कि वह ऐसी भावना को उत्पन्न करता है। प्रतिस्पर्धा और संघर्ष निस्सन्देह आवश्यकता से अधिक आगे बढ़ सकते हैं और ऐसे समूह-भावों को उत्पन्न कर सकते हैं जो अवांछनीय रूप से संकीर्ण अथवा अपवर्जित (exclusive) हों। परन्तु इसमें कोई सन्देह नहीं है कि पाठशालाओं, कक्षाओं, सदनों (houses) और 'वर्षों' में परस्पर मित्रवत् प्रतिस्पर्धाओं को प्रोत्साहन देना चाहिए।

चौथे, "समूह के सदस्यों के मनों में परम्पराओं, रीतियों और आदतों का एक संग्रह होना चाहिए, जो पारस्परिक सम्बन्ध तथा समस्त समूह से सम्बन्ध निर्णीत करें" अर्थात्, समूह-संचय-शक्ति (group-mneme) होनी चाहिए—समूह-स्वभाव (group-habits) और समूह-स्मृति (group-memory)। निस्सन्देह, परम्परा (tradition) सुगमता से आततायी हो सकती है और वांछनीय विकासों को रोक सकती है, परन्तु यह समूह-मन के लिए उतनी ही आवश्यक है जितना व्यक्तिगत मन के लिए स्मृति। प्राचीन स्थापित आधारों को इस दृष्टि से अत्यधिक लाभ है, और उनकी सर्वोत्तम परम्पराओं तथा निरापद व्यक्तिवैशिष्ट्य (idiosyncracies) की भी सुरक्षा करना बुद्धिमानी है। नयी पाठशालाओं को तुरन्त ही परम्पराएँ स्थापित

करनी चाहिए। यह कार्य स्वभावतः समय लेता है, और यह सफलतापूर्वक कई वर्षों के पश्चात् ही पूर्ण हो पाता है जब समाज के पहले सदस्य वापस लौटते हैं। वार्षिक परिषदें और पूर्व छात्रों की गोष्ठियाँ समूह-स्मृतियों को स्थापित करने और सुरक्षित रखने के महत्त्वपूर्ण साधन हैं।

अन्त में, "समूह की व्यवस्था अवश्य होनी चाहिए जिसमें उसके अवयवों के कार्यों का भेदीकरण तथा विशेषीकरण सम्मिलित हो" (organisation of the group, consisting in the differentiation and specialization of the functions of its constituents)। विशेष रूप से, एक वर्ग नीति निर्धारित करने के लिए प्रथक् होना चाहिए—दूसरे शब्दों में नेतृत्व के हेतु। यह अन्तिम शर्त अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है यदि केवल भीड़ (crowd) को सांघिक प्रकार के सामाजिक रूप में बदलना है। हम अभी देख चुके हैं कि समूह-मन सञ्चय-शक्ति (mneme) को अवश्य प्रस्फुटित करता है; साथ ही वह प्रयोजन (horme), प्रेरणा (drive) अथवा अभिप्राय (purpose) को प्रस्फुटित करता है। यह अभिप्राय या चेष्टा समुदाय के केवल एक या दो विशिष्ट सदस्यों में ही सदा उत्पन्न होती है और उन से चल कर समस्त समूह में फैल जाती है। इस से तुरन्त इस बात के कारण का समाधान हो जाता है कि एक सुव्यस्थित समूह, मानव जाति के निम्नतम स्तरों पर न गिर कर, ऐसा व्यवहार क्यों प्रदर्शित करता है जो उससे कहीं उत्तम होता है जो सामान्यतः व्यक्तिगत सदस्य कर सकते हैं। समस्त प्रश्न केवल बुद्धिमूलक और प्रभावपूर्ण नेतृत्व का है। निस्संदेह यह सम्भव है कि जनसमुदाय के नेताओं के उद्देश्य अवांछनीय हो सकते हैं। ऐसी दशा में पूरा समूह ही ऐसे कार्य करेगा जिसके लिए व्यक्तिगत सदस्य बाद में पश्चात्ताप करेंगे; परन्तु जब

नेता ऊँचे आदर्शों का होता है (जैसे महात्मा गांधी) तो वह अपने अनुगामियों को अपने स्तर पर उठा लेता है। इस प्रकार सामाजिक समूह वीरता के उच्च शिखर पर पहुँच सकता है और दुष्टता के गर्त में भी। यदि समूह का नेतृत्व उत्तम है तो सामुदायिक मत व्यक्तिगत मत से श्रेष्ठ हो सकता है, और इस दशा में समस्त तात्कालिक उद्देश्य और स्वार्थ से ऊपर नेता के प्रति श्रद्धा स्थान लेती है। (भारत का गत राष्ट्रीय आंदोलन इसका उदाहरण है।) सामुदायिक जीवन में नेतृत्व सब से अधिक महत्त्वपूर्ण वस्तु है। यदि किसी राष्ट्र के नेताओं में दूरदर्शिता (vision) तथा राजनीतिज्ञता (statesmanship) की कमी है तो यह चिन्ता का विषय है। हम एक क़दम और आगे बढ़ कर कह सकते हैं कि केवल प्रेरणात्मक नेतृत्व द्वारा ही अन्तर्राष्ट्रीय बन्धुत्व का आदर्श यथार्थ हो सकता है।

यह अन्तिम दशा पाठशाला में कहाँ तक लागू है ? यदि हम अपने छात्रों को ऐसी दशाओं में देखें जहाँ स्वतन्त्रता तथा स्वेच्छा के अवसर प्राप्त हैं, जैसा कि क्रीड़ा के मैदान पर, तो हम सामुदायिक मन के स्वभाव तथा झुकाव के विषय में बहुत कुछ जान सकते हैं। विशेष रूप से, हम स्वाभाविक नेताओं के आविर्भाव (appearance) को देख सकते हैं जो सदा उपस्थित होंगे यदि समूह केवल भम्भड़ ही नहीं है। यह प्रायः कहा जाता है कि नेता सर्वदा वे नहीं होते जो बौद्धिक कार्यों में अग्रगामी हैं, वरन् अधिकतर वे होते हैं जो शारीरिक बल, खेलों में प्रवीणता और यहाँ तक कि शरारत में नवीनता दिखाते हैं। परन्तु फिर भी, वास्तविक नेताओं की खोज कोई सरल काम नहीं है। प्रायः यह भी देखा गया है कि प्रकट नेता—मगन, हँसोड़, बलिष्ट व्यक्ति—एक शान्त पुरुष के हाथ की कठपुतली होता है जो शक्ति का अधिकारी बनना चाहता है चाहे देखने में उसका वह रूप स्पष्ट

हो अथवा नहीं। भागीदारों के ऐसे उदाहरण हम तुरन्त अपने छात्रों में पा सकते हैं।

अब हम देख चुके कि समष्टि के रूप में एक सामाजिक समुदाय का प्रयोजन अपने स्वाभाविक नेताओं के प्रयोजन की ओर झुक जाता है। परन्तु यह तथ्य पाठशाला में बहुधा कठिनाई उत्पन्न करता है, क्योंकि वहाँ मुख्य लक्ष्य जिसका अनुकरण करना है वह अध्यापक का लक्ष्य है, जो विस्तृत समाज का मान्य प्रतिनिधि है। किन्तु निस्सन्देह कक्षा और पाठशाला अपने निजी नेताओं के अन्तर्गत ही सर्वोत्तम कार्य करते और खेलते हैं। इस प्रकार अध्यापक के प्रयोजन और समूह-नेताओं के प्रयोजन में संघर्ष हो सकता है। क्या अध्यापक अकेला ही पाठशाला-समूह के स्वाभाविक नेता के रूप में आ कर, इस कठिनाई का निराकरण करने की आशा कर सकता है? सामान्य रूप से यह कठिन है, यदि यह केवल उसकी आयु, अनुभव और स्थिति के अन्तर के कारण ही हो। कुछ अध्यापक ऐसे ही ढङ्ग से समस्या को हल करने का प्रयत्न करते हैं, वे समूह के वास्तविक सदस्य बनते हैं, अपने छात्रों के साथ खेल खेलते हैं, और प्रत्येक सम्भव विधि से उनके साथ सहयोग करते हैं, और इस प्रकार स्थायी तरुणावस्था का रहस्य खोजते हैं तथा कभी-कभी प्राप्त भी कर लेते हैं। निस्सन्देह एक नवयुवक और लोकप्रिय अध्यापक ऐसा कर सकता है, परन्तु प्रति वर्ष उसके तथा उसके छात्रों के बीच की खाड़ी अधिकाधिक विस्तृत होती जायगी और यह रीति अधिकाधिक कठिन होती जायगी। ऐसे अध्यापक को उसके समस्त छात्र अपना नेता कभी नहीं स्वीकार करते। उसके लिए कठिनाई के हल की अधिक आशाजनक रीति यह है कि वह नेताओं का नेता बने, उनमें अपने लक्ष्य को फूँक दे, और उनके स्वाभाविक मान और अधिकार को अपनी ओर आकर्षित कर ले। अतएव उसे ऐसे नेताओं को उन्हें

खोज करने पर, तुरन्त वास्तविक उत्तरदायित्व दे देना चाहिए, यद्यपि वह इससे पूर्व वे अपनी स्थिति को उसके विरुद्ध प्रयोग करते हों। स्व-शासन की समस्त वास्तविक योजनाएँ इस सम्बन्ध में सहायक हैं। स्वाभाविक नेता नायक (prefect प्रिफेक्ट) चुने जायँगे, और यदि अध्यापक उनके साथ सावधानी का बर्ताव करेगा तो वे नियम और व्यवस्था की ओर होंगे। वे कभी विश्वासघात नहीं करते, और कुशल (tactful) अध्यापक के सदा अनुयायी रहते हैं जिसका लक्ष्य पाठशाला-समूह का ही मुख्य लक्ष्य हो जाता है।

हम देख चुके हैं कि ये महत्त्वपूर्ण विचार हम को शिक्षा में शुद्ध व्यक्तिगत विधियों से कितनी दूर ले गये हैं। *बौद्धिक विषयों में शिक्षा सर्वोत्तम रूप से व्यक्तिगत दी जा सकती है, परन्तु विस्तृत अर्थ में शिक्षा को सामुदायिक जीवन के उत्तेजक की आवश्यकता है।* छोटी कक्षाओं के लिए और व्यक्तिगत विधियों को मानने के लिए युद्ध करने के सम्बन्ध में अध्यापकों के मन में मुख्यतः शिक्षा का बौद्धिक पहलू था, और बहुत से इस बात को नहीं समझ पाये हैं कि कुछ प्रकार के पाठों के लिए बड़ी कक्षा रुकावट नहीं है वरन् निश्चित लाभ है। डा० एफ़० एच० हेवार्ड (Dr. F. H. Hayward) ने, जिन्होंने प्रथम महायुद्ध के पश्चात् शिक्षा में भावना-जीवन (feeling-life) पर बहुत बल दिया है, बताया है कि स्फूर्तिमूलक विषयों के सफल पाठों के लिए वास्तव में बड़ी कक्षा की ही आवश्यकता है। कारण मालूम करने में हम को अब अधिक कठिनाई नहीं होनी चाहिए; बड़ी संख्याएँ अपने साथ ओजस्वी सामुदायिक मन की सम्भावना लाती हैं, जो सहानुभूति, निर्देश और अनुकरण के कारण, अध्यापक के मन के साथ एक हो जाता है और उसके भावों तथा उत्साहों को ग्रहण करने लगता है।

अवश्य ही, ऐसी धारणा में कोई आश्चर्य नहीं है। उपदेशक तथा वक्ता थोड़े श्रोतागणों की अपेक्षा बड़ी संख्या को पसन्द करते हैं; और इसके लिए उनका कारण केवल यही नहीं है कि जब उन्हें कुछ कहना होता है, तो उसे सुनने के लिए जितनी अधिक संख्या में श्रोता हो सकें उतने ही अधिक वे चाहते हैं। वे रिक्त स्थानों के प्रति प्रभावपूर्ण ढंग से नहीं बोल सकते; संख्या निश्चय ही उत्तेजक का काम देती है। वक्ता और उसके श्रोता दोनों की एक-दूसरे पर क्रिया और प्रतिक्रिया होती है। श्रोतागण की देन वास्तव में मूल्यवान् है यद्यपि वे चुपचाप बैठे रहते हैं, और परिणाममूलक भावना-का-आनन्द सामूहिक मन की घटना है।

सर जॉन आदम्स (Sir John Adams) ने बताया है कि शिक्षा में संख्याओं का सिद्धान्त नया नहीं है। ग्लासगो के डेविड स्टो (David Stow) ने उन्नीसवीं शताब्दी के आरम्भ में विशेष वीथिका कक्षा-कक्ष (gallery class-rooms) बनवाये थे, जिनमें वह प्रेरणामूलक 'वीथिका' पाठ पढ़ाता था। यह ज्ञात किया गया कि इस प्रकार के सफल पाठ पढ़ाने के लिए प्रत्येक अध्यापक में यथेष्ठ व्यक्तित्व न था और जो ऐसा करते थे उनको अपनी शक्ति के प्रयोग में मितव्ययिता करनी पड़ती थी जिससे उनकी ज्वाला स्थायी रूप से न बुझ जाय। पुराने प्रशिक्षण विद्यालयों (training colleges) और अभ्यसन पाठशालाओं (practising schools) में 'ग्लासगो वीथिका' उनकी विशेषताएँ थीं। वैस्टमिनिस्टर कॉलेज से वे सब हटा दी गयीं; कदाचित् उत्तम यह था कि उनमें एक सुरक्षित रखी जाती। कहा जाता है कि अभ्यसन पाठशाला के प्रधान-अध्यापक श्री सेम्युल ब्रूक (Mr. Samuel Brook) ईसाइयों की धर्म पुस्तक इंजील के प्रभावपूर्ण पाठ एक-साथ आधी पाठशाला को

पढ़ाया करते थे।

डा० हेवर्ड (Dr Hayward) का कथन है कि अध्यापन कला के ये पुराने अध्यापक, उत्साह बढ़ाने के हेतु अथवा भावना को उच्च करने के लिए अधिक संख्या में छात्रों का प्रयोग करके सर्वथा उचित कार्य करते थे। साहित्य, संगीत तथा कला में स्वानुभूति पाठ (appreciation lesson) अत्यन्त सफल होता है जब कि अध्यापक—एक संभूत नेता (born leader) —अपने उत्साह को सफलतापूर्वक एक बड़ी कक्षा के सामूहिक मन में उँडेल देता है। एक दूसरा अवसर समस्त पाठशाला की प्रातःसभा में प्राप्त होता है, जब कि प्रधान-अध्यापक का मुख्य उद्देश्य अपने शिष्यों को दिन भर के लिए उच्च प्रयत्न के लिए प्रेरित करना है। पाठशाला में ऐसे अवसरों का अत्यधिक महत्त्व होता है क्योंकि उस समय सामुदायिक भावना उच्च होती है। पारितोषिक-वितरण, संस्थापकों-के-दिवस, नायकों (prefects) के चुनाव, खेलों की सभाएँ और सभी प्रकार के आयोजनों और उत्सवों को पाठशाला में सांघिक जीवन को उत्तेजित तथा बलवान बनाने के लिए उत्तम अवसर समझना चाहिए, और इस दृष्टि के उद्देश्य से ही समस्त योजना बनानी चाहिए।

शिक्षा सिद्धान्त सदा एक ओर व्यक्तिगत उद्देश्य और दूसरी ओर सामाजिक उद्देश्य के बीच में प्रदोलन करता रहा है, और उसकी स्थायी समस्या है व्यक्ति और समाज, जिसका वह सदस्य है, के प्रतिस्पर्धी अधिकारों के बीच में सुन्दर संतुलन उत्पन्न करना। परन्तु यह बिल्कुल सत्य है कि आजकल का मनोविज्ञान व्यक्तिगत भेदों के यथार्थ अध्ययन में अपनी उन्नति का यथोचित मार्ग देख रहा है, और, इसके फलस्वरूप, ख्यातिनामा शिक्षक अधिकाधिक संख्या में व्यक्तिगत छात्र पर केन्द्रित करते है। इसमे भी कोई सन्देह नही है कि अपने संरक्षण में प्रत्येक छात्र

को सहायता देने से ही वह अपनी सर्वोच्च शक्यताओं को प्राप्त कर सकता है, और इसी से हम समस्त समाज की उन्नति करने की आशा कर सकते हैं। यह भी याद रखना उतना ही महत्त्व-पूर्ण है कि मानवी स्वभाव में अनेक बातें सामान्य हैं जो सामाजिक जीवन में अत्यन्त स्पष्ट रूप से प्रस्फुटित होती हैं। अतएव, शिक्षक उन मनोवैज्ञानिकों के ऋणी हैं जिन्होंने सामाजिक जीवन को पोषित करने और उचित बनाने की आवश्यक दशाएँ बताईं। हम अपने मार्ग से बहुत भटके रहेंगे यदि हम केवल व्यक्ति के मनोविज्ञान में अपना पूर्ण विश्वास रखें और शिक्षा में शुद्ध व्यक्तिवाद का लक्ष्य रखें। मोटे रूप में यह कहा जा सकता है कि बुद्धिमूलक विषयों में हमको व्यक्ति की ओर चलना चाहिए, जबकि नैतिक क्षेत्र में हमारा सर्वशक्तिशाली मूलमन्त्र अपनी पाठशालाओं का सामूहिक जीवन है। पाठशालाओं को समुदायों में परिवर्तन करने से ही, जो आदर्श के निकटतम हों, हम देश-भक्त नागरिकों का निर्माण कर सकते हैं और उन्हीं के द्वारा देश पुण्यभूमि बन सकता है।

विशेष अध्ययन के लिए उपयोगी पुस्तकें

McDougall : *An Introduction to Social Psychology,* chapters iv and xv; *The Group Mind;* Psychology, chapter viii.

Nunn : *Education : its Data aud first Principles* chapters, i, x and xv.

Le bon : *The Crowd.*

Trotter : *Instincts of the Herd in Peace and War.*

Adams : *Modern Developments in Educational Practice,* chapters v and vi.

Drever : *Introduction to the Psychology of Education,* chapter xi.

मनुष्य के व्यवहार और उसके प्रेरकों द्वारा उपयोजित 'मूलप्रवृत्ति' शब्द पर टिप्पणी।

[Note on the word 'Instinct' as Applied to Human Behaviour and its motives]

मनोविज्ञान में मूलप्रवृत्ति (*instinct*) शब्द डा० विलियम मेगडूगल (Dr. William McDougall) के नाम के साथ सम्बद्ध है जिन्होंने अनवरत यह बताया है कि मनुष्य का व्यवहार उन मूलप्रवृत्तियों पर आधारित है जो उसमें और उच्च पशुओं में समान है। परन्तु इन शब्द पर एक अनावश्यक विवाद उठ खड़ा हुआ है और बाद की लिखी हुई एक पुस्तक[1] में अपने सिद्धान्त को वैकल्पिक शब्दों में मेकडूगल ने फिर कहना उचित समझा है। कठिनाई यह है कि सामान्य बोलचाल में 'मूलप्रवृत्ति' का निर्देशन एक विशिष्ट, अपरिवर्तनीय जन्मजात व्यवहार-की-विधि से किया जाता है; और आलोचकों का कथन है कि निम्न पशुओं में व्यवहार का यह वर्णन उपयुक्त हो सकता है, परन्तु मनुष्य के व्यवहार का कदापि नहीं हो सकता।

सामाजिक मनोविज्ञान की प्रस्तावना (*An Introduction to Social Psychology*) के सुप्रसिद्ध लेखक का यह उद्देश्य कदापि न था कि मनुष्य के व्यवहार को कुछ अपरिवर्तनीय नमूनों का संमिश्रण माना जाय जो जन्मजात हैं। वरन् उसका आशय था कि मनुष्य की क्रियाएँ प्रयोजनात्मक है, अथवा नन (Nunn) के शब्दों में प्रेरक (hormic) हैं। अपनी सबसे पिछली व्याख्या में उसने पुनः कथन किया है कि मनुष्य को स्वभावतः कतिपय प्राकृतिक लक्ष्यों को प्राप्त करने का प्रयत्न करना चाहिए, परन्तु इस तथ्य को वर्णन करने के लिए अंग्रेज़ी शब्द instinct (मूलप्रवृत्ति) के स्थान पर उसने (propen-

---

1 *The Energies of Men.*

sity) (सहज प्रवृत्ति) और tendency (प्रवृत्ति) नामक पुराने अंग्रेजी शब्दों का प्रयोग किया है। एक tendency (प्रवृत्ति) किसी कार्य को करने के लिए अनुभूत प्रेरणा है, और propensity (सहज प्रवृत्ति) उस प्रेरणा का जन्मजात आधार है। इस प्रकार एक प्रवृत्ति "एक लक्ष्य की ओर निर्देशित क्रियाशील चेतना-शक्ति है" और सहज प्रवृत्ति "नैसर्गिक रचना का कोई भाग है जिसकी प्रकृति और कार्य अवसर पर क्रियाशील प्रवृत्ति उत्पन्न करना" है। इस प्रयोग के अनुसार एक प्रवृत्ति (tendency) अनुभव की वस्तु है और सहज प्रवृत्ति (propensity) मानसिक रचना का तथ्य है जो उस अनुभव को निश्चित करता है; प्रवृत्ति कार्यरत सहज प्रवृत्ति है और सहज प्रवृत्ति अप्रकट प्रवृत्ति है। प्रवृत्ति देखी जाती है और अनुरूप सहज प्रवृत्ति की उपस्थिति के अस्तित्व का निर्देशन किया जाता है।

तब हम को यह विश्वास करना है कि मनुष्य की रचना इस प्रकार की है कि उसे कुछ लक्ष्यों का अनुसरण अवश्य करना चाहिए,[1] जिनकी प्राप्ति उनकी आवश्यकताओं को सन्तुष्ट करती है; और इस क्रियाशीलता की प्रेरक शक्ति (motive force) जन्मजात सहज प्रवृत्तियों में हैं;[1] पशु तथा मनुष्य दोनों को इन लक्ष्यों पर पहुँचने के साधन दिये गये हैं। उन्हें विभिन्न योग्यताएँ दी गई हैं जिनको हम दो मुख्य वर्गों में विभाजित कर सकते हैं—(क) कुछ बातों के ज्ञात करने की योग्यताएँ, अथवा प्रात्यक्षिक योग्यताएँ (perceptual abilities), और (ख) कुछ कार्यों को करने की योग्यताएँ, अथवा कारक योग्यताएँ (motor abilities)। योग्यताएँ सहज प्रवृत्तियों की सेवा में है और यह समझ लेना अति आ-

१ स्वाभाविक लक्ष्य इस पुस्तक के पृष्ठ ७७—८१ पर निर्देशित किये गये है, जिनको हम प्रेरणा (horme) का विशेषीकरण अथवा भेदीकरण कह सकते हैं।

श्यक है कि व्यवहार के प्रेरक पिछले हैं न कि पहले। निम्न पशुओं में प्रत्येक सहज-प्रवृत्ति विशेष रूप से प्रात्यक्षिक और और कारक योग्यताओं से घनिष्ठतापूर्वक और व्यवर्तक रूप से संलग्न हैं, जिसका परिणाम होता है कुछ वातावरणात्मक दशाओं में व्यवहार का अपरिवर्त्तनीय रूप। ऐसे व्यवहार को सभी लोग मूलप्रवृत्त्यात्मक' (instinictive) कहते हैं। परन्तु मनुष्य में ऐसे विशेष सम्बन्धों का बहुत ही थोड़ा सा आभास मिलता है, प्रक्रिया के किसी ऐसे प्रक्रम को मालूम करना कठिन है जो एक सहज-प्रवृत्ति (propensity) का विशेष व्यंजन हो। अपनी सहज-प्रवृत्तियों के लक्ष्यों को प्राप्त करने में मनुष्य अपनी योग्यताओं में से किसी एक अथवा सब से कार्य लेने में स्वतन्त्र है; वे सहज-प्रवृत्तियाँ इन लक्ष्यों के स्वभाव द्वारा ही पहचानी जा सकती हैं।

यदि मूलप्रवृत्त्यात्मक व्यवहार (instinctive behaviour) से हमारा आशय कुछ स्वाभाविक लक्ष्यों को प्राप्त करना है, तो मनुष्य के व्यवहार का वर्णन मूलप्रवृत्ति द्वारा किया जा सकता है। परन्तु यदि, इसके विपरीत, मूलप्रवृत्त्यात्मक व्यवहार से हमारा आशय कुछ अपरिवर्तित, पूर्व निश्चित प्रक्रियाओं से है, तो मनुष्य का व्यवहार इस प्रकार वर्णित नहीं किया जा सकता। चूँकि 'मूल-प्रवृत्ति' (instinct) और मूलप्रवृत्त्यात्मक (instinctive) शब्दों का अर्थ पिछला मालूम होता है जो उसके साथ घनिष्ठ रूप से लगा हुआ है, तो हम को उसका प्रयोग न करना चाहिए और सिद्धान्त को सहज प्रवृत्तियों (propensities), प्रवृत्तियों (tendencies) और योग्यताओं (abilities) की दृष्टि से वर्णित करना चाहिए। परन्तु वर्तमान लेखक का यह विश्वास है कि मानवी प्रकृति का यह मूल तत्त्व है कि वह मनुष्य जाति के अन्य सब सदस्यों के साथ लक्ष्यों को प्राप्त करने का प्रयत्न करती है।

अनुक्रमणिका
(INDEX)

मूल पुस्तक से अतिरिक्त अनुक्रमणिका के कुछ शब्द